आधुनिक आनुवंशिकी

लोकोपयोगी विज्ञान

आधुनिक आनुवंशिकी

जगजीत सिंह

अनुवाद
विष्णु गोपाल वैद्य

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-3496-4

पहला संस्करण : 2001 (*शक 1922*)
मूल © जगजीत सिंह
हिंदी अनुवाद © नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया
Genetics Today (*Hindi*)
रु. **50.00**
निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5, ग्रीन पार्क,
नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

विषय-सूची

भूमिका

आधुनिक आनुवंशिकी अपेक्षाकृत एक नया विषय है। इसका कारण यह है कि हम लोग पौधों के विकास अथवा पशु-प्रजनन जैसे जीवनोपयोगी उपक्रमों पर नियंत्रण पाने की बजाय ब्रह्मांड के जड़ घटकों को समझने तथा उन्हें अपने लिए अधिक उपयोगी बनाने की कला में अधिक कुशल रहे हैं। यह स्वाभाविक भी है। भौतिकी तथा रसायनशास्त्र अचेतन पदार्थों के अध्ययन से संबंधित हैं। सरल तथा एकसार होने की वजह से इन विषयों को समझना भी आसान है। इन विषयों का विकास तथा प्रगति हुए बिना जीवन-प्रक्रिया को सूक्ष्म रूप से समझना संभव नहीं था। अतः बीसवीं शताब्दी के कुछ प्रारंभिक दशकों में भौतिकी तथा रसायनशास्त्र की वास्तविक प्रगति हुई और इनका अत्यंत परिष्कृत रूप विकसित हुआ। इसके बाद ही हम लोग आनुवंशिकता की अत्यधिक जटिल क्रियाविधि, प्रजनन की जटिलता तथा शरीर की कोशिकाओं और रक्त, लिम्फ आदि में होने वाली क्रियाओं के जटिल क्रम को समझाने का प्रयास प्रारंभ कर सके।

इस शताब्दी के प्रारंभ तक जीवोत्पत्ति की घटना समझने के लिए हमें ईश्वर जैसी किसी दिव्य विभूति, भूत-प्रेत, प्रयोजन, कल्पित प्राणतत्व, संघर्ष, जीवनशक्ति अथवा ऐसे ही अन्य गूढ़ तत्वों का सहारा लेना पड़ता था। अब से करीब सत्तर वर्ष पूर्व तक अकेली कोशिका की आंतरिक रचना अथवा व्यवस्था इतनी जटिल प्रतीत होती थी कि सर्वाधिक निम्न स्तर के जीव के बारे में कौन कहे, स्थिति यह थी कि अंतर्कोशिकीय घटनाओं का विश्लेषण किया जाना असंभव था। इसके बाद कार्बन, फास्फोरस, नाइट्रोजन जैसे तत्वों के रेडियो सक्रिय परंतु स्थायी समस्थानिकों की खोज की गयी। इन्हें प्रदर्शक तत्व[1] कहते हैं। इनकी सहायता से कोशिकाओं में प्रवेश करनेवाले विभिन्न रासायनिक यौगिकों को चिह्नित किया जा सकता है और तत्पश्चात चयापचयी क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले चयापचयजों[2] में उन्हें पहचाना जा सकता है। जीवशास्त्रियों को इससे एक सशक्त जैविक साधन प्राप्त हुआ है। तत्पश्चात, बिजली से चलने वाले तथा गुरुत्वाकर्षण की तुलना में एक लाख गुना अधिक बल उत्पन्न करने वाले परा-अपकेंद्रियों[3] की खोज, विद्युत-बल द्वारा अणुओं को एक-दूसरे से पृथक करने वाली

---

1. प्रदर्शक तत्व – tracer element
2. चयापचयज – metabolic product
3. परा-अपकेंद्रिय – ultracentrifuge

अभिनव वैद्युत कण-संचलन[1] पद्धति, प्रकाशीय सूक्ष्मदर्शी से अधिक संवेदनशील तकनीकों जैसे – एक्स-किरण विवर्तन[2] और इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी[3] की खोज हुई। कोशिकाओं के मूल घटकों की विस्तृत संरचना ज्ञात करने हेतु वैज्ञानिकों ने इन साधनों का सफलतापूर्वक उपयोग किया। इन घटकों में परमाणु के अकार्बनिक यौगिक आयन, जल के अणु, एमिनो अम्ल, वसा, शर्करा, प्रोटीन, न्यूक्लिक अम्ल आदि शामिल हैं। इन सबके फलस्वरूप विज्ञान की दो नयी विधाओं का जन्म हुआ। ये हैं — जीव-रसायन तथा जीव-भौतिकी।

जीव-रसायन तथा जीव-भौतिकी के अभ्युदय से हम लोग आनुवंशिकता जैसी प्रकृति की महान सामर्थ्य पर उसी प्रकार अधिकाधिक नियंत्रण प्राप्त करना प्रारंभ करने लगे हैं तथा उसे उचित दिशा प्रदान कर सकने में समर्थ होने लगे हैं जैसा कि हम प्रकृति के भौतिक बलों के साथ पहले ही प्राप्त कर चुके हैं। जीवन की इन क्षमताओं को बेहतर रूप से नियंत्रित करने की हमारी प्रवृत्ति इन्सुलिन, पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन, कर्टिज़ोन तथा अन्य रोग निवारक रसायनों की खोज से प्रकट हो चुकी है। ये सभी पदार्थ पूरी तरह कृत्रिम रूप से संश्लेषित पदार्थ नहीं हैं। परंतु प्रारंभ में ये जीवित प्राणियों द्वारा ही तैयार किये गये हैं। जैसे-जैसे विषाणु (वाइरस), जीवाणु, पौधे, प्राणी तथा मनुष्य की आनुवंशिकता का रहस्य खुलता जाता है, हम लोगों के लिए आवश्यक खाद्यान्नों की पैदावार तथा पालतू पशुओं के प्रजनन की पद्धतियों में अनिवार्य रूप से पर्याप्त सुधार होता जाता है। बाइबिल में मनुष्य को एक शाप दिया गया है — "तू जो रोटी खायेगा वह तेरे पसीने में भीगी हुई होगी।" इस शाप का प्रभाव कम करने अथवा इसे पूर्णतः खत्म कर देने वाली विज्ञान की कोई शाखा यदि विद्यमान है तो वह है आधुनिक आनुवंशिकी। यह वही विज्ञान है जो इस बात का ज्ञान कराता है कि प्राणी तथा पौधे आनुवंशिक उत्कृष्टता किस तरह प्राप्त कर सकते हैं और इस उत्कृष्टता का दोहन मानव के लिए किस प्रकार लाभदायक होगा।

चार्ल्स डार्विन ने सौ वर्ष पूर्व अपने ग्रंथ 'जानवर तथा पौधों पर पालतू बनाने का प्रभाव' (एनिमल्स एंड प्लांट्स अंडर डोमेस्टीकेशन) में लिखा कि यदि कोई चीज बार-बार नकदी दाम देकर खरीदी जाती है तो वह उसकी उत्कृष्टता का प्रमाण माना जाना चाहिए। डार्विन के समय से लेकर आज तक आनुवंशिकी में यह भलीभांति प्रमाणित किया जा चुका है कि वंशागत रूप से प्राप्त की गयी उत्कृष्टता ज्ञात की जा सकी है। इसका संप्रेषण किया जा सकता है। इसका लाभ पालतू पशुओं के प्रजनन तथा पौधों की पैदावार बढ़ाने में उठाया जा सकता है। इन्हें ही हम लोग व्यावहारिक शब्दों में कल्टिजेन कहते हैं। संकर मक्का, मैक्सिकी गेहूं, आई.आर.-20 चावल आदि इसके अच्छे उदाहरण हैं। गोपशुओं और भेड़ों की सुप्रसिद्ध नस्लों जैसे – सींगरहित हेरफोर्ड, ब्रैंगस, मेरिनो, रैम्बाउलेट, कारिओडेल आदि भी कल्टिजेनों के उदाहरण हैं। यह सही है कि कल्टिजेनों की आनुवंशिकी तथा उनका उत्पादन दो भिन्न विषय

---

3. वैद्युत कण-संचलन – electrophoresis
4. एक्स-किरण विवर्तन – X-ray diffraction
5. इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी – electron microscope

हैं। उनका उत्पादन एक बहुआयामी गतिविधि है जिसमें पोषण विज्ञान[1], पादप शरीर क्रिया विज्ञान[2], रोग विज्ञान[3], अंतःस्रावी विज्ञान[4] मृदा रसायन, जल प्रबंध, कीटनाशक, उर्वरक आदि शामिल हैं।

परंतु आनुवंशिकी इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। अब प्रजनकों तथा कृषकों के पास यही एक प्रमुख प्रकाशस्रोत है जो उन्हें अंधेरे में टटोलने से बचाता है। हालांकि प्रारंभ में अनेक सफल प्रजनक हुए हैं जिन्हें आनुवंशिकी की मामूली या कुछ भी जानकारी नहीं थी। परंतु आज के व्यावहारिक प्रजनक मेंडेल तथा मॉर्गन जैसे आनुवंशिकीविदों के कार्य को इसलिए अनदेखा नहीं कर सकते, क्योंकि ये लोग बगीचे में मटर के पौधे लगाकर अथवा बोतलों में मक्खियों का प्रजनन कर इन निस्सार काल्पनिक कार्यों में समय खर्च करते थे। परंतु इन्हीं निरर्थक दिखाई देनेवाले कामों के कारण आनुवंशिकता के मौलिक नियम बन सके। इस काम के आधार पर आधुनिक प्रजनकों ने कुछ परिष्कृत तकनीकों का विकास किया है जिनका उपयोग अधिकाधिक संख्या में आज के प्रजनक कर रहे हैं। इस विषय पर अगले अध्यायों में विचार किया जायेगा।

यह सच है कि इस प्रगति के बावजूद फसलों तथा प्राणियों की बेहतर नस्लें तैयार करने का कार्य आज भी बहुत धीमी प्रक्रिया है जिसके लिए कई वर्षों तक धीरज से काम करने की आवश्यकता होती है। परंतु आनुवंशिकी के सिद्धांतों की सहायता से कृषि उत्पादन तथा पशु-प्रजनन के लिए आने वाले विभिन्न प्रस्तावों में यथार्थ कौन से हैं तथा काल्पनिक कौन से, इसे जानना संभव होता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञान-कथाओं तथा 'फ्यूचर शॉक' की आज की दुनिया में हमें जीवन के मौलिक तथ्यों की पर्याप्त जानकारी होना आवश्यक है ताकि हम जिस 'जैव इंजीनियरी' के नाम से फंतासियों को लोकप्रिय बनाने का काम कर रहे हैं उससे हमें किसी प्रकार का धोखा न हो जाये। कभी यह कुछ कठिन तथा दुःसाध्य समस्या के समाधान हेतु एक छोटे उपाय के रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत होता है जिसमें दुनिया की बढ़ती हुई आबादो का पेट भरने के लिए पर्याप्त खाद्यान्न उपजाने की योजना रहती है तो कभी मानव क्लोनों की विनम्र तथा आज्ञाकारी जाति का निर्माण करके दुनिया को वर्तमान समय के तनाव से मुक्ति दिलाने की योजना होती है। यह कल्पना एल्डस हक्सले की 'द ब्रेव न्यू वर्ल्ड' नामक किताब से ज्यों की त्यों ली गयी प्रतीत होती है।

इसी प्रकार आधुनिक आनुवंशिकी के कारण हम लोग अब यह जानने लगे हैं कि बाहरी संक्रमण तथा कुपोषण के कारण पैदा होनेवाली बीमारियों के अतिरिक्त कुछ रोग ऐसे भी होते हैं जो आनुवंशिक कारणों से उत्पन्न होते हैं। इनमें से हीमोफिलिया जैसे कुछ रोग ऐसे हैं जिनसे पीड़ित व्यक्ति प्रजनन आयु प्राप्त करने से काफी पूर्व ही मर जाया करते थे। परंतु अब इस रोग

---

1. पोषण विज्ञान – science of nutrition
2. पादप शरीर क्रिया विज्ञान – plant physiology
3. रोग विज्ञान – pathology
4. अंतः स्रावी विज्ञान – endocrinology

का ऐसा इलाज खोज लिया गया है जिससे रोग का प्रभाव या तो कुछ कम हो जाता है अथवा रोग बिल्कुल ठीक हो जाता है। वैसे यह इलाज काफी महंगा है। अन्य आनुवंशिक रोगों के लिए अभी तक कोई इलाज नहीं खोजा जा सका है। परंतु उपचार से रोगी को अधिक समय तक जिंदा रखा जाना संभव है। परंतु इससे रोगी को अधिक समय तक कष्ट भोगना पड़ता है। यदि आनुवंशिक रोग से पीड़ित व्यक्ति उपचार से रोगमुक्त होकर प्रजनन करने लायक हो सके तो वह अपनी कुछ या सभी संतानों को अपनी आनुवंशिक कमी विरासत में देगा। इसलिए इस समय का एक विरोधाभास यह है कि औषधियों से उपचार जितना सफल होगा रोग पीड़ितों की संख्या में उतनी ही वृद्धि होगी। इसलिए आनुवंशिक रोगों का इलाज करनेवाले चिकित्सक एक मानसिक दुविधा में पड़ जाते हैं। इस पर आगे चल कर विचार किया जायेगा।

यह पुस्तक आधुनिक आनुवंशिकी के कुछ महान विचारों को प्रस्तुत करने का एक प्रयास है ताकि बुद्धिमान पाठक कल्टिजेनों के निर्माण में तथा आनुवंशिक रोगों के उपचार में इनकी सामर्थ्य तथा मर्यादाओं को पहचान सकें। पुस्तक में आनुवंशिकी की कुछ अत्यधिक मौलिक कल्पनाओं तथा सिद्धांतों को समझाने की कोशिश की गयी है। आनुवंशिकता के ये सिद्धांत सभी को जानने चाहिए, क्योंकि दुनिया की दो तिहाई जनसंख्या कुपोषित है तथा एक तिहाई प्रत्यक्ष रूप से बीमार है। इसलिए आनुवंशिकी का स्थान जैवविज्ञान में सर्वोच्च होगा।

नयी दिल्ली — जगजीत सिंह

1

आनुवंशिकता क्या है ?

लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व जड़ अथवा अचेतन से जीवन का सृजन हुआ था। परंतु यह घटना आज भी एक रहस्य है। तथापि यह एक निर्विवाद सत्य है कि आज इस धरती पर जो जीव-जंतु विद्यमान हैं,उनकी अपेक्षा प्रथम पीढ़ी के जीव रूप तथा आकार की दृष्टि से सर्वथा अविकसित थे। कैम्ब्रियन-पूर्व कल्प के पूर्वजों से आज के अगणित जीव जिस प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न हुए हैं उसे क्रमिक जैव विकास अथवा जैविक उत्क्रांति[1] कहा जाता है। सर्वप्रथम डार्विन ने इस घटना को स्पष्ट रूप से तथा प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया। अपनी पुस्तक "आन द ओरिजिन आफ स्पीशिस बाई मीन्स आफ नेचुरल सिलेक्शन" में डार्विन ने कहा है कि इस धरती पर विद्यमान प्राणियों तथा पेड़-पौधों का आज का रूप उन्हें निर्माण करते समय प्रयुक्त किसी विशेष विधि या प्रक्रिया की देन नहीं है बल्कि ये सभी प्राचीन समय के सर्वथा भिन्न दिखाई



चित्र 1 : चार्ल्स डार्विन

1. क्रमिक जैव विकास/ जैविक उत्क्रांति – organic evolution

देनेवाले जीवों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी क्रमिक विकास करते हुए आज की अवस्था में पहुंचे हैं। प्राचीन जीवों में से कुछ आज भी जीवाश्मों के रूप में मौजूद हैं। क्रमिक जैव विकास या जैविक उत्क्रांति को प्रमाणित करने के लिए डार्विन ने जीवविज्ञान के सभी क्षेत्रों से प्रमाण तथा आंकड़े एकत्रित किये। परंतु इन आंकड़ों का विस्तार से वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करने के बावजूद डार्विन का सिद्धांत एक नकारात्मक सिद्धांत ही बना रहा। नैसर्गिक वरण के कारण प्राणियों की कुछ प्रजातियों का अस्तित्व मिट जाने की घटना तथा योग्यतम की उत्तरजीविता का कारण जानने में डार्विन सफल हुए, परंतु योग्यतम का आगमन किस तरह होता है, इस घटना पर डार्विन कुछ प्रकाश नहीं डाल सके। उस समय आनुवंशिकता की क्रियाविधि अथवा प्रक्रिया के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं थी। अपनी व्यावहारिक स्पष्टवादिता तथा ईमानदारी के कारण डार्विन ने यह स्वीकार किया कि आनुवंशिकता का संपूर्ण विषय ही विचित्र है। डार्विन के इस कथन का आशय यह था कि उस समय जीवविज्ञान की प्रगति या विकास इतना नहीं हुआ था कि ऐसे प्रमाण प्राप्त किये जा सकें जो इस सिद्धांत का समर्थन करें। इन प्रमाणों के अभाव में कई वर्षों तक आनुवंशिकता को रहस्यमय कहा जाता रहा। तथापि डार्विन ने



चित्र 2 : ग्रेगर मेंडेल

जिस समय यह टिप्पणी की थी (1868) उसी समय इस रहस्य को समझने की दिशा में एक अन्य महान जीव-विज्ञानी ग्रेगर मेंडेल ने पहल करना प्रारंभ कर दिया था। उन्होंने आनुवंशिकता के उन घटकों का अस्तित्व ज्ञात किया जिन्हें उन्होंने 'कारक'[1] का नाम दिया। इन कारकों को ही हम लोग आज जीन[2] कहते हैं। इन जीनों से ही विभिन्न जीव संतानोत्पत्ति द्वारा अपना वंश चलाते हैं।

मेंडेल से पहले आनुवंशकिता विषयक हमारा ज्ञान इस संक्षिप्त सूक्ति में सिमटा हुआ था – 'जीव अपने जैसे जीव ही उत्पन्न करते हैं[3] बिल्लियां बिल्लियों को ही जन्म देंगी जो आगे चलकर बिल्लियों में विकसित होंगी तथा बीज-वृक्ष के बीजों से अंकुरित होने वाले पौधों का रूप भी बीज-वृक्षों के समान ही होगा। इसी तरह, मानव शिशुओं का रूप भी मानव जैसा ही होगा तथा वे प्रायः अपने माता-पिता तथा सहोदरों के समान ही होंगे। सहोदर शब्द का उपयोग जीव-विज्ञानी सगे भाई-बहनों के लिए करते हैं। परंतु ऐसा क्यों होता है, यह जानने के लिए केवल इस सत्य को स्वीकार करना पर्याप्त नहीं है। उसे समझने हेतु जनन-प्रक्रिया का अधिक गहरा अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रक्रिया द्वारा जीव-जंतु अपने वंश को जीवित रखते हैं। आज प्रजनन की इन प्रक्रियाओं को किसी बाह्य प्रमाण द्वारा सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे स्वयंसिद्ध हैं। परंतु बहुत लंबे समय के बाद ही ऐसा कहना संभव हुआ है। पिछली तीन शताब्दियों के दौरान लंबे निरीक्षणों के पश्चात आज हम लोग विभिन्न प्राणियों के भिन्न भिन्न स्वरूपों की जनन प्रक्रियाओं से परिचित हो पाये हैं। इनके तरीके इतने वैचित्र्यपूर्ण हैं कि कोई भी इनसे भ्रमित हो सकता है। परंतु इन सारे तरीकों को दो प्रमुख वर्गों में रखा जाना संभव है — प्रथम वर्ग है अलिंगी अथवा वर्धी प्रजनन[4]। इस वर्ग में जनक का शरीर दो या तीन भागों में विभाजित होता है तथा प्रत्येक भाग से मूल प्राणी की प्रतिकृति उत्पन्न होती है। प्रमुख रूप से यह पद्धति अविकसित किस्म के प्राणियों द्वारा प्रजनन के लिए अपनायी जाती है। किंतु कुछ विकसित प्राणी भी अपने शरीर के छोटे-छोटे टुकड़ों या अंशों से संपूर्ण शरीर उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं। कुछ वनस्पतियों के छोटे-छोटे अंगों को काटकर उन्हें पृथक रूप से यदि अनुकूल परिवेश में रखा जाये तो वे संपूर्ण पौधों में बदल जाते हैं। आलू का उदाहरण लीजिए। आलू का संवर्द्धन उसके बीजों की अपेक्षा छोटे छोटे टुकड़ों द्वारा अधिक आसानी से किया जाता है। प्राणियों में तथा पेड़-पौधों में लैंगिक प्रजनन[5] की क्रिया अधिक प्रचलित है। इस क्रिया के प्रारंभ में मां का डिंब (अंडाणु)[6] पिता के शुक्राणु से संषेचित होता है जिसके फलस्वरूप संतानोत्पत्ति होती है।

डिंब का संषेचन एक जटिल प्रक्रिया है। सूक्ष्मदर्शी की खोज के बाद ही इसे समझना संभव

---

1. कारक – factors
2. जीन – genes
3. जीव अपने जैसे जीव ही उत्पन्न करता है - Like begets like
4. अलिंगी या वर्धी प्रजनन – asexual or vegetative reproduction
5. लैंगिक प्रजनन – sexual reproduction
6. डिंब (अंडाणु) – egg

हुआ। पक्षियों के अंडों को डिंबाशय में उत्पन्न होते देखा जा सकता है, परंतु स्तनधारियों के अंडाशय पर उपस्थित छोटे छोटे फफोलों[1] को खाली आंख से देखना संभव नहीं है। सूक्ष्मदर्शी की सहायता से किये गये निरीक्षणों के पश्चात ही इन्हें डिंब के रूप में पहचाना जा सका। गत तीन शताब्दियों से चल रहे अध्ययनों के माध्यम से हम लोगों को यह ज्ञात हुआ है कि डिंब तथा शुक्राणु के समेकन अथवा एकजीवीकरण[2] को ही संषेचन कहते हैं। इस दौरान सूक्ष्मदर्शी के नये नये परिष्कृत रूप उपलब्ध होते रहे जिनकी बदौलत इस प्रकार का निरीक्षण करना संभव हो सका। जीव विज्ञानियों ने डिंब तथा शुक्राणु को एक उभयनिष्ठ नाम दिया है – युग्मक[3]। संषेचन इन दो युग्मकों का समेकन ही है। प्रत्येक जनक से एक कोशिका लेकर उत्पन्न होने वाली समेकित कोशिका को युग्मज[4] कहते हैं। यह युग्मज ही गर्भावधि[5] में भ्रूण, गर्भ तथा नवजात शिशु में विकसित होता है। एक कोशिका से अगणित कोशिकाएं उत्पन्न होना ही इस विकास का कारण है। अतः गर्भधारण के समय केवल एक ही संषेचित कोशिका शिशु के जन्म के समय तक करोड़ों कोशिकाओं से निर्मित एक संपूर्ण जीव में बदल जाती है। इसका कारण है लगातार होने वाला कोशिका विभाजन। मूल जनकीय अथवा आदि कोशिका[6] अथवा युग्मज दो कोशिकाओं में विभाजित होता है। इन दो कोशिकाओं से चार कोशिकाएं उत्पन्न होती हैं, चार से आठ तथा यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक ज्यामितीय या गुणोत्तर श्रेणी से इनकी संख्या बहुत अधिक नहीं हो जाती। कोशिकाओं की संख्या में वृद्धि करने वाली इस प्रक्रिया को समसूत्रण (माइटोसिस) (प्राणी विज्ञान में) अथवा समविभाजन[7] (वनस्पति विज्ञान में) कहते हैं। परंतु यह जीव-वैज्ञानिकों की भाषा हुई। हम लोगों की सरल भाषा में इसका अर्थ है कोशिकाओं का सामान्य विभाजन अथवा एक कोशिका से दो कोशिकाएं उत्पन्न होना। अधिकांश समय हर विभाजन से उत्पन्न होने वाली कोशिकाएं भी उन्हें उत्पन्न करने वाली मूल कोशिकाओं के समान जब तक स्वयं विकसित नहीं हो जातीं तब तक उनका विभाजन प्रारंभ नहीं होता। इस तरह संषेचित डिंब से भ्रूण का विकास होने तक की क्रियाओं में कोशिका विकास तथा कोशिका विभाजन दोनों का योगदान होता है।

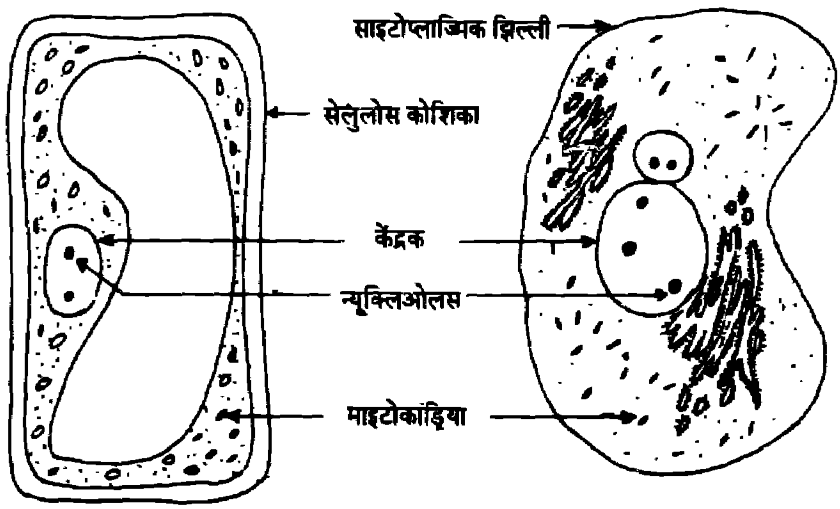
परंतु इसके बाद विकसित होने वाले गर्भ में यकृत, फेफड़े, आंखें, रक्त, मांसपेशियां, उपास्थियां आदि विविध अंग बनने प्रारंभ होते हैं। इस समय कोशिकाओं में विभेदन[8] के कारण आकार तथा कार्यपद्धति की दृष्टि से अत्यधिक परिवर्तन होता है। इसी के फलस्वरूप

---

1. फफोले – vesicles
2. समेकन/ एकजीवीकरण – busion
3. युग्मक – gamete
4. युग्मज – zygote
5. गर्भावधि – gestation period
6. आदि कोशिका – Adam cell
7. समसूत्रण (प्राणी विज्ञान) समविभाजन (वनस्पति) – mitosis
8. विभेदन – differentiation

ये विभिन्न अंग उत्पन्न होते हैं। इसलिए फेफड़ों के ऊतक[1] हड्डियों से अलग दिखाई देते हैं, त्वचा रक्त से भिन्न है तथा मांसपेशियों से उपास्थियां भिन्न होती हैं...। इनका निर्माण करने वाली सूक्ष्म कोशिकाओं का विकसित रूप भिन्न होना ही इसका कारण है। प्रारंभिक विभाजन के बाद एक-सी दिखाई देने वाली ये कोशिकाएं बाद में होनेवाले विभाजन के पश्चात विशिष्ट कोशिकाओं में बदल जाती हैं। इस परिवर्तन को विभेदन कहते हैं। जीवविज्ञान के रहस्यों में विभेदन सबसे जटिल रहस्य है। परंतु नानाविध अंगों का निर्माण करने वाला कोशिकाओं का विभेदन किसी भी कारण से क्यों न होता हो, इस मूलभूत तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि ये हड्डी, मांसपेशियां, तंत्रिका आदि अनेकों से बने हैं और ये ऊतक कोशिकाओं के समूह हैं। ऊतकों तथा विभिन्न अंगों को बनाने वाली कोशिकाएं वस्तुतः एक-सी होती हैं अथवा समरूप होती हैं, इसलिए जीवविज्ञान में कोशिका का वही स्थान है जो भौतिकी में परमाणु का है। एक जीवों की इकाई या मूल मात्रक है तो दूसरी जड़ पदार्थों की। इसीलिए हर एक जैविक समस्या का तथा आनुवंशिकता के रहस्य का अंतिम समाधान खोजने में हमें कोशिका की सहायता लेनी होगी। अतः कोशिकाविज्ञान अथवा कोशिकी[2] का थोड़ा-सा अध्ययन करना लाभदायक होगा।

किसी कोशिका को सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखने पर वह हमें दो पृथक भागों में बंटी हुई दिखाई देगी – बीच का अतिसघन केंद्रक[3] तथा इसे चारों ओर से घेरे हुए कम सघन अर्धद्रव्य कोलाइडी



चित्र 3 : केंद्रक के साथ कोशिका

1. ऊतक – tissues
2. कोशिकी/ कोशिकाविज्ञान – cystology
3. केंद्रक – nucleus

कोशिका द्रव्य (चित्र-3 देखें)। कोशिका विभाजन के समय यह कणिकामय अथवा रवेदार कोलाइडी कोशिका द्रव्य तथा सघन केंद्रक दोनों ही दो अनुजात[1] कोशिकाओं में समान रूप से विभाजित होते हैं। इस विभाजन को पूर्व में समविभाजन कहा गया है। इसी के फलस्वरूप अनुजात कोशिकाओं का आकार मूल जनक कोशिकाओं से आधा होता है। परंतु यह अवस्था अल्पजीवी है। ये अनुजात कोशिकाएं शीघ्र ही पूर्ण रूप से विकसित होती हैं। विकास की प्रक्रिया कई जटिल चरणों में पूर्ण होती है, परंतु इस विषय की अधिक जानकारी अभी देना आवश्यक नहीं है। हमें अभी केवल यही जानना आवश्यक है कि आनुवंशिकता को बनाये रखने वाला जीवित पदार्थ कोशिका के प्रत्येक समविभाजन के पश्चात उत्पन्न हुई अनुजात कोशिकाओं के केंद्रकों में ही उपस्थित रहता है। जिस प्रक्रिया द्वारा इस केंद्रकीय पदार्थ के प्रतिरूप बनाये जाते हैं वह असाधारण रूप से दोषरहित तथा सही होती है। इस प्रक्रिया द्वारा निर्मित लाखों-करोड़ों कोशिकाओं में आनुवंशिकता अथवा केंद्रकीय संरचना[2] मूल कोशिकाओं के समान होती है। यह कौन-सी अद्‌भुत केंद्रकीय संरचना होती है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसी सही रूप में पुनरुत्पादित की जाती है?



चित्र 4: गुणसूत्र। यहा जीनों के स्थान घने बिंदुओं के रूप में दर्शाये गये हैं।

कई दशकों के निरीक्षणों के फलस्वरूप तथा प्रजनन प्रयोगों से अर्जित परिणामों से हमें यह ज्ञात हो चुका है कि कोशिकाओं का केंद्रक-द्रव्य डंडेनुमा अथवा बिंदुओं के समान सूक्ष्म आकार के पदार्थों का बना है (चित्र-4 देखें)। ऊतकों के पतले कतलों को विशिष्ट रंगों द्वारा अभिरंजित[3] करने पर इन सूक्ष्म रचनाओं को देखना संभव होता है। ये पदार्थ कोशिका के अन्य अवयवों की अपेक्षा इन रंगों को अधिक सरलतापूर्वक तथा शीघ्रता से सोख लेते हैं। (अभिरंजन के कारण) रंगों का शोषण करने के पश्चात ही उन्हें देखा जा सकता है। इस गुण के कारण इन्हें गुणसूत्र या क्रोमोजोम कहा जाता है। (क्रोमा-रंग, सोमा-शरीर) ये गुणसूत्र या क्रोमोजोम[4] एक ही तरह के घटकों से बने समांग[5] संगठन नहीं होते। वे आनुवंशिकता के उन 'कणों', जिन्हें 'जीन' कहते हैं, की श्रृंखलाएं हैं। इन कणों का अस्तित्व ज्ञात करने के लिए किये जाने वाले प्रजनन प्रयोग मेंडेल द्वारा किये गये प्रयोगों के समान ही हैं। इन प्रयोगों से यह स्पष्ट हो चुका है कि जीवों के सभी आनुवंशिक अभिलक्षण किसी प्रकार के तनुकरण[6]

1. अनुजात – daughter
2. केंद्रकीय संरचना – nuclear structure
3. अभिरंजित – staining.
4. गुणसूत्र – chromosome.
5. समांग/ समजात – homogeneous
6. तनुकरण – dilution

(कम हुए बिना) अथवा सम्मिश्रण[1] (कुछ और जुड़े बिना) के बिना आगे की पीढ़ी को संप्रेषित किये जाते हैं। ये अभिलक्षण संप्रेषित करने वाले कण अति सूक्ष्म होते हैं। मेंडेल ने इन कणों को 'कारक' कहा था। हम लोग इन्हें जीन कहते हैं। अब यह ज्ञात हो चुका है कि जीनों की रचना अत्यधिक जटिल होती है, वे न्यूक्लिइक अम्ल के अतिसूक्ष्मदर्शीय[2] कण होते हैं तथा ये अपनी प्रतिकृति बनाकर पुनर्जीवित होते हैं। ये जीन आनुवंशिकता की अविभाज्य इकाइयों के रूप में जनक से संतानों को दिये जाते हैं। अत: आनुवंशिकता के लिए वे जो कार्य करते हैं वे परमाणुओं द्वारा रसायनशास्त्र में किये गये कार्य के समतुल्य हैं। आनुवंशिकता के ये परमाणु अथवा जीन छोटे-छोटे पैकेटों में बंद रहते हैं। ये पैकेट सैकड़ों हजारों जीनों की शृंखलाएं होती हैं। इन्हें गुणसूत्र कहा जाता है। अतः जीन यदि आनुवंशिकता के परमाणु है तो गुणसूत्र उसके महाअणु[3] हैं। अतः आनुवंशिकता का अध्ययन वस्तुत: जीनों तथा गुणसूत्रों का ही अध्ययन है।

किसी कोशिका के केंद्रक में गुणसूत्रों की संख्या कितनी होगी यह बात इस पर निर्भर करती है कि वह कोशिका किस प्राणी के शरीर से अथवा पौधे से प्राप्त की गयी है। परंतु सारे गुणसूत्रों की समजात की समान जोड़ियां ही कोशिकाओं में उपस्थित रहती हैं। इन जोड़ियों में उपस्थित गुणसूत्रों में से एक मां से तथा दूसरा पिता से प्राप्त किया जाता है। गुणसूत्रों की जोड़ियों की संख्या (n) विभिन्न प्राणियों में तथा पौधों में भिन्न-भिन्न होती है। *एस्कारिस मेगालोसिफाला* नामक एक वंश के परजीवी कृमि में गुणसूत्रों की दो जोड़ियां होती हैं। परंतु यह संख्या भिन्न-भिन्न प्राणियों में बदलती रहती है। यह मच्छरों में 3 तथा केला मक्खी[4] में 4 से मक्का में 10 तक, चूहे में 20, मानव में 30, स्वर्ण मछली में 47 तथा क्रे मछली में 100 हो जाती है। कुछ किस्म के पर्णांगों[5] (फर्न) अथवा प्रजीवाणु[6] (प्रोटोजोआ) से गुणसूत्रों की जोड़ियां इससे भी अधिक होती हैं। हम यह जानते हैं कि प्रत्येक गुणसूत्र में सैकड़ों-हजारों जीन होते हैं। मानव कोशिका में 40,000 जीन होने का अनुमान लगाया जा चुका है। यह संख्या इससे भी अधिक अथवा दुगुनी होने की संभावना व्यक्त की जा चुकी है। यह स्वाभाविक ही होगा यदि हम लोग इस संख्या को बहुत विशाल मान लें। परंतु जब इन जीनों द्वारा नियंत्रित किये जाने वाले परिवर्द्धन जैसे जटिल कार्यों पर गौर किया जाता है तो ऐसा लगता है कि यह संख्या इतनी विशाल नहीं है। हम लोगों के सभी गुण-दोष जीनों के कारण ही उत्पन्न होते हैं। अतः जो जीन हम लोगों को वंशागत रूप से प्राप्त हुए हैं वे ही इस बात का निर्णय करते हैं कि हम स्त्री होंगे अथवा पुरुष; हमारा रक्त किस ग्रुप का होगा, हमारी दृष्टि सामान्य होगी अथवा हम वर्णांध[7]

1. सम्मिश्रण – blending
2. अति सूक्ष्मदर्शीय – ulltra microscopic
3. महाअणु – macro molecules
4. केला मक्खी – banana fly
5. पर्णांग – ferns
6. प्रजीवाणु – protozoa
7. वर्णांध – colour blind

होंगे; हमारी आंखों अथवा त्वचा का रंग कैसा होगा, हमारी चयापचय प्रवृत्ति[1], मानसिक क्षमता तथा हजारों अन्य विशेषताएं क्या होंगी जिनसे हमारा शारीरिक तथा मानसिक व्यक्तित्व बनता है।

आंखों तथा त्वचा का रंग अथवा रक्त समूह की समानता जैसे गुण माता-पिता से उनकी संतानों में जीनों द्वारा संप्रेषित नहीं किये जाते बल्कि इस संबंध में दिये जाने वाले निर्देशनों की एक रूपरेखा ही संप्रेषित की जाती है। इस रूपरेखा के अनुसार परिवर्द्धन का क्रम तथा गर्भधारण से जन्म तक, फिर युवावस्था, वृद्धावस्था तथा मृत्युपर्यंत होने वाले परिवर्तन भी नियंत्रित किये जाते हैं। ये निर्देश जीनों तथा गुणसूत्रों में जिस कूट भाषा में या कूट रूप में समाविष्ट किये जाते हैं उसे अभी तक ठीक से समझ पाना संभव नहीं हुआ है। परंतु गुणसूत्रों तथा जीनों को आनुवंशिकता का सूक्ष्मातिसूक्ष्म टेप कहा जा सकता है। यह टेप संगणक[2] की आज्ञावली टेप[3] के समान होता है, इस टेप में संगणक को वांछित कार्य किस प्रकार करना होगा, इस बारे में निर्देश दिये होते हैं। यह तुलना केवल एक काल्पनिक तुलना है। आनुवंशिकता की इस आज्ञावली से परिवेश रूपी संगणक मशीन कार्यरत हो जाती है।

संगणक से साधर्म्य दिखाने का यह प्रयास पहली नजर में जितना दुरूह लगता है उतना है नहीं। विख्यात तर्कशास्त्री ए.एम. टुरिंग ने 1936 में यह सिद्ध किया था कि सिद्धांततः एक ऐसा संगणक बनाया जा सकता है जो टेप में दिये हुए निर्देशों को पढ़कर स्वयं अपनी प्रतिकृति बना सकता है। इसे आज सर्वोपयोगी[4] टुरिंग मशीन कहते हैं, जो टेप के निर्देशों के अनुसार अपनी प्रतिकृति का निर्माण कर सकती है। इस प्रकार के निर्देश किसी टेप के अलावा आनुवंशिकता के घटकों पर अंकित करना भी संभव है। आज हमें यह पता है कि रासायनिक बंध, संरचनात्मक तथा विन्यासात्मक समावयवता[5] द्वारा अथवा बेंजीन के वलयों की संख्या में वृद्धि के कारण अथवा बहुलीकरण[6] द्वारा कार्बन के यौगिक ऐसे अगणित पदार्थ उत्पन्न करते हैं जो उनकी निर्मिति के समय दी हुई आनुवंशिकता विषयक कूट जानकारी वहन कर सकते हैं। जनकीय कोशिका जब दो कोशिकाओं में विभाजित होती है तब उत्पन्न होने वाली अनुजात कोशिकाओं के केंद्रकों में गुणसूत्रों की अचूक तथा यथार्थ प्रतिकृतियां उत्पन्न किया जाना सूक्ष्मातिसूक्ष्मीकरण की एक अनोखी मिसाल है। न्यूक्लिइक अम्ल के उस अनंत सूक्ष्म संगठित कण में अर्थात मानवीय युग्मज के केंद्रक में अथवा संसेचित डिंब में संपूर्ण मानव का निर्माण करने के लिए आवश्यक सभी जानकारी संचित की हुई है। पांचवें अध्याय में इस विषय पर अधिक जानकारी दी जायेगी। अभी केवल इतना जानना ही पर्याप्त होगा कि हर

---

1. चयापचय प्रवृत्ति – metabolic propensities
2. संगणक – computer
3. आज्ञावली टेप – programme tape
4. सर्वोपयोगी – universal
5. संरचनात्मक तथा विन्यास समावयवता – structural and stereo isomerism
6. बहुलीकरण – polymerisation

अनुजात कोशिका के केंद्रक में यही जानकारी दोहरायी जाती है। गर्भावस्था के दौरान युग्मज प्रथमतः भ्रूण में तथा बाद में नवजात शिशु में परिवर्तित होता है। जानकारी दोहराने का कार्य इस दौरान उत्पन्न अनुजात कोशिकाओं तक ही सीमित नहीं रहता। शिशु के संपूर्ण जीवन में यह क्रम जारी रहता है। अर्थात जीवन के अंत तक उत्पन्न होने वाली अनुजात कोशिकाओं के केंद्रकों में यह जानकारी संचित की जाती है। शरीर की हर कोशिका में अथवा कायिक कोशिका में[1] उपस्थित 46 गुणसूत्रों में वही जानकारी होती है जो मूल युग्मज में थी। इसका तात्पर्य है कि किसी भी कोशिका को यदि विकास के लिए उचित वातावरण प्राप्त हो जाता है तो वह एक संपूर्ण मानव में परिवर्तित होगी। इस प्रकार निर्मित मानव कायिक कोशिका के दाता का समरूप यमज[2] होगा।

किसी व्यक्ति के हाथ की त्वचा से एक कोशिका लेकर अलिंगी प्रक्रिया द्वारा उसे एक संपूर्ण मानव में विकसित करने की संभावना केवल एक काल्पनिक संभावना मात्र है। अगले अध्याय में इस विषय पर पुनः विचार किया जायेगा। परंतु वनस्पतियां इस तरह सफलतापूर्वक निर्मित की गयी हैं। सामान्यतः पौधे उगाने के लिए बीजों का उपयोग किया जाता है। बीज संषेचित डिंब अथवा युग्मज का ही पर्याय है। इन्हीं का तुल्य रूप है। जमीन उसका नैसर्गिक गर्भाशय है। जमीन में बोये जाने के बाद वह अंकुरित होकर संपूर्ण वृक्ष बन जाता है। परंतु 1960 में प्रोफेसर एफ.सी. स्टीवर्ड ने गाजर का पौधा उगाने का एक अनोखा तरीका खोज निकाला। उसने बीजों के स्थान पर विभेदित कोशिकाओं का उपयोग किया। गाजर की जड़ों से प्राप्त कोशिकाएं जब विभिन्न पोषक माध्यमों में रखी गयीं तो प्रचुरोद्भवन[3] होने लगा। अंततः लगातार प्रयास करते हुए माध्यमों और तकनीकों में परिवर्तन कर स्टीवर्ड ने जड़ की कोशिकाओं से गुच्छ तथा संगठित समुदाय प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। इससे भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इन कोशिकाओं में विभेदन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई तथा ये पुनः दूसरी किस्म की कोशिकाओं में परिवर्तित हुईं। अंततः केवल एक ही कोशिका से गाजर का संपूर्ण पौधा, जिसमें जड़ें, तना, पत्ते, फूल, बीज आदि सारे अंग विकसित हुए। इन्हें विकसित करने में स्टीवर्ड को सफलता प्राप्त हुई। स्टीवर्ड के इन प्रयोगों से यह साबित हो गया कि उचित तकनीक का उपयोग करने से वनस्पति की किसी भी एक कोशिका से संपूर्ण पौधे की अलिंगी उत्पत्ति की जा सकती है।

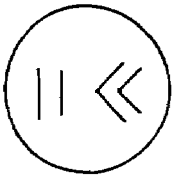
प्राणी वनस्पतियों से भिन्न हैं। फिर भी किसी प्राणी की एक कायिक कोशिका से अलिंगी प्रक्रिया अपनाकर एक संपूर्ण प्राणी विकसित करने की एक समतुल्य कल्पना पर इसलिए ध्यान दिया जा रहा है कि जो बात वनस्पति कोशिका के लिए संभव हो सकी वह कम से कम सिद्धांत रूप से किसी प्राणी की कायिक कोशिका के लिए भी सच हो सकती है; क्योंकि किसी प्राणी की कायिक कोशिका में भी वही सब जानकारी होती है जो अपनी प्रतिकृति बनाने के लिए आवश्यक है। यह निष्कर्ष कोशिका विभाजन की प्रक्रिया पर आधारित है। यह पता है कि

---

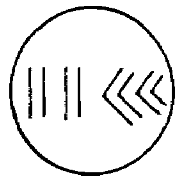
1. कायिक कोशिका – somatic cell
2. समरूप यमज – identical twin
3. प्रचुरोद्भवन – proliferation

कोशिका विभाजन से पूर्व उसके केंद्रक में उपस्थित प्रत्येक गुणसूत्र अपनी प्रतिकृति तैयार करता है। ऐसा करते समय जीनों का क्रम पूर्ववत रहता है। यह क्रिया एक लघु टुरिंग यंत्र के समान है, जो अपना रचना-विषयक वर्णन पढ़ने के बाद अपने जैसी एक अतिरिक्त मशीन बनाता है। इस तरह अपनी प्रतिकृतियां बना लेने के पश्चात जब जनकीय कोशिका विभाजित होकर दो कोशिकाएं उत्पन्न करती है तब मूल गुणसूत्र अपनी नयी प्रतिकृति से पृथक हो जाता है। दोनों अनुजात कोशिकाएं जनकीय कोशिका के समान होती हैं। अर्थात इनमें उपस्थित गुणसूत्रों तथा जीनों की संख्या नयी जातिमूल जनकीय कोशिका के समतुल्य होती है (चित्र-5 देखें)।

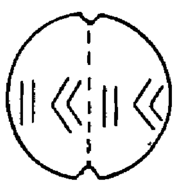
यदि अनुजात कोशिका के केंद्रक में उपस्थित गुणसूत्रों की संख्या जनकीय कोशिका के गुणसूत्रों के बराबर होगी तो दो साधाण कायिक कोशिकाओं के एकजीवीकरण से उत्पन्न युग्मज में केंद्रकीय गुणसूत्रों की संख्या सामान्य से दुगुनी होगी। इसके परिणामस्वरूप हर पीढ़ी में केंद्रक का आकार दुगुना होगा। यह स्पष्ट है कि इस तरह की दुगुनी गुणोत्तर वृद्धि अधिक समय तक नहीं चल सकती। वास्तव में ऐसा कभी भी नहीं होता; क्योंकि यह ज्ञात है कि हर पीढ़ी में गुणसूत्रों की संख्या पूर्व की पीढ़ी के समान ही होती है। इसमें किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती। इसी से यह संकेत मिलता है कि सामान्य कायिक कोशिकाएं प्रजनन के लिए उपयोगी नहीं हैं। किसी न किसी समय सामान्य कोशिका के केंद्रक दो भागों में विभाजित



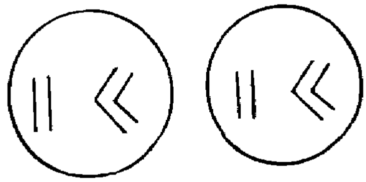
1.. मूल कोशिका (सरलीकरण के उद्देश्य से केवल समजात गुणसूत्रों की दो जोड़िया ही दिखायी गयी है)



2.. प्रत्येक गुणसूत्र लबाई में दो भागों में बंट जाता है



3.. जब कोशिका का विभाजन प्रारंभ होता है तब ये आधे गुणसूत्र परस्पर विरोधी दिशाओं में जाते हैं तथा बीच में एक दीवार बन जाती है



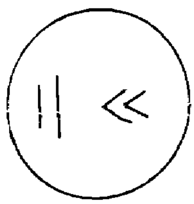
4.. आधे गुणसूत्र पूर्ण आकार प्राप्त करते हैं तथा दो कोशिकाए उत्पन्न होती हैं जो मूल कोशिका की प्रतिकृतियां होती हैं

चित्र 5 : निषेचित डिंब किस प्रकार समसूत्रण द्वारा विभाजित होता है।

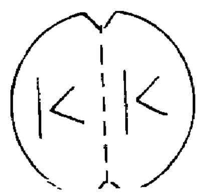
होकर एक नये किस्म की कोशिका बनाते हैं । इसे लिंग-कोशिका[1] कहते हैं । प्रजनन में इसकी प्रमुख भूमिका होती है । डिंब तथा शुक्राणु ये दोनों युग्मक लिंग-कोशिकाएं हैं । इन्हीं के एकजीवीकरण से युग्मज बनने की क्रिया प्रारंभ होती है ।

युग्मक तथा बीजाणु[2] जो वनस्पतियों में युग्मक का विकल्प हैं, एक अन्य प्रक्रिया द्वारा भी उत्पन्न होते हैं । इसे ह्रास-विभजन[3] कहते हैं । इस प्रक्रिया के दौरान केंद्रक में उपस्थित गुणसूत्रों की संख्या घटकर आधी हो जाती है । संख्या घटाने वाली प्रक्रिया को अर्धसूत्रण[4] कहते हैं । ग्रीक भाषा में इस शब्द का अर्थ है घटाना (चित्र-5 देखें) ।

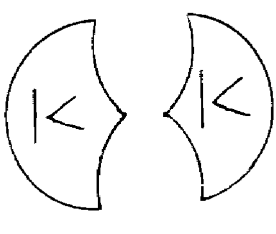
जब कायिक कोशिकाओं की संख्या में विभाजन के कारण वृद्धि होती है तब उनके केंद्रकों में उपस्थित द्रव्य की मात्रा समसूत्रण के कारण अखंड बनी रहती है, उसमें कमी नहीं होती; परंतु अर्धसूत्रण द्वारा यह मात्रा आधी हो जाती है, क्योंकि यह अवस्था युग्मक-जनन[5] के पूर्व



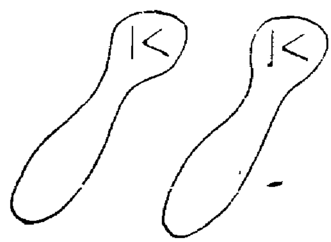
1 कायिक कोशिका जिसमें गुणसूत्रो की दो जोड़िया उपस्थित हैं



2 युगल गुणसूत्र पृथक होकर कोशिका की आमने सामने की दिशाओ की ओर जाते हैं तथा कोशिका का विभाजन होता है



3. इस प्रकार दो अर्द्ध-कोशिकाए उत्पन्न होती हैं जिनमें केवल दो एकल गुणसूत्र उपस्थित रहते हैं



4. गुणसूत्र एक दूसरे के पास चले जाते हैं तथा उनके आसपास कोशिका द्रव्य का एक कोश बन जाता है

चित्र 6 . अर्धसूत्रण द्वारा युग्मकों की उत्पत्ति

1. लिंग-कोशिका - sex-cell
2. बीजाणु – spore
3. ह्रास विभजन – reduction
4. अर्द्धसूत्रण – meiosis
5. युग्मक जनन – gametogenesis

की अवस्था होती है। जब दो युग्मक एकजीव होकर एक युग्मज बनाते हैं तो उसका गठन जनकीय कोशिका के समान होता है। अर्धसूत्रण की प्रक्रिया, जिसके दौरान युग्मजों की उत्पत्ति होती है यदि शेक्सपीयर के जमाने में ज्ञात होती तो अपने सुप्रसिद्ध कथन, 'सारा संसार एक रंगमंच है' (All the world is a stage.) में उसने सात कालखंडों की बजाए नौ कालखंडों की कल्पना की होती (प्रारंभ की अवस्था एक विभाजित युग्मक की है जिसका आधा भाग डिंब तथा शेष भाग शुक्राणु है। फिर एक संयुक्त युग्मज बनता है जो मां के गर्भ में विकास करता है।)

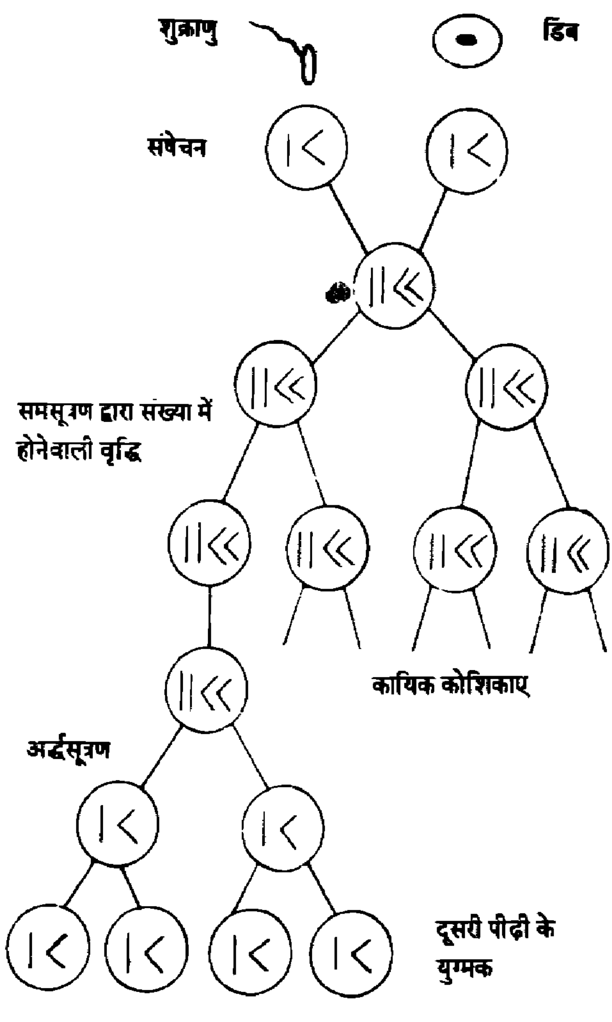
At first the divided gamete,
Half in ovum and half in sperm,
And then the united zygote,
Gestating in his mother's womb.

अर्द्धसूत्रण की बदौलत ही युग्मकों में उपस्थित गुणसूत्रों की संख्या कायिक कोशिकाओं में विद्यमान गुणसूत्रों की संख्या से ठीक ठीक आधी रहती है। समसूत्रण के फलस्वरूप कोशिका विभाजन से कायिक कोशिकाओं द्वारा प्रजनित सारी कोशिकाएं आनुवंशिक पैतृकता बनाये रखती हैं। अतः अधिकांश जैविक प्रजननों के लिए कोशिका विभाजन (समसूत्रण) तथा ह्रास विभाजन (अर्धसूत्रण) दोनों ही आधारभूत क्रियाएं हैं। ये क्रियाएं बहुत परिष्कृत तरीके से होती हैं। इसके अलावा सूक्ष्मदर्शी द्वारा खोजी गयी अपरिवर्तनशील क्रियाओं के ये अच्छे उदाहरण हैं। सारी वनस्पतियों में तथा अधिकांश प्राणियों में ये उसी क्रम से तथा उसी प्रभावोत्पादक समकालनों[1] से होती हैं। इस बात के प्रमाण प्राप्त कर लिये गये हैं। ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर सी. डी. डारलिंगटन ने पहली बार इनका अध्ययन किया और इन क्रियाओं में विद्यमान तालमेल का उस पर ऐसा जादू चला कि उसने समसूत्रण को चार चरणों में विकसित होने वाली स्वरसंगति[2] की उपमा दी। ये चार चरण हैं — प्रारंभ, मध्य के दो चरण तथा समापन। इसके साथ उसने यह भी कहा कि यदि समसूत्रण एक स्वरसंगति है तो अर्धसूत्रण जैविक आनुवंशिकता का मधुर पूर्वरंग[3] है और अंतिम गत[4] भी। इन दोनों को अपने रथ में जोतकर जीव केम्ब्रियन-पूर्व कल्प के अपने आदिम रूप से आज के जटिल तथा परिष्कृत रूप की ओर अग्रसर होता रहा है। ये दो क्रियाएं सभी जीवों में होती हैं, परंतु ऐसा होना महज संयोग नहीं है। साधारण केला मक्खी से अनुसंधानकर्ताओं के प्रिय 'गिनीपिग' और स्वयं उस वैज्ञानिक तक जो जैविक उत्क्रांति का चरमोत्कर्ष है, सभी जीवों में इन क्रियाओं का देखा जाना कोई अप्रत्याशित घटना नहीं है।

केला मक्खी से ही प्रारंभ करते हैं। इसके कायिक अथवा युग्मजीय केंद्रक में आठ गुणसूत्र होते हैं जो समांगी गुणसूत्रों की चार जोड़ियों में पाये जाते हैं। परंतु इन कायिक कोशिकाओं

1. समकालन – synchronization
2. स्वरसंगति – symphony
3. मधुर पूर्वरंग – melodic ovrture
4. अंतिम गत – finale

से अर्द्धसूत्रण द्वारा जब लिंग-कोशिकाएं अथवा युग्मक उत्पन्न होते हैं तब हर युग्मक में केवल चार गुणसूत्र ही पाये जाते हैं। कायिक कोशिकाओं के गुणसूत्रों की चार जोड़ियों में से प्रत्येक युग्मक में केवल एक गुणसूत्र लिया जाता है। मानवीय युग्मकों में 23 गुणसूत्र हैं तथा युग्मजीय गुणसूत्रों की संख्या 46 है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश जीवों में दो किस्म की कोशिकाएं होती हैं – शरीर के अधिकांश अंगों का निर्माण करने वाली सामान्य कोशिकाएं तथा अर्द्धसूत्रण द्वारा कायिक कोशिकाओं से प्राप्त की गयी विशेष कोशिकाएं, जिन्हें



चित्र 7 : अगुणित लिंग कोशिकाए तथा द्विगुणित कायिक कोशिकाएं जिस प्रकार उत्पन्न होती हैं इसे इस चित्र में दिखाया गया है। इस चित्र में चित्र 5 तथा 6 को पास-पास रखा गया है; इन चित्रों में कोशिका विभाजन (समसूत्रण) तथा अर्ध विभाजन (अर्द्धसूत्रण) की क्रियाएं दर्शायी गयी हैं। इस प्रकार पास पास रखे जाने से कायिक कोशिकाओं की दोहरी प्रकृति तथा लिंग कोशिकाओं अथवा युग्मकों की अगुणित प्रकृति स्पष्ट दिखाई देती है।

लिंग-कोशिकाएं कहते हैं। प्रथम वर्ग की कोशिकाओं में गुणसूत्रों के दो सेट होते हैं। इन्हें द्विगुणित कोशिकाएं[1] कहते हैं। दूसरा वर्ग अगुणित या मूल सांख्यिक कोशिकाओं[2] का है। इसमें गुणसूत्रों का एक ही सेट होता है (चित्र 7।

चूंकि गुणसूत्र जैविक आनुवंशिकता के एकमेक कोष या संग्रह होते हैं, अगुणित या मूल सांख्यिक युग्मकों में जो जानकारी होती है वह किसी जीव का निर्माण करने हेतु आवश्यक जानकारी से आधी ही होती है। कायिक कोशिकाओं में उपस्थित गुणसूत्रों के आधे गुणसूत्र ही इन युग्मकों में उपस्थित रहते हैं और यही इसका कारण है। मनुष्य के शुक्राणु में या डिंब में जो जानकारी होती है वह आधा मनुष्य बनाने के लिए ही पर्याप्त होती है। शुक्राणु तथा डिंब में विद्यमान जानकारी समतुल्य होने के बावजूद स्तनधारियों की इन दोनों लिंग कोशिकाओं में असाधारण भिन्नता होती है। मानव में भी इसी कोटि की भिन्नता पायी जाती है। पुरुष लिंग-कोशिकाएं अथवा शुक्राणु के अत्यधिक सूक्ष्म होने के कारण सक्षम सूक्ष्मदर्शी की सहायता के बिना उन्हें देखा नहीं जा सकता। इस यंत्र का उपयोग करने पर भी उन्हें देखना आसान नहीं होता। प्रत्येक स्खलन[3] के समय उत्सर्जित शुक्राणुओं की संख्या करीब 30 करोड़ होती है। सभी डिंब का आकार इनकी तुलना में बहुत बड़ा होता है। और डिंबों की उत्पत्ति बहुत मितव्ययितापूर्वक की जाती है। जन्म से पूर्व ही शरीर में डिंब उपस्थित रहते हैं। रजोकर्म के प्रारंभ[4] से रजोनिवृत्ति[5] तक हर माह एक पक्व डिंब मुक्त करने हेतु जीवनकाल में कुछ सौ डिंब पर्याप्त होते हैं। परिपक्व डिंब आकार में शुक्राणु से कई हजार गुणा बड़ा होता है तथा संषेचन के बाद की गतिविधियों के लिए आवश्यक न्यूक्लिइक अम्ल की कई इकाइयां तथा अनेक पोषक तत्व इसमें उपस्थित रहते हैं। इन दो किस्म की कोशिकाओं के आकार बहुत भिन्न होते हैं तथा इनकी जितनी संख्या उत्पन्न की जाती है उसमें भी कुछ बातें हैं। संषेचित युग्मज को स्त्री के गर्भाशय में रखा जाना आवश्यक है। इन दो कारणों से ही पुरुष का शुक्राणु आज के युग की महान जैविक क्रांति को जारी रखने का एक उपयोगी साधन है। यह क्रांति है मैथुन तथा प्रजनन को पृथक करना। पशुओं में इन दो क्रियाओं को सफलतापूर्वक पृथक किया गया है। आज की प्रचलित कृत्रिम गर्भाधान पद्धति ने पशुओं के प्रजनन में क्रांतिकारी परिवर्तन किये हैं। अब इस बात से सारे लोग परिचित हैं कि गत 30 साल से दुधारू पशुओं के लिए कृत्रिम गर्भाधान पद्धति एक मानक या आदर्श पद्धति बन चुकी है। एक सांड़ प्राकृतिक रूप से प्रतिवर्ष 30 से 50 गायों को गाभिन कर सकता है, परंतु हाल में विकसित एक नयी परिष्कृत तकनीक के फलस्वरूप वही सांड़ 2000 से अधिक बछड़ों का पिता बन सकता है। सांड़ का वीर्य ग्लिसरॉलयुक्त नमक के घोल में विधिपूर्वक तनु करने के पश्चात शुष्क बर्फ के

---

1. द्विगुणित कोशिकाएं – diploid cells
2. अगुणित या मूल सांख्यिक कोशिकाएं – haploid
3. स्खलन – ejaculation
4. रजोधर्म का प्रारंभ – menarche
5. रजोनिवृत्ति – menopause

तापमान पर अथवा-70^0 सेल्सियस पर जमा दिया जाता है। इससे सांड़ के शुक्राणु कम से कम चार साल तक गर्भाधान के लिए उपयुक्त रह जाते हैं। वीर्य को दूर दराज के स्थानों पर गर्भाधान हेतु भेजना भी संभव हो जाता है।

प्रत्येक वीर्य-स्खलन में उत्सर्जित करोड़ों शुक्राणुओं की तुलना में प्रत्येक डिंबोत्सर्ग चक्र[1] में केवल एक ही डिंब मुक्त होता है। कृत्रिम गर्भाधान की दृष्टि से सभी कोशिकाओं में पायी जाने वाली यह त्रुटि आधुनिक अनुसंधान कार्य द्वारा अब दूर कर दी गयी है। पीयूष ग्रंथी से उत्पन्न होने वाले एक हार्मोन की सहायता से सभी के शरीर से अनेक डिंबों का उत्पन्न किया जाना अब संभव हो गया है। इन डिंबों को एकत्रित करने के पश्चात इन्हें संषेचित कर उन्हें ऐसी धायों[2] के शरीर में स्थापित किया जाता है जो आनुवंशिक दृष्टि से कम त्रुटियोंवाली हैं। इस तरह किसी उत्कृष्ट मादा से प्राप्त अनेक डिंबों को, इन्हें ग्रहण करने की क्षमता रखने वाली मादाओं के शरीरों में स्थापित किया जाता है। दाता मादा को इस प्रकार अपने गुणसूत्र समुच्चय सैकड़ों संतानों को संप्रेषित करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। इन परिपक्व डिंबों को अतिशीतकन द्वारा दीर्घ अवधि तक सुरक्षित रखे जाने की संभावनाएं भी मौजूद हैं।

पशु प्रजनन का आज का लक्ष्य है प्रत्येक ब्यांत में मक्खन-वसायुक्त दूध की अधिक मात्रा प्राप्त करना। इसके अलावा अन्य सभी बातें गौण हैं। इसलिए किसी गाय या सांड़ का मूल्यमापन आसान है। यदि गाय या सांड़ लगातार ऐसी बछियां पैदा करते हैं जो अपनी मां से अधिक दूध देती हैं तो उस गाय की (अथवा सांड की) सेवाओं की अधिक मांग रहेगी। इस बात के प्रमाण प्राप्त करने में कई सालों का समय लग सकता है, परंतु एक बार ऐसे प्रमाण प्राप्त हो जाने पर उन पर किसी प्रकार का मतभेद नहीं हो सकेगा। मनुष्य के लिए उत्कृष्टता का इस तरह का कोई मापदंड तय नहीं है। अत: जब जब मनुष्य के सहवास तथा प्रजनन को पृथक रखने की कोशिश की जाती है तब तब हम लोगों को दोहरी समस्याओं से जूझना पड़ता है। परंतु जिस तेजी से विश्व में जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि हो रही है उससे ऐसा किया जाना अपरिहार्य हो जायेगा। प्रथम समस्या है, लोगों को प्रजनन के बिना सहवास का आनंद लेने के लिए प्रवृत्त करने की। दूसरी समस्या है, मैथुन तथा प्रजनन को पूर्णत: पृथक करने की और ऐसा करते समय कुछ लोगों को प्रजनन के लिए अनुज्ञा पत्र देने की; क्योंकि इसके बिना मैथुन तथा प्रजनन को पूर्णत: पृथक करना संभव नहीं होगा। परंतु ऐसा अनुज्ञा पत्र किसे प्रदान किया जाना चाहिए ? प्रथम समस्या परिवार नियोजन से संबंधित एक दुरूह तथा अनिर्णित समस्या है। फिलहाल इसे अलग रखते हुए हम लोग दूसरी समस्या पर विचार करेंगे। यह हमारे आज के विषय से जुड़ी हुई है तथा अधिक प्रासंगिक भी है। कुछ उत्साही आनुवंशिकीविज्ञों ने मानवों के लिए कृत्रिम गर्भाधान की संभावनाओं की कल्पना करते हुए भविष्य में उत्कृष्ट मानव निर्माण करने का सपना संजोया है। एच.जे. मुलर ऐसे ही एक विद्वान हैं। कुछ वर्ष पूर्व मुलर ने सुझाव दिया था कि उत्कृष्ट पुरुषों के वीर्य का उपयोग कृत्रिम गर्भाधान के लिए किये जाने

1. डिंबोत्सर्ग चक्र – ovulation cycle
2. धाय – foster mother

की संभावनाओं पर विचार किया जाना चाहिए। पशु-प्रजनन में उत्कृष्ट सांड़ का चयन करने हेतु प्रजनकों ने कुछ मापदंड निश्चित किये हैं। यदि मुलर इसी तरह के मापदंड उत्कृष्ट पुरुषों के चयन हेतु करते हैं तो उस उत्कृष्ट पुरुष का उपयोग न केवल कृत्रिम गर्भाधान के लिए किया जा सकेगा अपितु उसका वीर्य एम्प्यूलों में भरकर आगामी पीढ़ी की ग्रहणकर्ताओं के लिए सुरक्षित रखना भी संभव होगा। इस संदर्भ में उत्कृष्टता[1] का अर्थ क्या होना चाहिए, इस बात पर मतैक्य नहीं हो सकता और इस पर होनेवाले विवाद का कोई अंत नहीं होगा। और किसी विशिष्ट क्षेत्र के संदर्भ में उत्कृष्टता का अर्थ क्या होगा, इस बात का निर्णय हम लोगों ने कर भी लिया तब भी आनेवाली पीढ़ी की संतानों में यह गुण दिखाई देगा, इस बात की कोई गारंटी नहीं दी जा सकती। यह सच है कि कुछ परिवारों में गायन, स्थापत्यशास्त्र अथवा वास्तुकला या गणित की महान परंपरा है। बाख़ वंश के बाख़ विख्यात गायक थे। तेरह वाट्स वास्तुविद तथा आठ बरनौली गणितज्ञ थे। परंतु यहां जिन बाख़ों या बरनौलियों का उल्लेख किया गया है उनमें से हरेक के लिए ऐसे हजारों प्रतिभासम्पन्न पुरुष हैं जो अपनी प्रतिभा अपनी संतानों को संप्रेषित नहीं कर सके और जो ऐसा करने में सफल हुए, उनके बारे में भी यह कहना आसान नहीं है कि इस संप्रेषण में आनुवंशिकता का योगदान घर के अथवा शिक्षा के वातावरण में अधिक रहा। अगले अध्याय में इस पर अधिक विस्तार से विचार किया जायेगा।

---

1. उत्कृष्टता – excellance.

2

आनुवंशिकता और परिवेश

जैसा कि हम जान चुके हैं, किसी जीव द्वारा प्रजनन हेतु भले ही लैंगिक अथवा किसी अन्य पद्धति का उपयोग किया जाता हो, उसका जीवन बीज, कलम, अंकुर अथवा संषेचित डिंब जैसे जनकीय काया के छोटे से अंश के रूप में प्रारंभ होता है। जनकीय काया का यह छोटा सा अंश विशाल आकार धारण करते हुए एक संतान के रूप में जन्म लेता है। जिस संषेचित डिंब से मनुष्य उत्पन्न होता है उसकी तुलना में पूर्ण रूप से विकसित एक मानव शरीर 50 करोड़ गुना अधिक भारी होता है। अपने शरीर के गठन के लिए वह जीव अपने परिवेश से लगातार अन्न प्राप्त करता रहता है; और यह अन्न ही इस अत्यधिक भार वृद्धि का मूल कारण है। मनुष्य, चूहे, बिल्लियां अथवा हरे पौधे आदि सभी ऐसा ही करते हैं। हर जीव वास्तव में परिवेश से प्राप्त किये गये अन्न का ही परिवर्तित रूप है।

परिवेश से प्राप्त किया गया अन्न उस जीव के शरीर को बनाने वाले घटकों में बदल जाता है। यह परिवर्तन एक-दूसरे से जुड़ी हुई हजारों जटिल प्रक्रियाओं का परिणाम है। इन प्रक्रियाओं को संक्षेप में चयापचय अथवा रस-प्रक्रिया कहते हैं। हर एक जीव की अपनी एक विशिष्ट चयापचय प्रक्रिया होती है। इसी की बदौलत अपने शारीरिक विकास के दौरान वह जीव अन्न, पोषक तत्व, पानी, हवा, ताप तथा प्रकाश जैसे परिवेश के आसपास के घटकों के साथ क्रिया करता है। यद्यपि विभिन्न जीवों की चयापचय क्रियाओं में भिन्नता होती है, उन सब का लक्ष्य वस्तुत: एक ही है : अपने परिवेश में उपस्थित पदार्थों को आत्मसात करने हेतु उस जीव को सक्षम बनाना ताकि वह अपने जनकों तथा पूर्वजों की यथार्थ प्रतिकृति बन सके। इस प्रकार यथार्थ प्रतिकृति बन जाने का सारा श्रेय उन जीनों अथवा गुणसूत्रों को दिया जाना चाहिए जो उस 'अंश' द्वारा जनकीय काया से वंशागत रूप से प्राप्त किये गये हैं। जिस परिवेश में वह विकसित होता है उसका प्रभाव भी विकास की प्रक्रिया पर होता है। इसीलिए 'यथार्थ प्रतिकृति' के स्थानपर 'प्राय: यथार्थ प्रतिकृति' शब्द का प्रयोग किया गया है। अत: जनकीय काया से प्राप्त किये गये जीन यह निश्चित करते हैं कि आगे उत्पन्न होने वाली संतानों की चयापचय प्रक्रिया भी यही होगी। उस अंश का परिवेश यह निर्धारित करता है कि यह आनुवंशिक चयापचय प्रक्रिया किस तरह कार्यंवित हो। इसीलिए संतानों के जीवन के प्रारंभ से अंत तक उसे आकार देने का तथा गढ़ने का काम आनुंवशिकता तथा परिवेश द्वारा एक साथ मिलकर ही किया जाता है। इन दोनों में एक अटूट नाता है जिसकी वजह से जीवन प्रवाह

आगे बढ़ता है। प्रतिकूल परिवेश के कारण उत्पन्न होनी वाली बाधाओं को दूर करने का साधन भी जीव स्वयं तैयार करता है। यह साधन उपयोगी होने के साथ साथ उसके पास सदैव बना रहता है। इसी तरह, हमारे जलचर पूर्वज सागरीय परिवेश से बाहर निकलकर सरीसृपों[1], पक्षियों, स्तनधारियों तथा वानरों के रूप में जमीन पर बस गये। आज भी हम लोगों के रक्त में उपस्थित नमक की मात्रा इस बात का प्रमाण है कि हम लोग मूलतः सागरवासी हैं। जिस प्रकार का परिवर्तन जैविक उत्क्रांति के कारण आदिकाल में संभव हुआ था उसी तरह का परिवर्तन करने के प्रयास हम आज करने जा रहे हैं। चांद पर या अंतरिक्ष के अन्य प्रतिकूल पर्यावरण वाले ग्रहों पर मानव को उतारने की चेष्टा हम करने जा रहे हैं। चांद की यात्रा करते समय अंतरिक्ष यात्री एक कैप्सूल में यात्रा करता है तथा अंतरिक्ष-सूट भी पहनता है। यह अंतरिक्ष-सूट धरती के परिवेश का एक छोटा कृत्रिम रूप ही होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब तक परिवेशी आधार न हो, हम लोग जिंदा नहीं रह सकते। ऐसी कल्पना करना भी संभव नहीं होता। जीवन उसी आपसी क्रिया का ही नाम है जो आनुवंशिकता तथा परिवेश के बीच होती रहती है।

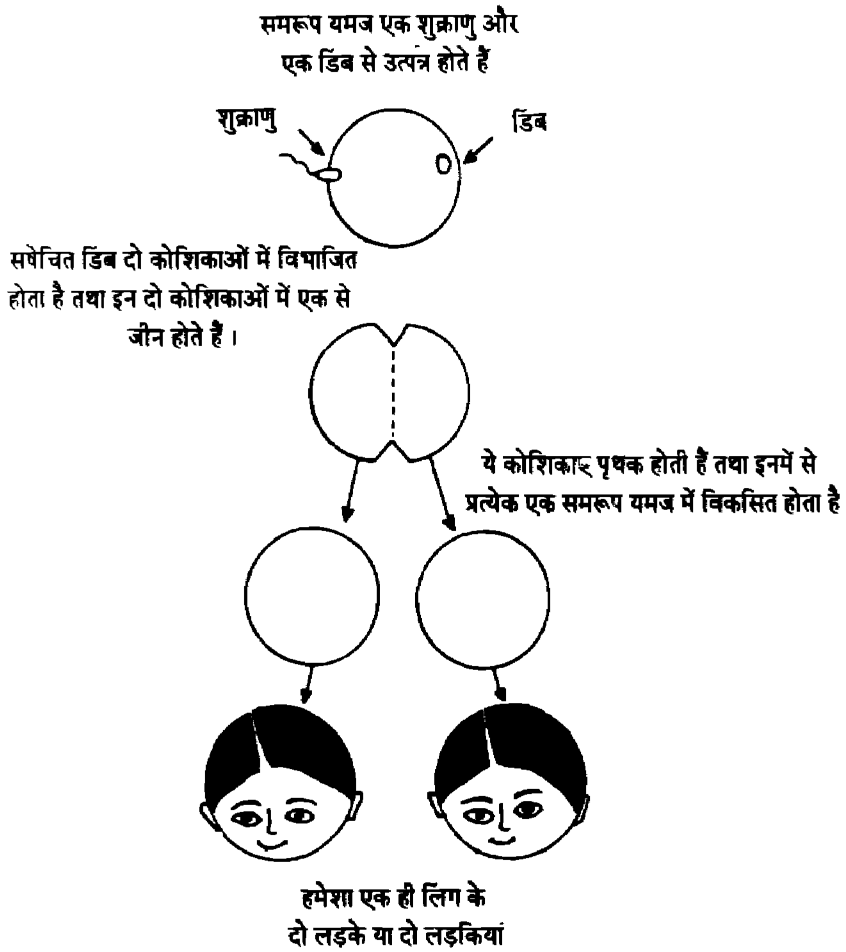
यद्यपि संतानों के गुण तथा अभिलक्षण कौन से हों, इसे आनुवंशिकता द्वारा ही निर्धारित किया जाता है, परंतु परिवेश का प्रभाव भी इस कार्य में बहुत महत्वपूर्ण है। संतानों के अभिलक्षण एक-दूसरे से काफी भिन्न होते हैं तथा इस भिन्नता का कारण उन पर आनुवंशिक जीनों तथा परिवेश द्वारा तुलनात्मक रूप से कितना प्रभाव डाला जाता है – इससे संबंधित होता है। इन अभिलक्षणों में कुछ तो पूर्णतः आनुवंशिक रूप से प्राप्त किये गये जीनों द्वारा ही निर्धारित किये जाते हैं बशर्ते परिवेश जिंदा रहने तथा विकास हेतु पोषक हो। मटर के दानों में इसका एक अच्छा उदाहरण मिलता है। मटर के दानोंमें चिकने तथा सिकुड़े हुए दोनों प्रकार के दाने पाये जाते हैं। दाने सिकुड़े हुए होंगे या चिकने होंगे इस बात का निर्णय सर्वथा मटर में विद्यमान जीनों द्वारा ही किया जाता है। इसी प्रकार किसी मनुष्य का रक्तसमूह 'ए' होगा अथवा 'बी', किसी गाय के सींग होंगे अथवा नहीं, या किसी चूहे का रंग भूरा होगा अथवा सफेद आदि बातों पर परिवेश का प्रभाव नहीं पड़ता। उस जीव के शरीर में उपस्थित जीनों द्वारा ही यह सब तय होता है।

जिन लोगों के शरीर में एक तरह के जीन उपस्थित रहते हैं उन्हें समरूप यमज[2] कहते हैं। ये साधारण जुड़वों जैसे नहीं होते जिन्हें भिन्न यमज[3] कहा जाता है। भिन्न यमजों के अभिलक्षण एक तरह के नहीं होते क्योंकि दो शुक्राणुओं द्वारा दो डिंबों को एक ही समय में संसेचित किये जाने की वजह से इनकी उत्पत्ति होती है। अतः वे बाइबिल में वर्णित ईयु तथा जेकब जैसे समलिंगी या ग्रीक पुराणों के अपोलो और आर्टेमिस जैसे भिन्नलिंगी हो सकते हैं। आनुवंशिकता की दृष्टि से ये साधारण भाई-बहन जैसे ही एक-दूसरे से अलग दिखाई देते हैं।

---

1. सरीसृप – reptiles
2. समरूप यमज – identical twins
3. भिन्न यमज – fraternal twins

परंतु जब एक संषेचित डिंब दो भागों में विभाजित होता है और उसके प्रत्येक भाग से एक संपूर्ण भ्रूण उत्पन्न होता है (चित्र-8 देखें) तो उत्पन्न होने वाली संतानों को समरूप यमज कहा जाता है। प्रकृति द्वारा एक ही व्यक्ति को उत्पन्न करने हेतु बनायी गयी मूल योजना से जब दो जीव उत्पन्न होते हैं तब उन दोनों में उपस्थित जीन एक जैसे होते हैं। एक ही व्यक्ति की सभी कोशिकाओं में उपस्थित जीन एक समान होने के कारण समरूप यमजों में सर्वांगसम त्रिभुजों[1] जैसी एकरूपता दिखाई देती है। आनुवंशिकता की दृष्टि से सर्वांगसम होने के बावजूद आगामी जीवन में इनका विकास भिन्न रूप से होना संभव है। एक यमज अपनी दृष्टि अथवा मानसिक संतुलन या दोनों को ही उपदंश जैसे गुप्त रोग के कारण खो सकता है। दूसरा सामान्य जीवन



चित्र 8 : समरूप यमज

1 सर्वांगसम त्रिभुज – congruent triangle.

व्यतीत कर सकता है । इस तरह का फर्क सर्वथा परिवेश मूलक है ।

संपूर्णतः आनुवंशिक तथा सर्वथा परिवेशी अभिलक्षण गुणों की चरम सीमाएं दर्शाते हैं । परंतु ऐसे भी अनेक अभिलक्षण हैं जो आनुवंशिकता तथा परिवेश दोनों से ही प्रभावित होते हैं । किसी व्यक्ति के शरीर पर उभर आने वाली चित्तियां मूलतः किसी जीन का ही प्रभाव है । परंतु चित्तियां उभरना अथवा न उभरना इस बात पर निर्भर करता है कि वह व्यक्ति अपनी आयु में कितना समय खुली धूप में बिताता है । यदि दो समरूप यमजों में एक अपना समय घर के अंदर ही काम करते हुए व्यतीत करता है और दूसरे को अपने काम के लिए धूप में घूमना पड़ता है तो दोनों के शरीर में चित्तियों के लिए आवश्यक जीन होने के बावजूद एक का शरीर चित्तियों से भर जायेगा परंतु दूसरे के शरीर पर कहीं कहीं चित्तियां दिखाई देंगी । किसी जीन के कारण ही मटर के दानों पर सिकुड़न पैदा होगी अथवा वे चिकने होंगे । परंतु मटर की एक ही फली के दानों पर भी एक सी सिकुड़न नहीं दिखाई देती; क्योंकि इन दानों का विकास जिन स्थितियों में होता है वे संपूर्णतः एक सी नहीं होतीं । बौनापन इसी का एक अन्य उदाहरण है । बौनापन स्वयं एक जीनमूलक अभिलक्षण है । जिन व्यक्तियों के शरीर में ऐसे जीन उपस्थित होते हैं वे उन व्यक्तियों से कद में छोटे रह जाते हैं जिनके शरीर में ऐसे जीन नहीं होते । इन व्यक्तियों के शरीर में सामान्य विकास के लिए आवश्यक पर्यायी जीन होते हैं । परंतु यदि कोई आनुवंशिक बौना जरूरत से अधिक खाना खाता है तो वह अपने सामान्य जीन वाले सहोदर से अधिक बड़ा तथा मोटा दिखाई देगा ।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संतानों द्वारा प्रकट किये जाने वाले गुण या अभिलक्षणों का निर्णय उन अभिलक्षणों के लिए उत्तरदायी जीन तथा परिवेश में होने वाली जटिल पारस्परिक क्रिया द्वारा तय होता है । कुछ घटनाओं में इस प्रक्रिया का प्रभाव कुछ अधिक स्पष्ट होता है तो कुछ में कम, परंतु सभी घटनाओं में यह प्रभाव अनिवार्य रूप से प्रकट होता है । इसलिए किसी व्यक्ति की नीली आंखों का श्रेय उन्हें उत्पन्न करने वाले जीनों को दिया जाना ही उचित प्रतीत होता है । परंतु यदि उसके शरीर में गणितीय प्रतिभा जैसा कोई मानसिक गुण उत्पन्न करने वाले जीन उपस्थित होते तब भी यह गुण प्रकट होने की कोई गारंटी नहीं दी जा सकती थी । इस कारण जिस परिवेश में इस व्यक्ति का विकास हुआ है उस पर भी गौर किया जाना चाहिए; क्योंकि शरीर में आवश्यक जीन होने के बावजूद त्रुटिपूर्ण प्रशिक्षण के कारण गणित के संदर्भ में वह एक मूर्ख साबित हो सकता है । यदि केम्ब्रिज के गणितज्ञ जी.एच. हार्डी ने दारुण दरिद्रता से रामानुजम का उद्धार करते हुए उसे उचित प्रशिक्षण न दिया होता तो एक महान गणितीय प्रतिभा मौन तथा अप्रकट रहकर ही नष्ट हो जाती । भावी गणितीय प्रतिभा का अभिव्यक्ति से वंचित रह जाना अथवा नीली आंखों का सदैव प्रकट होना — इस बात का प्रमाण नहीं है कि आंखों का नीला रंग संपूर्णतः जीनमूलक है तथा गणितीय प्रतिभा सर्वथा परिवेशमूलक । यह एक संयोग की बात है कि नीली आंखों के प्रकट होने के लिए आवश्यक सभी चीजें उस व्यक्ति को मां के गर्भाशय में ही प्राप्त हो जाती हैं । भ्रूण जिस अवधि में गर्भाशय में विकसित होता रहता है उसी समय इस गुण की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक सारी चीजें

उसे मिलती रहती हैं। इसके विपरीत, मानसिक विशेषताएं विकसित होने के लिए आवश्यक चीजों की संख्या बहुत अधिक है तथा इन्हें प्राप्त करना आसान नहीं है। व्यक्ति के संपूर्ण जीवन में इनका प्रभाव बना रहता है तथा उसके परिवेश में ये कई भिन्न रूपों में प्रकट होती रहती हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आनुवंशिकता तथा परिवेश के परस्पर संबंध आज्ञावली[1] तथा संगणक के यंत्र[2] के संबंधों जैसे ही हैं। एक के अभाव में दूसरा किसी काम का नहीं रहता। इसीलिए आनुवंशिकता अथवा परिवेश में किसका महत्व अधिक है, यह एक काल्पनिक प्रश्न बन जाता है। इसका कोई उत्तर नहीं है क्योंकि दोनों की नितांत आवश्यकता है। इनमें कोई एक अधिक महत्वपूर्ण है, ऐसा कहना उचित नहीं। गुणसूत्रों के बिना संषेचित डिंब का विकास संभव नहीं है, यह भी संभव नहीं है कि मां के गर्भाशय के बाहर रखकर उसे उचित पौष्टिक पदार्थों, ताप अथवा अन्य परिवेशी स्थितियों से वंचित रखे जाने पर भी उसका विकास हो सके। यदि उसे किसी परखनली[3] में स्थानांतरित किया जाता है तो हमें उस परखनली में मां के गर्भाशय जैसा ही परिवेश निर्मित करना होगा। संक्षेप में, वंशानुगत प्राप्त किये गये जीनों तथा गुणसूत्रों और आसपास के परिवेश में होने वाली परस्पर क्रिया के कारण ही वह संषेचित डिंब एक नये जीव में बदल जाता है।

किसी जीव को वंशानुगत रूप में मिले जीनों का समुच्चय अथवा आनुवंशिक ढांचा जीन-रूप या आनुवंशिक रूप[4] कहलाता है। मूल संषेचित डिंब में अथवा बीज में उपस्थित जीवों की संख्या, गुण तथा उनकी संरचना इसका स्थायी स्वरूप निर्धारित करते हैं। संतानों का बाह्यरूप अथवा उनके द्वारा प्रकट किये गये अभिलक्षणों को 'व्यक्त गुणोपलक्षण' अथवा दृश्याकृति[5] कहते हैं। शरीर-क्रिया अथवा शरीर-रचना से संबंधित गुणों के अलावा मनोवैज्ञानिक, मानसिक तथा अन्य सभी गुणों का समावेश दृश्याकृति में किया जाता है। इसी कारण किसी भी जीव की दृश्याकृति किसी विशिष्ट परिवेश में हुए विकास तथा वृद्धि का परिणाम है। न तो किसी जीव की दृश्याकृति अथवा बाह्यरूप अपरिवर्तित या स्थायी होता है और न ही उसका परिवेश। इसीलिए ऐसा कहना अधिक उचित होगा कि किसी विशिष्ट समय में दिखाई देने वाला उसका बाह्यरूप उस समय के परिवेश पर पूर्णतः निर्भर नहीं करता, उसके जीवन में, परिवेश में जो जो बदलाव आये हैं, उसके बाह्यरूप पर उन सब का प्रभाव पड़ता है। हर एक वनस्पति, प्राणी या व्यक्ति उसके आनुवंशिक रूप तथा जीवन में प्राप्त किये गये अनुभवों का ही परिणाम है।

किसी भी जीव का अंतिम रूप अथवा दृश्याकृति, गर्भधारण के समय से आज तक वह जीव जिन जिन परिवेशों में रहा है, उसकी तथा वंशागत रूप से प्राप्त किये गये जीनों की

---

1. आज्ञावली – programme
2. संगणक के यंत्र – hardware
3. परखनली – test tube
4. आनुवंशिक रूप/ जीन रूप – genotype
5. दृश्याकृति – phenotype

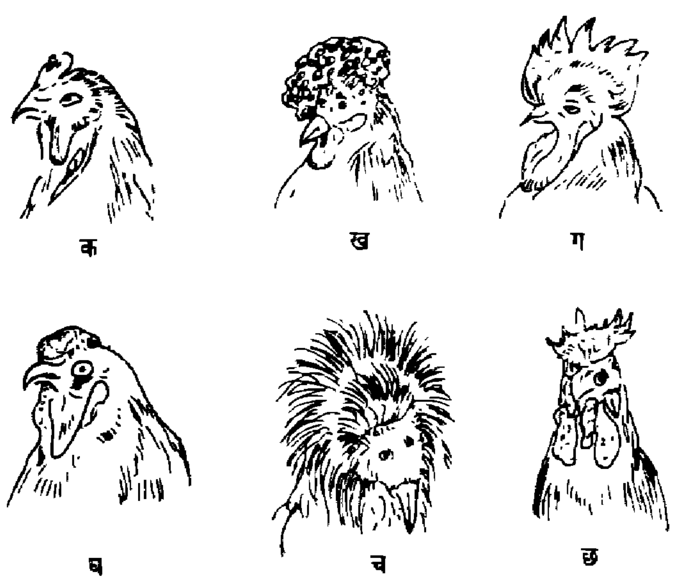
परस्पर क्रिया का ही परिणाम है । इसलिए यदि हम कल्टिजेनों[1] के उन्नत आनुवंशिक रूप या किस्में तैयार करते हैं तो हमे आनुवंशिक रूप तथा परिवेश के प्रभावों को पृथक करना होगा। इस प्रकार, कल्टिजेनों से अधिक अनाज, रेशे, दूध, मांस, अंडे, ऊन तथा अन्य मानवोपयोगी पदार्थ प्राप्त किये जा सकेंगे, परंतु आनुवंशिकता तथा परिवेश की जटिल परस्पर क्रिया को पृथक करना आसान नहीं है । आनुवंशिक रूप तथा परिवेश के घटकों का प्रभाव पृथक रूप से ज्ञात करने में हमें उस प्रयोग- शृंखला को दोहराना होगा जिसकी कल्पना इसी प्रभाव को जानने के लिए की गयी थी । इन प्रयोगों के लिए एक खास कार्यविधि तैयार की गयी है तथा इसका सूचीकरण किया गया है । आज यह स्वयं शिक्षा की एक जटिल शाखा बन चुकी है । इसे 'प्रयोगों की रूपरेखा'[2] बनाने का विज्ञान कहा जाता है । इस विषय पर अभी विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया जायेगा । अभी इतना कहना ही पर्याप्त है कि यह कार्याविधि प्रमुख रूप से एक-दूसरे से निकटस्थ क्यारियों में पौधे उगाते समय अथवा निकट के पिंडजों में या गोशालाओं में नियंत्रित स्थितियों में जानवरों का प्रजनन करते समय समान परिवेश में उत्पन्न बाधाओं को निम्नतम स्तर तक रखने हेतु बनायी गयी है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समान परिवेश में पले-बढ़े जीवों के बाह्यरूप यदि भिन्न हों तो यह अंतर आनुवंशिक रूप से विद्यमान भिन्नता के कारण ही पड़ता है । अत: चित्र-9 के मुर्गों की नस्लों में जो फर्क दिखाई दे रहे हैं वे मुख्यतः आनुवंशिक रूप में भिन्नता की वजह से ही हैं । ऐसा कहना इसलिए उचित लगता है क्योंकि वे सारे समान परिवेश में ही उत्पन्न हुए हैं ।

मोटे तौर पर आनुवंशिक रूप तथा परिवेश के प्रभावों को पृथक करने के लिए जो प्रयोग किये जाते हैं उनमें दो मूलभूत शर्तों का पालन करना आवश्यक हो जाता है । प्रथम शर्त यह है कि पौधे अथवा प्राणी के प्रजनन-समय की स्थिति समान होनी चाहिए अथवा स्थितियां भिन्न हों तो उनकी भिन्नता का अंतर ज्ञात होना चाहिए । दूसरी शर्त यह है कि प्रयोग के लिए एक-से आनुवंशिक रूप के प्राणियों का उपयोग किया जाना चाहिए और यदि इन प्राणियों के आनुवंशिक रूप कुछ भिन्न हैं तो भिन्नता का अंतर ज्ञात होना चाहिए । प्रत्यक्ष प्रयोग करते समय इन दोनों शर्तों का शत प्रतिशत पालन किया जाना संभव नहीं है । परंतु परिवेश को पर्याप्त रूप से नियंत्रित कर उसे प्राय: एक-सा बनाना संभव होता है । प्रयोग के दौरान उपयोग में लाये जाने वाले प्राणियों को तथा पौधों को ऊष्मा-नियंत्रकों[3] में अथवा ताप-स्थायी कमरों[4] में तथा एक-सी मिट्टी में रखकर उनके साथ समान व्यवहार करने से ऐसा किया जा सकता है । परंतु इस प्रकार उत्पन्न की गयी समानता कभी भी संपूर्ण रूप से समानता की स्थिति उत्पन्न नहीं कर सकती, क्योंकि ऐसा करते समय परिवेश के कारण छोटी-सी विषमता उत्पन्न हो जाती है ।

दूसरी शर्त का पालन करना तो और भी अधिक कठिन है । इसमें आनुवंशिक रूप में होने

1. कल्टिजेन – cultigen
2. प्रयोगों की रूपरेखा – design of experiments
3. ऊष्मा नियंत्रक – incubator
4. ताप-स्थायी कमरा – constant-temperature room

वाले परिवर्तनों पर नियंत्रण रखना आवश्यक होता है। परंतु अधिक विकसित जीवों में इस प्रकार का नियंत्रण रखना अत्यधिक कठिन होता जाता है। इस प्रकार का नियंत्रण केवल एककोशी[1] जीवाणुओं में रखा जा सकता है। इन जीवों का प्रवर्द्धन एक कोशिका से दो, दो से चार, चार से आठ ...इस क्रम से होता है। इसी कारण एक-से आनुवंशिक रूप के जीवाणुओं की कालोनियां निर्मित की जा सकती हैं। जीवाणु की एक कोशिका को पृथक कर उसे उचित पोषक माध्यम में रखा जाता है जहां वह विभाजित होकर परिवर्द्धित होती है। इस प्रकार की कालोनियों को क्लोन कहते हैं। आनुवंशिक दृष्टि से किसी जीव की समरूप प्रतिकृति निर्मित करने की प्रक्रिया को क्लोन निर्मिति कहते हैं। जो जीव विखंडन[2] जैसी अलिंगी पद्धति से प्रजनन करते हैं अथवा अंकुर, भूस्तारियों[3] अथवा विरोहकों द्वारा जिनका परिवर्द्धन होता है ऐसे सामान्य वनस्पतियों के क्लोन तैयार करना आसान है। किसी पौधे के छोटे टुकड़ों से उस पौधे की प्रतिकृति बनायी जा सकती है (ग्रीक भाषा के 'क्लोन' शब्द का वास्तविक अर्थ ही टहनी या शाखा होता है)। संतरे जैसे कुछ फलों के वृक्षों को मूल पेड़ से मुकुलन द्वारा चश्मा चढ़ाकर संवर्द्धित करने का काम अनेक पीढ़ियों से किया जा रहा है। ये मूल वृक्ष के क्लोन ही होते हैं। स्टीवर्ड का अलिगी प्रजनन द्वारा तैयार किया हुआ गाजर का पौधा क्लोन का दूसरा उदाहरण है। सामान्यतः गाजर लैंगिक प्रजनन से उत्पन्न होती है। परंतु स्टीवर्ड ने



चित्र 9 : मुर्गे के सिर की कलगिया – हर जाति की एक विशिष्ट कलगी होती है।

1. एककोशी – unicellular
2. विखंडन – fission
3. भूस्तारियों – runners

इसे एक कायिक कोशिका से उत्पन्न किया। इस बात का उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। स्टीवर्ड को इस कार्य में सफलता प्राप्त करने हेतु जिस जटिल तकनीक का उपयोग करना पड़ा वह इस बात का प्रमाण है कि अधिक विकसित वनस्पति और प्राणियों के क्लोन बनाना अत्यधिक कठिन कार्य है। वास्तव में मनुष्य जैसे विकसित प्राणियों के क्लोन बनाना आज भी केवल एक क्षीण सैद्धांतिक संभावना बनी हुई है। परंतु इस तरह की संभावना में हम लोग इसलिए विश्वास करते हैं क्योंकि लैंगिक प्रजनन का विकल्प व्यावहारिक प्रयोगों द्वारा तैयार किया जा चुका है। किसी डिंब को कृत्रिम अथवा यांत्रिक रूप से अथवा रासायनिक तरीके से उद्दीपित करने पर उसका विभाजन प्रारंभ हो जाता है तथा इस असंसेचित डिंब से पूर्ण विकसित जीव उत्पन्न होता है। इसे अनिषेकजनन[1] कहते हैं। अनिषेकजनन के उदाहरण प्रकृति में भी पाये जाते हैं। मधुमक्खी का प्रजनन इसी प्रक्रिया का एक अच्छा उदाहरण है। उसके संसेचित डिंबों से श्रमिक तथा रानी मक्खियां उत्पन्न होती हैं। परंतु असंसेचित डिंबों से अनिषेकजनन द्वारा नर मधुमक्खियां उत्पन्न होती हैं। प्रयोगशाला में अनिषेकजनन के प्रयोगों के लिए सागरीय जीवों का उपयोग किया जाता रहा है। परंतु जैसे जैसे इस दिशा में प्रगति होती गयी, उत्क्रांति के काफी ऊपर के पायदान पर स्थित प्राणी के असंसेचित डिंब से प्राणी उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त होने के प्रमाण प्राप्त होते गए। सन् 1939 में इसी प्रकार खरगोश की उत्पत्ति की जाने की रिपोर्ट प्राप्त हुई। परंतु प्रायः सभी प्राणियों की असंसेचित लिंग-कोशिका अन्य कायिक कोशिकाओं से भिन्न अर्थात अगुणित अथवा मूल सांख्यिकी कोशिका होती है। अतः इस प्रकार उत्पन्न जीव आनुवंशिकता की दृष्टि से अपनी मां के समान नहीं होगा। यह आनुवंशिकतः अन्य सभी जीवों से भिन्न होगा।

अतः किसी प्राणी का आनुवंशिक प्रतिरूप बनाने के लिए वही तकनीक उपयुक्त होगी जिसे स्टीवर्ड एक कोशिका से गाजर का पौधा उत्पन्न करने हेतु उपयोग में लाये थे। इसी तरह की एक अन्य तकनीक प्रोफेसर जॉन गॅर्डन द्वारा खोजी गयी है। विकीरण की सहायता से उन्होंने बड़ी कुशलतापूर्वक मेंढक के एक डिंब का केंद्रक नष्ट करने में सफलता प्राप्त की। विकीरण के प्रभाव से केंद्रक तो नष्ट हुआ परंतु डिंब का अन्य हिस्सा सुरक्षित बचा रहा। फिर एक अन्य जटिल प्रक्रिया द्वारा सामान्य कायिक कोशिका से प्राप्त किये गये केंद्रक को (जिसमें सभी गुणसूत्र एकत्रित होते हैं) उस डिंब कोशिका में प्रविष्ट कराया गया। अभी तक ऐसा माना जाता रहा है कि शरीर की सभी कोशिकाओं के केंद्रक आनुवंशिकतः समतुल्य होते हैं तथा इनमें एक बहुकोशीय विभेदित वयस्क प्राणी के प्रजनन के लिए आवश्यक सारी जानकारियां उपस्थित रहती हैं। इस नयी पद्धति से उत्पन्न की गयी नयी डिंब-कोशिका से एक संपूर्ण मेंढक की उत्पत्ति के बाद इस धारणा को एक ठोस आधार प्राप्त हुआ तथा आज तक जो एक सिद्धांत अथवा कल्पना मात्र थी वह वास्तविकता में बदल गयी। इस प्रकार उत्पन्न किये गये मेंढक आनुवंशिक दृष्टि से समरूप थे, सामान्य थे। इन्हें बनाने हेतु जिस मेंढक के केंद्रक का उपयोग

---

1. यांत्रिक – mechanicces
2. अनिषेकजनन – parthenogenesis

किया गया था उसके जैसे मेंढक ही पैदा हुए थे ।

इस प्रयोग के लिए जॉन गॅर्डन ने जिस कोशिका का उपयोग किया था वह आंतों से प्राप्त की गयी थी । परंतु उसने यदि किसी नर या मादा मेंढक की कोई भी कोशिका इस प्रयोग के लिए इस्तेमाल की होती तो भी उसे यही परिणाम प्राप्त होते । जिस डिंब का केंद्रक नष्ट कर उसमें दूसरा केंद्रक प्रविष्ट कराया गया था,उसका भी महत्व नगण्य है । इस डिंब-कोशिका का उपयोग केवल एक परिवेश देने वाले साधन के रूप में किया गया था । इस तरह गॅर्डन ने प्रयोगशाला में आनुवंशिकत: समरूप मेंढकों की हजारों संतानें उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की ।परंतु मेंढकों के क्लोन तैयार करना दुधारू गायों अथवा मनुष्य जैसे अधिक विकसित प्राणियों के क्लोन बनाने से सर्वथा भिन्न काम है । गाय तथा मनुष्य के डिंब मेंढक के अंडाणु से बहुत अलग होते हैं । यह बात हम लोगों की धारणा के एकदम विपरीत है । मेंढक का अंडाणु मानवीय डिंब या गाय के अंडाणु की तुलना में बहुत विशाल होता है । इसका कारण भी स्पष्ट है । मेंढक का अंडाणु मुर्गी के अंडे के समान होता है । उसमें भ्रूण के विकास के लिए आवश्यक सारे तत्व विद्यमान रहते हैं । संषेचन के तुरंत बाद मानवीय डिंब मां के गर्भाशय की दीवार में प्रवेश करता है तथा गर्भनाल या अपरा[1] बनने के बाद मां द्वारा भ्रूण को पौष्टिक पदार्थ देने के लिए इसी का उपयोग किया जाता है । इसलिए मानव डिंब उससे उत्पन्न होने वाली संतान की तुलना में अत्यधिक छोटा होता है । एच.जे.मुलर ने किसी समय कहा था कि धरती पर रहने वाले सारे लोगों से प्राप्त किये गये डिंबों को एकत्रित किया जाये तो वे केवल एक गैलन के बराबर का स्थान ही घेर सकेंगे । गाय तथा मनुष्य के डिंबों के सूक्ष्म आकार को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इन जीवों के क्लोन बनाना तभी संभव होगा जब सूक्ष्म शल्यक्रिया[2] तथा अन्य प्रायोगिक तकनीकों में काफी सुधार हो जायेगा । किसी सिद्धांतहीन पत्रकार द्वारा प्रायोगिक सफलता प्राप्त कर लेने का दावा करते हुए मानव क्लोन प्राप्त करने की घटना को एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया । यह सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तक तो बन गयी,परंतु अब यह स्पष्ट हो चुका है कि यह पुस्तक जालसाजी का एक उदाहरण है । वह एक विशुद्ध विज्ञान फंतासी है जिसे वैज्ञानिक सत्य के रूप में प्रस्तुत किया गया था । किसी भी स्तनधारी प्राणी का क्लोन बनाना अभी तक संभव नहीं हो सका है;तो फिर मनुष्य की बात तो बहुत दूर की है ।

अधिक विकसित प्राणियों का क्लोन बनाना संभव नहीं है । इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि उनके आनुवंशिक रूपों में होने वाले परिवर्तन किसी अन्य तरीके से रोके जायें । यह काम भी आसान नहीं है । इस कार्य के दौरान कितनी बड़ी बाधा को पार करना होगा,यह भी उस जीव की प्रकृति पर निर्भर करेगा । स्व-निषेचन[3] करनेवाले जीवों का क्लोन बनाना इतना कठिन नहीं है । इन जीवों में एक ही शरीर में स्त्री-डिंब तथा पुरुष-शुक्राणु (स्त्री या पुरुष युग्मक) दोनों ही उत्पन्न किये जाते हैं । डिंब के निषेचन के लिए ये शुक्राणु ही उपयुक्त होते

1. गर्भनाल या अपरा – placenta
2. सूक्ष्म शल्यक्रिया – microsurgery
3. स्वनिषेचन – self fertilization or 'selfing'

हैं। इन्हें उभय-लिंगी[1] कहा जाता है। दोनों लैंगिक अंग इनके एक ही शरीर में होते हैं।

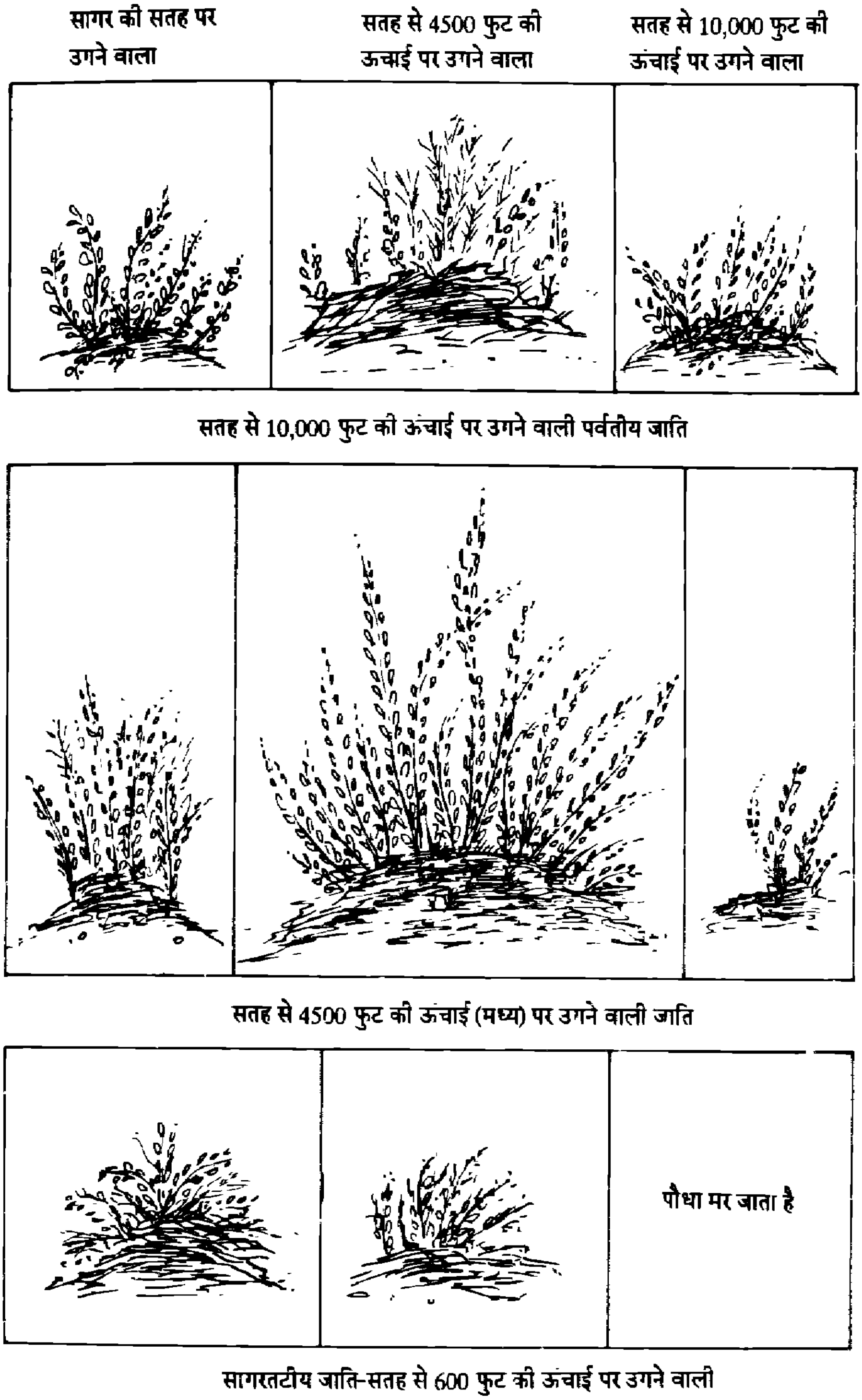
वनस्पतियों की कई जातियों में तथा कुछ प्राणियों में भी उभय-लिंगता[2] एक सामान्य स्थिति है। गेहूं की अधिकांश आवर्द्धित किस्में, जई, जौ, सेम, मटर आदि में स्वनिषेचन का गुण प्रमुख रूप से दिखाई देता है। मीठे पानी में रहने वाले[3] घोंघे इसी प्रकार से प्रजनन करते हैं। एकाकी जीव द्वारा प्रजनित संतानों को विशुद्ध वंशक्रम[4] कहते हैं। विशुद्ध वंशक्रम की संतानों के आनुवंशिक रूप अनिवार्यतः एक समान नहीं होते। परंतु इनके आनुवंशिक रूपों में जो समानता दिखाई देती है वह भिन्न व्यक्तियों द्वारा पर-निषेचन[5] से उत्पन्न संतानों में दिखाई देने वाली समानता से काफी अधिक होती है।

पुरुष-शुक्राणु से स्त्री-डिंब को निषेचित करने की क्रिया के बाद जो लैंगिक प्रजनन होता है, उससे उत्पन्न संतानों के आनुवंशिक रूपों में दिखाई देने वाली विविधता पर नियंत्रण रखना अत्यधिक कठिन कार्य है। किसी एक जनक-युगल के समागम से उत्पन्न होने वाले संभाव्य आनुवंशिक रूपों की संख्या इतनी विशाल होती है कि किसी भी लैंगिक प्रजनन करने वाले जीव के क्लोन अथवा विशुद्ध वंशक्रम प्राप्त करने की कल्पना तक नहीं की जा सकती। इसके कारणों पर अध्याय छह में स्पष्टीकरण दिया गया है। आनुवंशिक रूपों की विविधता को घटाने का एकमात्र उपाय है अंतःप्रजनन। भाई-बहन या ऐसे ही निकट संबंधियों के समागम को अंतःप्रजनन कहते हैं। अंतःप्रजनन की कुछ पीढ़ियों के बाद हमें जो वंश प्राप्त होता है उसे अंतः प्रजात वंशक्रम[6] कहते हैं। वैज्ञानिक प्रयोगों में तथा कृषि व्यवसाय में इसका बहुत महत्व है। इस वंश की संतानों में आनुवंशिक रूपों की दृष्टि से बहुत समानता दिखाई देती है। अंतःप्रजात वंशक्रम को पौधों को भिन्न स्थितियों में बो कर खाद की मात्रा तथा किस्म और जमीन की जाति जैसे परिवेशी कारकों का प्रभाव क्या होता है — इसे ज्ञात किया जा सकता है। प्रयोगशाला में इस्तेमाल किये जाने वाले चूहे, मूषक, गिनीपिग जैसे प्राणियों के अंतःप्रजात वंशक्रम की संतानें लेकर पौष्टिक पदार्थों का प्रभाव, रोगों के प्रति उनकी संवेदन क्षमता, दवाइयों का असर आदि का मापन करना लाभदायक होता है। अध्याय नौ में अंतःप्रजनन तथा विशुद्ध वंशक्रम पर पुनर्विचार करते समय इस संबंध में और अध्ययन किया जायेगा।

परिवेश की वजह से पायी जाने वाली विविधता तथा आनुवंशिक रूपों में विद्यमान भिन्नता को नियंत्रित करने के उपाय खोज लेने के बाद अब यह संभव है कि विभिन्न परिवेशी स्थितियों में एक-से आनुवंशिक रूपों की संतानें उत्पन्न की जायें अथवा एक-से परिवेश में विभिन्न आनुवंशिक रूपों की संतानें पैदा की जायें। चित्र-10 में दिखाये गये तीन पौधों पर गौर किया

---

1. उभय लिंगी – hermaphrodite
2. उभय-लिंगता – hermaphrodism. यह शब्द हर्मोफ्रोडिटस से बना है। हर्मोफ्रोडिटस, हर्मिस तथा एफ्रोडाइट का पौराणिक पुत्र है। इन दोनों के शरीर सल्मासिस नामक अप्सरा से जुड़ गये तथा इस संयुक्त शरीर में दोनों लिंग उपस्थित रहे।
3. मीठे पानी में रहने वाले – sweet water
4. विशुद्ध वशक्रम – pure line
5. पर निषेचन – cross breeding
6. अतः प्रजात वंशक्रम – inbred lines



चित्र 10 : एक पौधे की तीन विभिन्न प्रजातियों का विभिन्न परिस्थितियों मे भिन्न विकास ।

जाये तो एक ही वंश की तीन जातियों के पेड़ हैं जो पहाड़ों पर भिन्न भिन्न ऊंचाइयों पर उगते हैं। चित्र के उर्ध्वाधर स्तंभ में दिखाई देने वाले पेड़ भिन्न आनुवंशिक रूपों के पेड़ हैं तथा उनमें दिखायी देने वाले अंतर विभिन्न ऊंचाई के लिए स्वयं को अनुकूल बना लेने के कारण उनके पूर्वजों में उत्पन्न हुए हैं। एक ही क्षैतिज पंक्ति में दिखाई देने वाले पेड़ों के आनुवंशिक रूप समान हैं तथा ये पेड़ उन पर पड़ने वाले भिन्न परिवेश के प्रभाव को प्रकट करते हैं। हर एक क्षैतिज पंक्ति के पौधे एक ही पेड़ के क्लोन हैं जो उसी पौधे के भिन्न टुकड़ों को अलग अलग स्थानों पर लगाकर तैयार किये गये हैं। यह स्पष्ट है कि ये सारे पेड़ आनुवंशिक दृष्टि से समान हैं अथवा बहुत समरूप हैं। परंतु भिन्न भिन्न परिवेशों में उगाये जाने के कारण एक ही आनुवंशिकता होने के बावजूद बहुत भिन्न दिखाई देते हैं। एक ही आनुवंशिक रूप विभिन्न परिवेशों से भिन्न प्रकार की क्रिया करता है। इसी कारण पौधों का विकास पृथक रूप में होकर उनके बाह्य रूप भिन्न हो जाते हैं। चित्र 10 की मध्य पंक्ति की दाहिनी ओर का छोटा पौधा उसी आनुवंशिक रूप की भिन्न प्रतिक्रिया का परिणाम है जिसके साथ अन्य परिवेश की प्रतिक्रिया से उसी पंक्ति के मध्य का ऊंचा तथा मजबूत पौधा उत्पन्न होता है।

किसी विशिष्ट आनुवंशिक रूप तथा उसके आसपास के परिवेश में होने वाली परस्पर क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले बाह्यरूप इस प्रतिक्रिया के मानकों तथा सीमाओं को दर्शाते हैं। उस आनुवंशिक रूप को परिवेश की जिस विषमता का सामना करना पड़ता है वह वस्तुतः अपरिमित होती है। आनुवंशिक रूप की क्रिया की सीमाएं पूर्णतः ज्ञात करना हमारे लिए कभी संभव नहीं होगा। परंतु मनुष्य या किसी कल्टिजेन के संदर्भ में यह जानना अत्यधिक आवश्यक हो जाता है कि कोई विशिष्ट आनुवंशिक रूप किसी प्राकृतिक या विशेष रूप से निर्मित परिवेश के साथ परस्पर किस प्रकार की क्रिया करेगा। कोई ज्ञात आनुवंशिक रूप किसी विशिष्ट परिवेश में किस प्रकार की प्रतिक्रिया करता है तथा इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले मानकों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात ही कल्टिजेनों की निर्मिति में सुधार करना संभव हुआ है। इसी पद्धति से इस बात की जानकारी प्राप्त करना संभव हुआ है कि कौन-सा विशेष आहार देने पर बछड़ा, गाय, अथवा मुर्गी से कितने पौंड अधिक मांस, कितने किलो अधिक दूध अथवा कितने दर्जन अधिक अंडे पैदा किये जा सकेंगे। इन गुणों पर पड़ने वाला परिवेश का प्रभाव इतना प्रबल होता है कि कृषि व्यवसाय में पशु-आहार, उर्वरक, पानी, तापमान, बोने का समय आदि का व्यवस्थापन बहुत ही सावधानीपूर्वक किये जाने की आवश्यकता होती है। इससे किसी ज्ञात आनुवंशिक रूप से वांछित बाह्य रूप प्राप्त करना संभव होता है।

कल्टिजेनों का व्यावसायिक उत्पादन करने वाले प्रजनकों को दो समस्याओं से जूझना पड़ता है — (अ) ज्ञात आनुवंशिक रूप से उत्कृष्ट किस्म के बाह्य रूप प्राप्त करने हेतु परिशुद्ध अथवा यथार्थ समूह की खोज या निकृष्ट बाह्यरूप के लिए आवश्यक परिवेश की पहचान करना। (ब) ऐसे आदर्श आनुवंशिक रूप की खोज करना जो किसी विशिष्ट परिवेश के लिए लगभग संपूर्णतः अनुरूप हो। हालांकि नानाविध व्यावसायिक फसलों, कृषि के लिए उपयोगी

पशुओं और हमारे मद्यों तथा प्रतिजीवाणु[1] पदार्थों को किण्वन[2] द्वारा उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं के संदर्भ में (अ) का समाधान ढूंढ़ने हेतु पर्याप्त सफलता प्राप्त कर ली गयी है। परंतु शुष्क खेती के लिए प्रतिकूल क्षेत्रों को कृषि योग्य बनाने हेतु परिवेशी बाधाओं को दूर करना तथा इस परिवेश के लिए आदर्श आनुवंशिक रूप की खोज आज भी संयोगवश ही हो सकती है; क्योंकि दूध की मात्रा, बच्चों की संख्या, अंडों का उत्पादन तथा पैदा की गयी फसल की मात्रा आदि आर्थिक लाभ की महत्वपूर्ण चीजें उत्पन्न करने वाले प्राणी या वनस्पति अपने इन गुणों के लिए जिन आनुवंशिक या परिवेशी कारकों पर निर्भर रहते हैं उनकी संख्या काफी अधिक है। इस परस्पर क्रिया की जटिलता के कारण आनुवंशिक तथा परिवेशी प्रभावों को पृथक रूप से देखना प्रायः असंभव हो जाता है। इसी तरह जीनों के किस समुच्चय के कारण जानवरों और वनस्पतियों के बाह्य रूपों में, विशेष रूप से उन अभिलक्षणों में जो मनुष्य के लिए आर्थिक महत्व के हैं, अत्यधिक फर्क पड़ता है, यह ज्ञात करना भी संभव नहीं है। विशिष्ट जीनों को अपरीक्षित समुच्चयों में इस्तेमाल करने से कौन-सा परिणाम प्राप्त किया जा सकेगा — यह बतलाना भी संभव नहीं है। इसी कारण आनुवंशिकता के सभी व्यावहारिक अनुप्रयोगों में आनुवंशिक रूप की सर्वांगसमता[3] पर बल नहीं दिया जाना चाहिए। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि जिन अभिलक्षणों को हम अधिक चाहते हैं उन्हें उत्पन्न करने वाले जीनों की पहचान अभी तक नहीं हो पायी है। आज भी पशु तथा पादप प्रजनकों को उन अनुभवमूलक पद्धतियों पर ही निर्भर रहना पड़ता है जिनमें किसी की आनुवंशिक सामर्थ्य को आंकने के लिए उनकी संतानों अथवा अन्य संबंधियों का अध्ययन किया जाता है। इस हेतु जीनों की पहचान करना संभव नहीं होता। यह एक व्यावहारिक तरीका नहीं है।

---

1. प्रतिजीवाणु पदार्थ – antibiotic
2. किण्वन – fermentation
3. सर्वांगसमता – congruence

3

मेंडेल के नियम

आनुवंशिकता के रहस्य का पता लगाने के लिए जब मेंडेल ने अपने विख्यात प्रजनन प्रयोग प्रारंभ किये तब उस दौरान उन्हें पता चला कि जिन प्रयोगों से उन्होंने कुछ निर्णायक प्रमाणों की अपेक्षा की है वे स्फिंक्स[1] जैसे मूक हो गये थे। चूहों तथा मधुमक्खियों पर किये गये प्रजनन प्रयोग भी उन्हें कुछ न दे सके। उन्हें फिर उसी स्वर्णिम नियम का पालन करना पड़ा जिसमें कहा गया है कि यदि आपके पास किसी विषय पर कहने लायक कुछ भी नहीं है तो आपके लिए मौन धारण करना ही उचित होगा। अतः उन्होंने इन जीवों पर किये गये अनुसंधान कार्य को कहीं भी प्रकाशित नहीं किया। बगीचे में उगाये जाने वाले सामान्य मटर के पौधों पर उन्होंने जो अनुसंधान कार्य किया था उसका लाभ भी उन्हें नहीं मिलता यदि इन प्रयोगों के दौरान प्राप्त किये गये कुछ 'अनियमित तथा अस्थिर' परिणामों को अनदेखा करने की एक असाधारण प्रतिभा उसके पास नहीं होती। इन अनियमित किस्मों के कारण ही वे वांछित निष्कर्षों तक नहीं पहुच पाये थे। ये अनोखे किस्म के मटर किसी संकेत या संदेश[2] को विकृत करने वाले शोर[3] जैसे थे जिनकी वजह से मूल संदेश को ठीक से पहचानना संभव नहीं था। इन अनियमित परिणामों के कारण मेंडेल द्वारा प्रतिपादित की गयी एक साहसिक कल्पना के लिए प्रमाण जुटाना कठिन हो रहा था।

एक प्राचीन धारणा के अनुसार निषेचन के पदार्थ तरल होते हैं तथा उनका स्वरूप किसी अर्क के समान होता है। प्रजनन के समय किसी तरह ये एक-दूसरे से मिल जाते हैं। इस तरह के विचारों के प्रभाव से स्वयं को पृथक रखते हुए मेंडेल ने आनुवंशिकता का स्वरूप विविक्त[4] होने की कल्पना करते हुए कहा कि जैविक आनुवंशिकता का संप्रेषण यूनिटों के रूप में होता है। मेंडेल ने इन यूनिटों को 'कारक' कहा था। आज हम लोग इन्हीं कारकों को जीन कहते हैं। वंशानुगत रूप से प्राप्त होने वाले गुण किस प्रकार संप्रेषित किये जाते हैं इसे दिखाने के लिए मेंडेल ने एक काल्पनिक माडेल की रचना की। इसका परीक्षण करने हेतु प्रायोगिक कार्यविधि भी तैयार की। इस तरह, अभी तक जिन प्रयोगों से उन्हें किसी प्रकार की जानकारी

---

1. स्फिंक्स – मिस्र की विशाल मूर्ति, जिसका शरीर सिंह का तथा सिर मनुष्य का है
2. संकेत या संदेश – signal
3. शोर – noise
4. विविक्त – particulate

या मार्गदर्शन प्राप्त नहीं हो सका था वे प्रयोग ही ऐसी बोली बोलने लगे जो सहजता से समझ में आने वाली भाषा थी । आनुवंशिकता जैसी जटिल घटना अथवा जड़ पदार्थों की गति जैसी सरल घटना भी केवल इन घटनाओं का निरीक्षण करने से अथवा अपने आसपास के परिसर में क्या हो रहा है, इसे देखने से समझ में नहीं आ सकती । इसी कारण मेंडेल के प्रयोगों के माध्यम से जो जानकारी प्राप्त की गयी थी उसका आकलन नहीं हो सका । जब तक इन निरीक्षणों का कोई सैद्धांतिक आधार नहीं होता उन्हें समझना संभव नहीं होगा । लाखों वर्षों तक मनुष्य विभिन्न पिंडों को आकाश से धरती पर गिरते हुए देखता रहा है । परंतु इसका कारण जानने की कोशिश पहले किसी ने भी नहीं की थी । परंतु अरस्तु के प्राचीन सिद्धांत के प्रभाव से मुक्त होकर गौलिलिओ ने जब एक नयी परिकल्पना प्रस्तुत की तब इसका कारण समझ में आ सका । गौलिलिओ ने कहा कि पिंडों की स्थिर या अपरिवर्तित गति बनाये रखने के लिए किसी बल की आवश्यकता नहीं होती; केवल त्वरित गति[1] के लिए ही बल आवश्यक होता है । अपनी परिकल्पना का परीक्षण करने हेतु गौलिलिओ ने पीसा की झुकी हुई मीनार से पिंडों को नीचे गिराया तथा ढलान से पिंडों को नीचे लुढ़काया । इन प्रयोगों द्वारा इस परिकल्पना का सत्यापन किया गया । किसी विशिष्ट घटना को समझने हेतु जब कोई सिद्धांत अथवा पूर्व-संकल्पना प्रस्तुत की जाती है तो वह उचित है अथवा अनुचित इसे ज्ञात करने हेतु जो प्रयोग किये जाते हैं उन्हें बहुत सावधानीपूर्वक नियोजित किया जाना चाहिए । परंतु हम लोग वैज्ञानिकों के बारे में जो विचार रखते हैं वे इस विचार से काफी भिन्न हैं । हमारा यह विश्वास है कि सत्य की खोज करते समय वैज्ञानिक अपने निरीक्षणों को वस्तुनिष्ठ रखते हैं तथा इसी वजह से वे सही निष्कर्षों पर पहुंचते हैं । परंतु हमारी यह धारणा सर्वथा काल्पनिक है । किसी भी निरीक्षण का व्यावहारिक रूप इतना वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकता जितना 'वैज्ञानिक' कहलाने वाले निरीक्षणों का होना चाहिए । मनुष्य का मन उन्हीं चीजों को देखता है जिनकी कल्पना वह कर सकता है । आखिरकार वह कोई कैमरा तो नहीं है जो बिना सोचे समझे अपने दृष्टिपथ में उपस्थित सभी चीजों के चित्र खींच लेता है । मनुष्य की आंखें इससे एकदम भिन्न हैं । आंखें एक अत्यंत वरणक्षम संग्राहक[2] हैं जो अपनी पसंद के अनुसार चीजों को देखती हैं तथा उनकी जानकारी मस्तिष्क की ओर आगे बढ़ाती हैं । जिन्हें वह देखना नहीं चाहतीं, उनका न तो दखल लेती हैं और न ही उनकी जानकारी आगे बढ़ाती हैं ।

मानवीय मन के अत्यधिक वरणक्षम होने की वजह से ऐसा कहा जा सकता है कि सौंदर्य के समान सत्य के दर्शन भी मनुष्य को उसकी आंखों के माध्यम से ही होते हैं । आसपास की बाहरी दुनिया के कारण नहीं । अतः इस बात पर किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि सृजनशील वैज्ञानिक भी अपने विचारों को पूर्णतः वस्तुनिष्ठ रखने में सफल नहीं होते । आत्मनिष्ठता की ओर इन विचारों का काफी झुकाव होता है । प्रत्यक्ष गवेषक वैज्ञानिकों की आत्मकथाओं में इस बात का प्रमाण मिलता है । जॉन डी. वाटसन की 'डबल हेलिक्स'[3] नामक

---

1. त्वरित गति – accelerated motion
2. वरणक्षम संग्राहक – selective receptor
3. 'डबल हेलिक्स' – autobiography of John D. Watson

आत्मकथा इसका एक अच्छा उदाहरण है। विज्ञान का इतिहास ऐसे कितने मृत सिद्धांतों का भार वहन कर रहा है जो काल्पनिक निरीक्षणों पर आधारित हैं अथवा जिनमें ऐसे पदार्थों का उल्लेख है जिनका अस्तित्व ही काल्पनिक है। पुरुष के शुक्राणु में एक बौने[1] अथवा वामनमूर्ति[2] का अस्तित्व होने की बात किसी डच सूक्ष्मदर्शी विज्ञानी[3] ने प्रकाशित की (चित्र-11 देखें)। परंतु यह उसकी कल्पना का ही खेल था। आनुवंशिकी में इस तरह के मृत सिद्धांतों का यह एक अच्छा उदाहरण है। आज भी निरीक्षण तथा गवेषण को पृथक करने वाली सीमारेखा खींचना उतना ही कठिन है जितना कुछ समय पूर्व था। फिर भी वैज्ञानिक अपनी वस्तुनिष्ठता तथा सत्य के प्रति समर्पित हैं। उनका काम ब्रूटस की निम्नलिखित काव्यपंक्तियों के एकदम विपरीत है और इसीलिए उनकी आस्था सत्य तथा वस्तुनिष्ठता में बनी हुई है। इसी वजह से उनकी प्रतिष्ठा बनी हुई है। इन काव्यपंक्तियों को कुछ इस प्रकार से लिख सकते हैं :

'मनुष्य के बुरे काम उसके बाद भी जीवित रहते हैं,
परंतु भले कामों को उसके साथ ही दफना दिया जाता है।'


चित्र 11 : डच सूक्ष्मदर्शी विज्ञानी को शुक्राणु में दिखाई देने वाली वामनमूर्ति।

वैज्ञानिक सिद्धांतों की बात इससे पूर्णत: भिन्न है। मिथ्या तथा आत्मनिष्ठता पर आधारित सिद्धांत धीरे-धीरे समय के साथ नष्ट हो जाते हैं और अंतत: वे विस्मृति के गर्त में विलुप्त हो जाते हैं। जो सही हैं वे ही अपनी वस्तुनिष्ठता तथा वास्तविकता की कसौटी पर खरे उतरते हैं और अमर हो जाते हैं। परंतु प्रयोगों की रूपरेखा तैयार करने वाले आज के वैज्ञानिक अपनी ओर से नये सिद्धांत प्रस्तुत करते समय तथा अपने सिद्धांतों की प्रमुख कल्पना का चुनाव करते समय वैज्ञानिक कल्पना के अलावा सौंदर्यबोधक, भावनात्मक, नैतिक तथा तात्विक आदि कल्पनाओं को भी सम्मिलित कर लेते हैं। यदि अपने सिद्धांत के लिए उन्हें उचित आधार मिल जाता है तो उन्हें कोई अनोखी तथा अत्यधिक महत्वपूर्ण खोज करने का श्रेय भी प्राप्त होता है।

मेंडेल ने अपनी अनोखी प्रतिभा द्वारा आनुवंशिकी के विषय में एक महत्वपूर्ण परिकल्पना प्रस्तुत की जिसमें यह प्रतिपादित किया गया था कि आनुवंशिक रूप का निर्माण पृथक आनुवंशिक यूनिटों द्वारा किया जाता है। ये यूनिट अपने मूल रूप में बिना किसी तनुकरण अथवा सम्मिश्रण के एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को संप्रेषित किये जाते हैं। ये युगप्रवर्तक विचार मेंडेल के प्रयोगों के कारण उत्पन्न हुए — ऐसा कहना संदेह के परे नहीं है। वास्तव में जो कुछ

1. बौना – homunculus
2. वामनमूर्ति – manikin
3. सूक्ष्मदर्शी विज्ञानी – microscopist

हुआ था वह इसके एकदम विपरीत था। आर.ए.फिशर ने जब मेंडेल के प्रयोगों को दोहराने का प्रयास किया तब उसे यह पता चला कि मेंडेल द्वारा प्राप्त किये गये अनुपात-मान हमेशा प्रतिचयन-सिद्धांत[1] के अनुसार अपेक्षित मानों के बहुत निकट थे। इससे ऐसा प्रतीत हुआ कि मेंडेल को उसके प्रयोगों के परिणामों का पुर्वानुमान था तथा वे गैलिलिओ के समान एक प्रत्यक्ष साक्ष्य तैयार कर रहे थे। गैलिलिओ ने गति के नियमों की सत्यता प्रस्थापित करने हेतु ढलान पर पत्थरों को लुढ़काने के प्रयोग किये थे। फिशर के विश्लेषण से यह जानना संभव नहीं है कि मेंडेल ने ये आंकड़े किस तरह प्राप्त किये। परंतु एक बात सच है कि मेंडेल का काम सही था। आनुवंशिकता के सच्चे स्वरूप का पता लगाने हेतु गहरा अध्ययन किया जाना आवश्यक था। मेंडेल ऐसे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने उसका पता लगाया। यह जान लेने के बाद अपनी परिकल्पना को प्रमाणित करने हेतु उन्होंने उचित प्रयोग करने की योजना बनायी। इन प्रयोगों के लिए किसी जीव के अधिकांश अभिलक्षणों को मेंडेल ने अनदेखा करते हुए अपना पूरा ध्यान केवल एक या दो सुस्पष्ट गुणों पर ही केंद्रित किया। इस तरह की योजना बना लेने के बाद मेंडेल ने अपना कार्य प्रारंभ करते समय बाह्य रूप अथवा दृष्याकृति को ही प्रारंभिक गुणों का सेट माना। उन्हें यह ज्ञात था कि कोई भी जीव अपनी विशिष्ट शारीरिक रचना तथा गुणों के कारण ही पहचाना जाता है। इस प्रकार आनुवंशिक रूप कुछ पृथक कारकों का एक सम्मिलित रूप है तथा बाह्य रूप में दिखाई देने वाले कई अभिलक्षणों को ये कारक ही उत्पन्न करते हैं। मेंडेल ने इन दो बातों पर ध्यान देते हुए अपने सुनियोजित प्रजनन प्रयोगों द्वारा इस बात का पता लगाया कि आनुवंशिक शरीर-रचना तथा उसके प्रकट रूप में किस प्रकार के संबंध होते हैं।

लगभग सौ वर्ष पूर्व किये गये इन विख्यात प्रयोगों के दौरान मेंडेल ने अपने मठ में कई किस्म के मटर के पौधे लगाये। ऊंची तथा बौनी जातियों के मटरों के संकरण से उत्पन्न जातियों के पौधों का बार बार उल्लेख किया जाता है। मेंडेल को ऐसा दिखाई दिया कि संकरण द्वारा उत्पन्न संतानों में सारे पौधे ऊंचे थे। मेंडेल ने यह निष्कर्ष निकाला कि जब दो जनकों के गुणों में भिन्नता होती है तब संतान किसी एक जनक से साम्य दिखातीहै,दोनों से नही। दूसरे शब्दों में इसे कुछ इस प्रकार कहा जा सकता है : एक अभिलक्षण का दूसरे से प्रबल होने की वजह से ही ऐसा होता है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रबल अभिलक्षण दूसरे अप्रबल अथवा वशवर्ती अभिलक्षण को संपूर्णतः निष्प्रभ कर देता है। जब मेंडेल ने प्रथम पीढ़ी के संकर पौधों का उपयोग प्रजनन के लिए किया तब दूसरी पीढ़ी के पौधों में ऊंचे तथा बौने किस्म के पौधे उत्पन्न हुए तथा इसका अनुपात 3:1 रहा। दूसरे शब्दों में,बौने पौधे दूसरी पीढ़ी में पुनः उत्पन्न हुए। प्रथम पीढ़ी में बौने पौधे दिखायी नहीं दिये थे। इन निरीक्षणों के आधार पर मेंडेल ने आनुवंशिकता का प्रथम नियम बनाया। इसे पृथक्करण का सिद्धांत[2] कहते हैं। इसके अनुसार जब संकरित पौधे (अथवा प्राणी) प्रजनन करते हैं तब संकर द्वारा किसी एक जनक का प्रभावी

1. प्रतिचयन सिद्धांत – sampling theory
2. पृथक्करण का सिद्धांत – law of segregation

अभिलक्षण अथवा दूसरे जनक का अप्रभावी अभिलक्षण समान बारंबारता[1] से संप्रेषित किया जाता है। परंतु दोनों एक साथ संप्रेषित नहीं किये जाते।

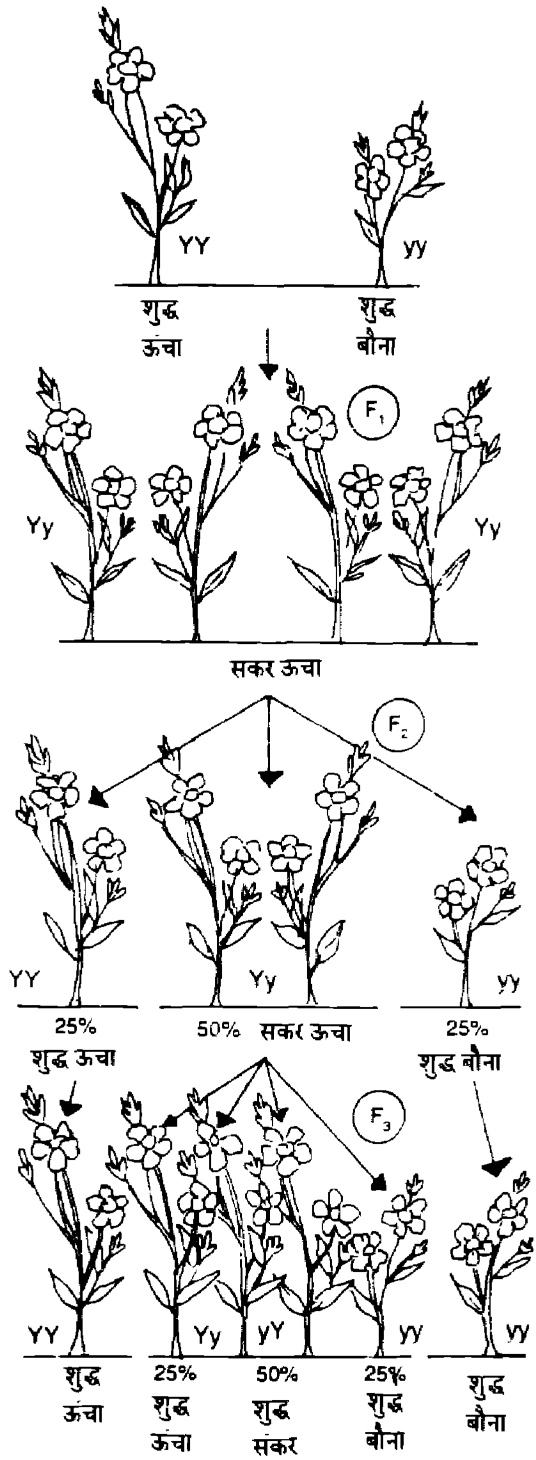
मेंडेल ने अपने प्रयोगों के दौरान पौधों के केवल एक ही अभिलक्षण, ऊंचाई अथवा बौनापन पर ध्यान केंद्रित नहीं किया। उन्होंने अपने अध्ययन में इन अभिलक्षणों के साथ दाने का गोल होना अथवा सिकुड़ा हुआ होना तथा सफेद और लाल रंग के फूल जैसे अभिलक्षणों को भी सम्मिलित किया। विरोधी या विषम अभिलक्षणों की हरेक जोड़ी स्वतंत्र रूप से प्रभाविता तथा पृथक्करण प्रकट करते हुए दूसरी जोड़ियों पर निर्भर नहीं करती। यह मेंडेल का दूसरा नियम है। इसे स्वतंत्र-संव्यूहन का नियम[2] कहते हैं। मेंडेल के ये दो नियम आधुनिक आनुवंशिकी के आधारस्तंभ हैं। पिछले दो अध्यायों में दी गयी आनुवंशिकता संबंधी नयी जानकारी के संदर्भ में हम लोग आधुनिक शब्दों में मेंडेल के इन नियमों की व्याख्या करेंगे।

इसे ठीक-ठीक समझने के लिए मेंडेल द्वारा ऊंचे तथा बौने मटर के पौधों पर किये गये प्रयोगों का पुनरावलोकन करना आवश्यक है। यदि पौधे के आकार को निर्धारित करने वाले जीन को Y कहा जाता है तो जीव की कायिक कोशिका के गुणसूत्रों की विशिष्ट जोड़ी में इस जीन के दो भिन्न रूप उपस्थित होंगे; क्योंकि प्रारंभ के युग्मज में गुणसूत्रों के दो सेट होते हैं जिनमें एक गुणसूत्र पिता से तथा दूसरा मां से प्राप्त किया जाता है। ऊंचाई उत्पन्न करने वाले युग्मविकल्पी[3] को Y तथा बौनापन उत्पन्न करनेवाले को y कहा जाता है। मेंडेल के प्रयोगों के दौरान प्राप्त प्रथम पीढ़ी के ऊंचे पौधे का आनुवंशिक रूप YY तथा बौने पौधे का yy होगा। YY द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले युग्मक में केवल Y होगा तथा yy द्वारा उत्पन्न युग्मक में केवल y होगा। अतः इन दोनों के प्रजनन से उत्पन्न आनुपित्र्य पीढ़ी[4] (F_1) का आनुवंशिक रूप Yy होगा; क्योंकि एक जनक से Y तथा दूसरे से y प्राप्त किया जायेगा। ऊंचे पौधे के लिए उत्तरदायी जीन प्रबल होता है, अतः इस पीढ़ी के सारे पौधे ऊंचे होंगे (चित्र - 12क देखें)। यदि इन ऊंचे संकरित पौधों का उपयोग स्वयं-प्रजनन के लिए किया जाता है तो उत्पन्न संतानों की (F_2) पीढ़ी में तीन किस्म के आनुवंशिक रूप होंगे; क्योंकि Y तथा y से पौधे का आकार निश्चित किया जाता है। इसके अलावा कोई अन्य सम्मिश्रण संभव नहीं है। इस तरह दूसरी पीढ़ी के (F_2) गुणसूत्र संघटन का पूरा ब्यौरा इस पीढ़ी में उपस्थित भिन्न किस्म की संतानों के अनुपात अथवा प्रतिशत से ज्ञात किया जा सकता है। इन अनुपातों को अथवा सापेक्ष बारंबारता को[5] आनुवंशिक रूप बारंबारता[6] कहते हैं।

आनुवंशिक रूपों की बारंबारता का संगणन[7] करते समय हम लोगों को यह पता चलता

---

1. समान बारंबारता – equal frequency
2. स्वतंत्र संव्यूहन का नियम – law of independent assortment
3. युग्मविकल्पी – allele
4. आनुपित्र्य पीढ़ी – filial generation
5. सापेक्ष बारंबारता – relative frequency
6. आनुवंशिकता रूप बारंबारता – genotype frequency
7. संगणन – computing



चित्र 12 क मटर के पौधो की दूसरी आनुपित्र्य पीढी मे ऊचाई तथा बौनेपन को नियत्रित करने वाले कारकों का पृथक्करण।

है कि Yy संकर से स्वयं-संषेचन द्वारा उत्पन्न हर संतान जनक से केवल एक ही जीन लेता है। इसीलिए केवल चार किस्में ही पैदा होती हैं जो निम्नानुसार हैं :

	आनुवंशिक रूप (जीनोटाइप)	बाह्य रूप (फीनोटाइप)
पिता से Y तथा माता से Y	YY	ऊंचा
पिता से Y तथा माता से y	Yy	ऊंचा
पिता से y तथा माता से Y	yY	ऊंचा
पिता से y तथा माता से y	yy	बौना

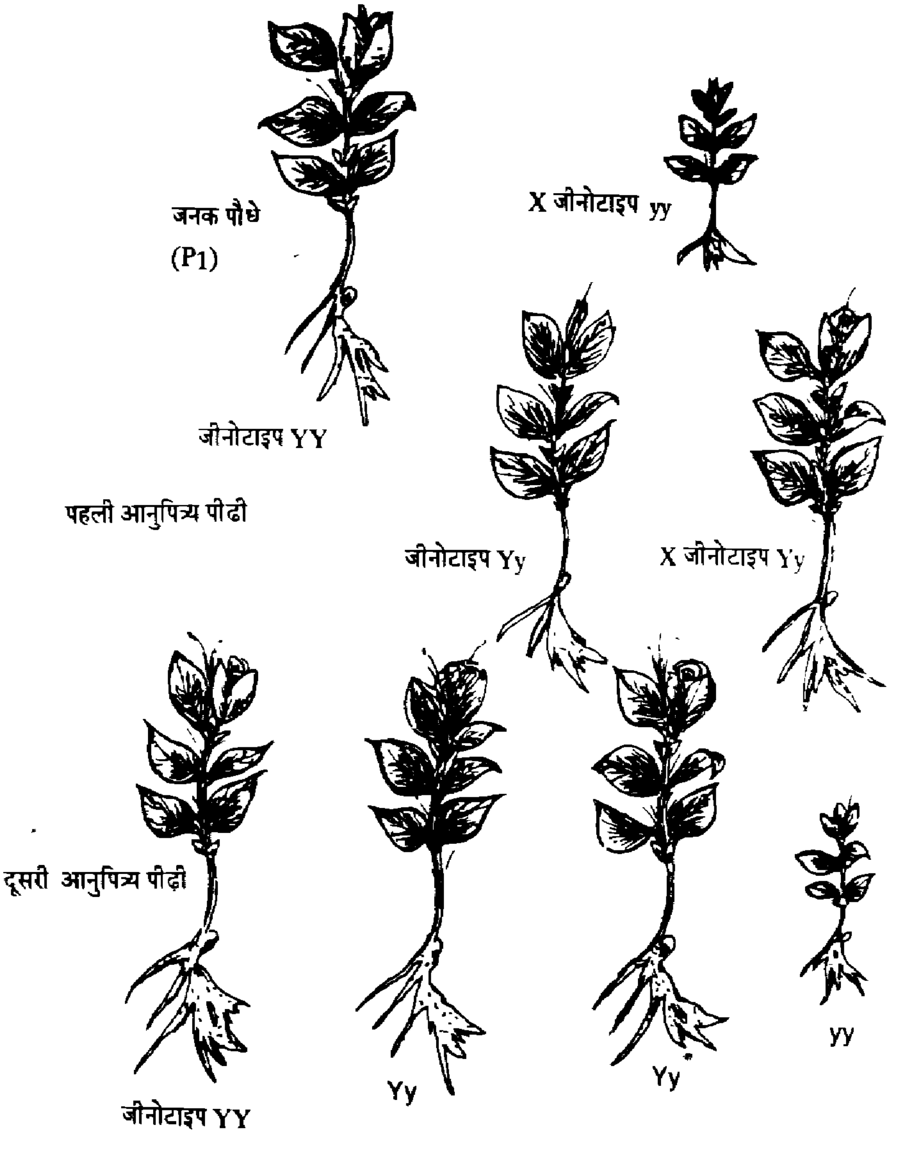
आनुवंशिक रूप Yy में Y माता से प्राप्त किया गया है अथवा पिता से, इस बात का कुछ महत्व नहीं है। Yy तथा yY दोनों एक ही किस्म के आनुवंशिक रूप हैं। यदि प्रजनन याहच्छिक[1] है तो ये चार किस्में उत्पन्न होने की संभाविता[2] समान है। अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि YY, Yy तथा yy आनुवंशिक रूपों के उत्पन्न होने की संभाविता अथवा उत्पत्ति की बारंबारता क्रमशः $^1/_4$, $^2/_4$ तथा $^1/_4$ होगी। इन सभी का योगफल 1 होगा। Y तथा y में से प्रत्येक युग्मविकल्पी जीन की संभाविता अथवा बारंबारता $^1/_2$ है; क्योंकि याहच्छिक प्रजनन में Y तथा y के लिए समान अवसर प्राप्त होते हैं। इनसे उत्पन्न तीन आनुवंशिक रूपों YY, Yy तथा yy की बारंबारता क्रमशः $(^1/_2)^2$, $2\,(^1/2)^1/_2$ तथा $(^1/_2)^2$ होती है। YY तथा Yy आनुवंशिक रूप भिन्न होते हैं, परंतु इनके बाह्य रूप एक समान होते हैं। दोनों से ऊंचे पौधे प्राप्त होते हैं। इसी कारण ऊंचे तथा बौने पौधों का बारंबारता अनुपात $(^1/_4 + {}^2/_4) : {}^1/_4$ अथवा 3:1 होता है जिसे चित्र-12ख में दर्शाया गया है।

इस विवेचन को एक मेट्रिक्स के रूप में अथवा चार खानों वाले फलक पर अधिक संक्षेप में दिखाया जा सकता है। इसे देखकर ही संकरित संतानों के आनुवंशिक रूप तथा बाह्य रूपों की बारंबारता का अनुपात ज्ञात किया जा सकता है। चित्र-13 से (Yy) x (Yy) के संकरण से केवल चार किस्म के आनुवंशिक रूप प्राप्त होने की तथा इनकी संभाविता समान होने की बात स्पष्ट हो जाती है। इनमें दो आनुवंशिक रूप Yy ही हैं। अतः कुल आनुवंशिक रूप केवल तीन ही होंगे। ये केवल दो ही बाह्य रूप उत्पन्न करेंगे; क्योंकि Y युग्मविकल्पी y को प्रभावित कर अप्रबल बना देता है। ये तीन आनुवंशिक रूप हैं – YY, Yy तथा yy। इनका अनुपात 1:2:1 है। परंतु ऊंचे तथा बौने पौधों के बाह्य रूपों का अनुपात 3:1 है; क्योंकि YY तथा Yy इन दो आनुवंशिक रूपों का बाह्य रूप एक समान है। ये दोनों किस्म के पौधे ऊंचे हैं।

YY तथा Yy के बाह्य रूप एक-से होने के बावजूद उनके आनुवंशिक रूप भिन्न हैं। प्रथम सम युग्मज तथा दूसरा विषम युग्मज कहलाता है। yy आनुवंशिक रूप से केवल बौने पौधे

---

1. याहच्छिक – random
2. संभाविता – probability



चित्र 12 ख

ही पैदा होंगे, क्योंकि उनमें दोनों ही युग्मविकल्पी जीन y हैं। YY, जो केवल ऊंचे पौधे ही पैदा करता है, yy के समान सम युग्मज ही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रभावी' के दो आनुवंशिक रूप हैं जिनमें YY जैसा सम युग्मज अथवा Yy जैसा विषम युग्मज सम्मिलित है। परंतु 'अप्रभावी' का केवल एक ही रूप होता है तथा वे हमेशा सम युग्मज ही होते हैं।

जीनों को प्रभावी तथा अप्रभावी जैसे दो किस्मों में वर्गीकृत करना किसी अत्यधिक जटिल

पिता के आनुवंशिक रूप Yy से उत्पन्न होने वाले युग्मक

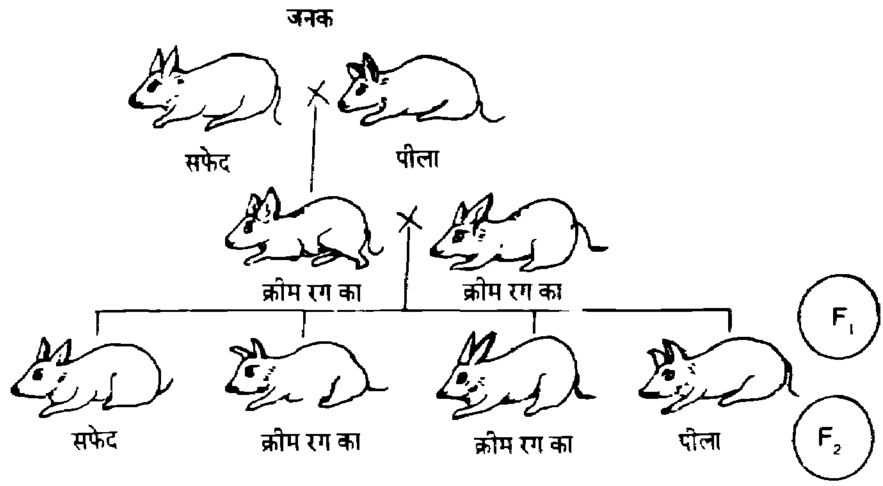
संतानों का आनुवंशिक रूप

माता के जीनोटाइप (आनुवंशिक रूप) Yy से उत्पन्न युग्मक	Y	y
Y	YY ऊंचा	yY ऊंचा
y	Yy ऊंचा	yy बौना

चित्र 13 : यहां तीन जीनोटाइप आनुवंशिक रूपी उपस्थिति हैं परंतु केवल दो ही बाह्य रूप हैं तथा इनका अनुपात 3 ऊंचे 1 बौना है ।

स्थिति का सरलीकरण ही कहा जायेगा; क्योंकि ऐसे जीन भी विद्यमान हैं जिनके युग्मविकल्पी एक-दूसरे पर गहरा प्रभाव नहीं डालते । इसके परिणामस्वरूप विषम युग्मज का बाह्य रूप प्रभावी सम युग्मज से भिन्न होता है । इसलिए यहां तीन पृथक बाह्य रूप दिखाई देते हैं । ये दो बाह्य रूप उन तीन बाह्य रूपों से भिन्न हैं । इन दो बाह्य रूपों में एक युग्मविकल्पी दूसरे पर संपूर्ण प्रभाव डालता है, अतः ये भिन्न होते हैं । इसका एक अच्छा उदाहरण गिनीपिगों की त्वचा के रंग में होने वाले परिवर्तनों को प्रभावित करने वाले जीन में मिलता है । इस जीन के दो युग्मविकल्पी जीन हैं जिन्हें Y तथा y चिह्नों से दर्शाया जायेगा । YY सम युग्मज की खाल का रंग सफेद तथा yy सम युग्मज की खाल का रंग पीला होता है । पीले तथा सफेद के संकरण से उत्पन्न Yy संकर का रंग न तो पीला होता है और न ही सफेद । वह मलाई (क्रीम) जैसे रंग का होता है । यदि मलाई-रंगी संतानों का संकरण किया जाये तो उत्पन्न होने वाली संतानों के तीन आनुवंशिक रूप, YY, Yy तथा yy होंगे तथा इनका अनुपात 1:2:1 होगा (चित्र-14 देखें) । इनसे तीन पृथक बाह्य रूप प्राप्त होंगे जो सफेद, मलाई रंगी तथा पीले होंगे । जब Y अप्रबल y को संपूर्ण रूप से निष्प्रभ करता है तब केवल दो ही बाह्य रूप उत्पन्न होते हैं । इन दोनों प्रकरणों में एक जीन द्वारा दूसरे को आंशिक या संपूर्ण रूप से निष्प्रभ करने के कारण आनुवंशिक रूपों की बारंबारता परिवर्तित नहीं होती : यह मान 1(YY): 2(Yy) : 1(yy) ही बना रहता है ।

उपर्युक्त आनुवंशिक रूपों की बारंबारता दो संकरों अथवा विषम युग्मज के प्रजनन से प्रकट होती है । अब हम लोगों को एक अन्य महत्वपूर्ण घटना पर भी गौर करना चाहिए जहां एक विषम युग्मज तथा दूसरा सम युग्मज समागम करते हुए प्रजनन करते हैं । केवल ऊंचाई तथा बौनपन– इन दो अभिलक्षणों पर ही ध्यान केंद्रित करने पर हम लोगों को यह पता चलता



चित्र 14 तीन बाह्य रूपों की बारबारता।

है कि ऊंचे विषम युग्मज का आनुवंशिक रूप Yy होता है तथा सम युग्मज का yy। चार खानों वाले फलक का उपयोग करने से यह दिखाई देता है कि इनकी संतानों में दो किस्म के आनुवंशिक रूप ही होंगे — Yy (ऊंचे) तथा yy (बौने) (चित्र-15 देखें)।

विषम युग्मज Yy तथा सम युग्मज YY के समागम से भी यही परिणाम प्राप्त होंगे, अर्थात YY तथा Yy समानुपाती आनुवंशिक रूप प्राप्त होंगे। परंतु ये दोनों किस्में ऊंचे पौधों की ही होंगी क्योंकि हर एक में प्रबल युग्मविकल्पी Y उपस्थित हैं (चित्र-16)।

प्रथम पीढ़ी के विषम युग्मज तथा पैतृक पीढ़ी के एक सम युग्मज से प्राप्त संतानों को चित्र 15 तथा 16 में दिखाया गया है। इसे पितृ संकरण[1] या संकरपूर्वज संकरण कहते हैं। इस पद्धति से प्रजनन करने वाले जनक पुनः उत्पन्न होते हैं। इसीलिए इसे यह नाम दिया गया है। संतानों की इस पीढ़ी को R_2 पीढ़ी कहते हैं।

पौधों तथा प्राणियों पर किये जाने वाले प्रयोगों के दौरान उनमें से किसी का भी आनुवंशिक संगठन ज्ञात करने के लिए पितृ-संकरण को एक महत्वपूर्ण साधन रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इस विषय पर अधिक जानकारी अध्याय नौ में दी जायेगी। इस पद्धति से यह जानना संभव है कि F_1 पीढ़ी में दो प्रबल युग्मविकल्पी हैं अथवा एक प्रबल तथा अन्य अप्रबल हैं। परंतु संकरण के समय अप्रबल युग्मविकल्पी का ही उपयोग करना उचित होता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। यदि पितृ-संकरण के लिए किसी प्रभावी युग्मज का उपयोग किया जाता है तो प्रबल जीन के कारण उत्पन्न होने वाली सभी संतानें एक जैसी दिखाई देंगी, अर्थात सभी का बाह्य रूप एक-सा होगा। इसके विपरीत अप्रबलों की रचना या बनावट ज्ञात होती है क्योंकि

1. पितृ सकरण/ सकरपूर्वज सकरण – back cross

पिता के आनुवशिक रूप Yy से उत्पन्न होने वाले युग्मक

सतानो का आनुवशिक रूप

माता के जीनोटाइप (आनुवंशिक रूप) yy से उत्पन्न युग्मक	Y	y
y	Yy ऊंचा	yy बौना
y	Yy ऊंचा	yy बौना

चित्र 15 : इन आनुवशिक रूपो मे दो ऊचे Yy तथा दो बौने yy समान अनुपात मे पाये जाते हैं ।

वे सम युग्मज होते हैं; तथा विषम युग्मजों से उत्पन्न संतानों को प्रबल तथा अप्रबल जीनों के रूप में पहचानना संभव है ।

अभी तक के विश्लेषणों में हम लोगों ने केवल एक जोडी जीनो के पृथक्करण पर ही विचार किया है तथा यह मेंडेल के प्रथम नियम पर ही आधारित है । परंतु जीनों की दो या तीन जोड़ियों का आचरण किस प्रकार का होता है, इस पर विचार करते समय हमें मेंडेल के स्वतंत्र-संव्यूहन के नियम का सहारा लेना होगा । इस नियम के अनुसार जब दो या तीन जोड़ियों के जीनों का पृथक्करण होता है तब हरेक जोड़ी का पृथक्करण स्वतंत्र रूप से होता है । अब हम लोग अतिरिक्त गुण का भी विचार करेंगे जो मटर के दानों में सिकुड़न अथवा गोलाई उत्पन्न करता है । यदि गोल दानों के लिए उत्तरदायी जीन को R तथा सिकुड़े दानों के लिए

पिता के आनुवशिक रूप Yy से उत्पन्न होने वाले युग्मक

सतानों का आनुवंशिक रूप

माता के जीनोटाइप (आनुवशिक रूप) YY से उत्पन्न युग्मक	Y	y
y	YY ऊचा	Yy ऊचा
Y	YY ऊंचा	Yy ऊचा

चित्र 16 : आनुवशिक रूप दो होंगे जिनका अनुपात एक सा होगा, परतु बाह्य रूप केवल एक ही प्राप्त होगा सभी ऊचे होगे ।

उत्तरदायी जीन को r कहा जाता है तो इनके संकर से उत्पन्न आनुवंशिक रूप Rr होगा। Rr के संकरण से तीन आनुवंशिक रूप उत्पन्न होंगे जो RR, Rr तथा rr होंगे और उनका अनुपात 1:2:1 होगा। परंतु इनमें केवल दो ही बाह्य रूप होंगे – चिकने तथा गोल दानें वाले तथा उनका अनुपात पहले की तरह ही 3:1 होगा। परंतु R जीनों का वियोजन पूर्व में हुए Y जीनों के वियोजन से प्रभावित नहीं होगा। यह स्वतंत्र रूप से होगा। पैतृक रचनाएं R तथा Y जिस समूह में उपस्थित हैं उन्हें बनाये रखने की कोई आवश्यकता संतानों के लिए नहीं होगी तथा इनके प्रभावी तथा अप्रभावी जीनों का पृथक्करण एक साथ होना भी आवश्यक नहीं है। इसका पर्यवसान एक गणितीय सम्मिश्रण उत्पन्न होने में होता है। इसमें पायी जाने वाली जीनों की दोनों जोड़ियों में 3:1 का अनुपात होता है। इसका अर्थ यह है कि इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले चार बाह्य रूपों का अनुपात 9:3:3:1 होगा। निम्नलिखित कथन से यह अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

ऊंचाई तथा दानों की गोलाई दोनों ही प्रबल अभिलक्षण होने की वजह से YYRR द्वारा चिह्नित दोहरा प्रबल सम युग्मज गोल दानों वाला ऊंचा पौधा होगा। इन पौधों से उत्पन्न युग्मकों में हर युग्मविकल्पी जोडी का एक जीन होगा। इसलिए ये सभी एक-से होते हैं तथा इनमें Y तथा R जीन होते हैं। इसी तरह yyrr – यह दोहरा अप्रबल जीनों का पौधा बौना होगा तथा इसके दानें सिकुड़े हुए होंगे। इससे उत्पन्न सभी युग्मकों में y तथा r उपस्थित होंगे। इन दो किस्मों के एक एक पौधे के संकरण द्वारा उत्पन्न F_1 पीढ़ी की सभी संतानों का आनुवंशिक रूप एक-सा होगा जो दोहरा विषम युग्मज YyRr होगा तथा ये सारे पौधे ऊंचे होंगे और इनके दाने चिकने होंगे।

अब F_1 पीढ़ी के समान जनकों में होने वाले समागम का विचार करें। हर एक सहयोगी से चार युग्मक प्राप्त होंगे जो YR, Yr, yR तथा yr होंगे तथा इनकी संख्या भी समान होंगी। इन चार युग्मकीय किस्मों को 4x4 = 16 संभाव्य प्रकार से मिलाया जा सकता है। इसे चित्र

पिता के आनुवशिक रूप Yy Rr से प्राप्त युग्मक सतानो के आनुवंशिक रूप

		YR	Yr	yR	yr
मां के आनुवंशिक रूप yY Rr से प्राप्त	YR	YY RR ऊचा, गोल	YY Rr ऊचा, गोल	Yy RR ऊंचा, गोल	Yy Rr ऊचा, गोल
	yr	YY Rr ऊंचा, गोल	YY rr ऊचा, सिकुड़ा हुआ	Yy Rr ऊचा, गोल	Yy rr ऊचा, सिकुड़ा हुआ
	yR	Yy RR ऊंचा, गोल	Yy Rr ऊचा, गोल	yy RR बौना, गोल	yy Rr बौना, गोल
	yr	Yy Rr ऊंचा, गोल	Yy rr ऊंचा, सिकुड़ा हुआ	YY Rr बौना, गोल	yy rr बौना, सिकुड़ा हुआ

चित्र 17 : यहां नौ जीनो टाइप (आनुवंशिक रूप) और केवल चार बाह्य रूप हैं।

17 में दिखाया गया है। परंतु प्रबल जीनों की उपस्थिति के कारण इनमें केवल चार ही बाह्य रूप होंगे। इनमें नौ पुनर्मिलाई पौधे ऐसे हैं जिनमें युग्मविकल्पी R अथवा Y में से कम से कम एक जीन उपस्थित होता है। इसीलिए गोल दानों के पौधे ऊंचे होते हैं। तीन rr तथा एक Y होने की वजह से वे सिकुड़े हुए दानों के ऊंचे पौधे होते हैं। अब केवल एक ही पौधा शेष है जो yyrr किस्म का होगा तथा यह बौना होगा और उसके दाने भी सिकुड़े हुए होंगे। ये चार गुट 9:3:3:1 के अनुपात में पैदा होंगे; क्योंकि दो 3:1 अनुपात के समेकन से उत्पन्न यह एक गणितीय सम्मिश्रण है जिसे पूर्व में दिखाया जा चुका है। यह (F_2) आनुपित्र्य पीढ़ी की बारंबारता को भी दर्शाता है। इसी अनुपात को अधिक सरलतापूर्वक प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित पद्धति का उपयोग किया जा सकेगा। ऊंचे तथा बौने पौधों को क्रमशः T तथा t चिह्नों से दर्शाया जाये तथा गोल और सिकुड़े हुए दानों को W तथा w से, तो एकत्रित 3:1 अनुपात चार अभिलक्षणों के गुणनफल से प्राप्त होंगे – $(3T + t)(3W + w) = 9TW + 3Tw + 3tW + tw$ = (ऊं+गो) (ऊं+सि) (बौ+गो) (बौ+सि)। इस प्रकार चार अभिलक्षणों के पौधे 9:3:3:1 के अनुपात में प्राप्त होंगे।

चित्र-17 में यह भी दर्शाया गया है कि प्रबलता के अभाव में वियोजन किस प्रकार होगा। भिन्न आनुवंशिकता के इन पौधों को पृथक करना संभव है। इनके नौ बाह्य रूप निम्नानुसार होंगे :

YYRR,	YYrr,	YyRR,	YYRr,
YyRr,	yyRr,	Yyrr,	yyRR,
	yyrr		

यदि चित्र-17 में दर्शाये गये इन बाह्य रूपों की गणना की जाये तो यह ज्ञात होगा कि इनका अनुपात 1:1:2:2:4:2:2:1:1 होता है।

पहले के समान ही उस पितृ-संकरण के कारण उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों की जांच महत्वपूर्ण है जिसमें दो स्वतंत्र रूप से संव्यूहन कर रहें युग्म विकल्पी शामिल हों। हम जानते हैं Yy Rr चिन्हित दोहरा सम-युग्मज गोल दानों वाला ऊंचा पौधा होगा इसलिए इससे समान संख्या में चार प्रकार के युग्मज – YR, Yr, yR, yr पैदा होंगे। साथ yyrr चिह्नित दोहरे अप्रबल सम युग्मजी सिकुड़े हुए दानों वाले बौने पौधे से केवल एक प्रकार (yr) का युग्मज उत्पन्न हो सकता है। अतः इन दोनों के समागम से चार प्रकार की सन्तानें उत्पन्न होंगी – ऊंची और गोल दानों वाली, ऊंची और सिकुड़े हुए दानों वाली, बौनी और गोल दानों वाली तथा बौनी और सिकुड़े हुए दानों वाली। चूंकि यह Re पीढ़ी से उत्पन्न पितृ-संकरण है इसलिए इसमें समान संख्या में पृथक्करण होगा जैसा कि चित्र-17 में सबसे नीचे की क्षैतिज पंक्ति में प्रदर्शित किया गया है।

इसे हमने अब तक दोनों ही मौलिक परिस्थितियों में मेंडेल के दूसरे नियम की कार्य प्रणाली का विश्लेषण किया है। इस उद्देश्य के लिए हमने अब तक केवल सरलतम परिस्थितिओं पर विचार किया है जहां केवल एक और दो जोड़ी युग्म विकल्पों का पृथक्करण हो रहा है। परन्तु दूसरा नियम उन परिस्थितियों पर भी समान रूप से लागू होता है जिनमें युग्म विकल्पों के

तीन अथवा और अधिक जोड़े शामिल हों। अब यह दर्शाया जा सकता है कि जब दोनों जनक विषम युग्मज होते हैं तथा इनमें उपस्थित जीनों की तीनों जोड़ियां युग्मविकल्पी होती हैं तब इनके समागम के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली त्रि-संकरित संतानों का अनुपात तीन स्वतंत्र 3:1 अनुपाती समूहों को उत्पन्न करता है। इसका अर्थ यह है कि यह अनुपात 27:9:9:9:3:3:3:1 होगा। इसे मेट्रिक्स पद्धति से दर्शाया जा सकता है। इस पद्धति का उपयोग हम पहले भी कर चुके हैं। परंतु इसे प्राप्त करने की एक अधिक सरल पद्धति है (3T + t) (3W + w) (3C + c) के गुणनफल से इसे प्राप्त किया जा सकता है। यहां C तथा c लाल तथा सफेद फूलों के पौधों के प्रबल तथा अप्रबल युग्मविकल्पियों के लिए उपयोग में लाये गये हैं।हम देखते हैं कि (3T + t) (3W + w) (3C + c) = 27TWC + 9TwC + 9tWC + 9Twc + 3Twc + 3tWc + 3twC + twc = 27 (ऊंचे, गोल तथा लाल) + 9(ऊंचे, सिकुड़े, लाल) + 9(बौने, गोल, लाल) + 9(ऊंचे गोल, सफेद) + 3(ऊंचे, सिकुड़े, सफेद) + 3(बौने, गोल, सफेद) + 3(बौने सिकुड़े, लाल) + 1(बौने, सिकुड़े, सफेद)।

दूसरे शब्दों में अब आठ बाह्य रूपों के पौधे 27:9:9:9:3:3:3:1 अनुपात में प्राप्त होते हैं। इनके 27 आनुवंशिक रूप हैं। इसलिए कि इन 27 किस्मों के पौधों में प्रबलता का अभाव होने की वजह से हर आनुवंशिक रूप का प्रभाव स्वतंत्र रूप से प्रकट होगा।

तीनों प्रबल अभिलक्षण प्रकट करने वाले त्रि-विषम युग्मज[1] Yy Ww Cc तथा तीनों अप्रबल जीनों से बने yy ww cc युग्मज के समागम से उत्पन्न संतानों के तीन बाह्य रूप होंगे। इनकी संख्या भी समान होगी। परंतु तीनों कारकों की दृष्टि से यह एक पितृ-संकरण कहलायेगा। इससे यह पता चलता है कि मेंडेल के दूसरे नियम से पृथक रूप से पैदा हुए जीनों को एकत्रित करने का अवसर प्राप्त होता है। यह पद्धति कल्टिजीनों का प्रजनन करने वालों के लिए बहुत लाभदायक है; क्योंकि इससे भिन्न गोत्रों तथा वंशों में विद्यमान लाभदायक गुणों को किसी एक व्यक्ति में एकत्रित करना संभव हो जाता है। परंतु जीनों के अनुकूल समुच्चय बनाने के काम को व्यावहारिक रूप देने में बहुत-सी बाधाएं पार करना आवश्यक हो जाता है; क्योंकि मेंडेल ने जिस तरह के स्वतंत्र संव्यूहन की कल्पना की थी उसके बहु.. से अपवाद हैं। जीनों का स्वतंत्र संव्यूहन न होने की वजह से ही ये अपवाद उत्पन्न हुए हैं। संव्यूहन जीनों के पैकेटों का अथवा गुणसूत्रों का होता है। यदि दो प्रबल जीन Y तथा R एक ही गुणसूत्र में एक साथ उपस्थित होते हैं तो उनकी प्रवृत्ति हमेशा साथ साथ रहने की होती है।

फिर अधिकांश समय इन दोनों का संव्यूहन एक साथ होता है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुतः वे दो भिन्न जीन न होकर एक ही जीन हैं। इस प्रकार के लक्षण तथा उन्हें उत्पन्न करने वाले जीनों को 'सहलग्न'[2] जीन कहते हैं। संलग्नता[3] दो या दो से अधिक युग्मविकल्पी जीनों

1. त्रि-विषम युग्मज – triple hetrozygote
2. सहलग्न जीन – linked gene
3. सलग्नता – linkage

की जोड़ियों की उस प्रवृत्ति को कहते हैं जिसमें इनका संव्यूहन एक साथ होता है। मेंडेल के दूसरे नियम के अनुसार यह संव्यूहन स्वतंत्र रूप से होना चाहिए, परंतु गुणसूत्रों की एक ही जोड़ी में उपस्थित रहने के कारण इस नियम का पालन नहीं किया जाता। संलग्नता मेंडेल के दूसरे नियम का एक अपवाद है। परंतु इससे आनुवंशिकीविदों को लाभ होता है क्योंकि संलग्नता के अध्ययन द्वारा ही आनुवंशिकीविदों ने गुणसूत्रों के स्थान निर्धारित करने में तथा गुणसूत्रों के मानचित्र बनाने में सफलता प्राप्त की है। इस बात पर अधिक विचार अगले अध्याय में होगा।

4

सहलग्नता तथा गुणसूत्रों की स्थलाकृति

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि जीनों के संव्यूहन संबंधी मेंडेल के दूसरे नियम की पुष्टि सभी स्थितियों में नहीं होती। अब इस नियम के बहुत से अपवाद सामने आ रहे हैं। यह असंभव नहीं है कि स्वयं मेंडेल के कुछ निरीक्षण भी उनके दूसरे नियम की पुष्टि नहीं कर पायेंगे। परंतु मेंडेल ने अपनी आविष्कारी प्रतिभा के कारण ऐसे निरीक्षणों पर ध्यान नहीं दिया होगा। यदि मेंडेल ने ऐसा न किया होता तो आनुवंशिकता के रहस्य का पता लगाने में उन्हें कदापि सफलता न मिलती। परंतु उन्हें दूरदृष्टि का ऐसा वरदान प्राप्त था कि वे अपने समकालीनों से बहुत आगे की कल्पना कर सकते थे। परंतु इस प्रकार के वरदान से एक शाप भी जुड़ा रहता है। ऐसे व्यक्ति के जीवनकाल में उसके कार्य की घोर उपेक्षा की जाती है। मेंडेल के साथ भी यही हुआ। उन्होंने अपना चिरप्रतिष्ठित शोधपत्र 1866 में प्रकाशित किया था। परंतु लगभग 35 साल तक इस रिपोर्ट की उपेक्षा की गयी। अंततः 1900 में तीन जीव वैज्ञानिकों ने इसे खोज निकाला। यह एक संयोग ही था। इस शोधपत्र ने एक नयी उत्सुकता को जन्म दिया तथा एक नयी चेतना जगी। मानव तथा अन्य प्राणी इन नियमों का पालन करते हैं अथवा नहीं — इसे ज्ञात करने के प्रयास किये जाने लगे। अनुसंधानकर्ताओं द्वारा किये गये प्रयोगों से प्राप्त परिणामों की बाढ़-सी आ गयी, परंतु इनमें कुछ परस्पर विरोधी नतीजे भी दिखाई दिये। कुछ ने इन नियमों की पुष्टि की, तो कई परिणामों से किसी भी प्रकार का निष्कर्ष निकालना संभव नहीं हुआ। कुछ परिणाम तो पूर्णतः विपरीत थे। इस कारण जीवविज्ञानी असमंजस में पड़ गये। असमंजस की यह स्थिति अधिक समय तक बनी रहती, यदि टी.एच. मॉर्गन इसे समाप्त करने हेतु केला मक्खी अथवा *ड्रोसोफिला मेलेनोगास्टर* की ओर आकर्षित होकर उस पर प्रयोग करना प्रारंभ न करते।

मॉर्गन को केला मक्खी के रूप में अपने प्रयोगों के लिए एक आदर्श विषय प्राप्त हुआ। यह मक्खी अपने जन्म के बाद बारहवें दिन लैंगिक दृष्टि से प्रजनन करने योग्य हो जाती है और इसके बाद बारह दिनों में 300 के लगभग बच्चे पैदा करती है। इसलिए प्रारंभ में एक ही मक्खी होते हुए भी एक साल में इसकी 30 पीढियां पैदा हो सकती हैं। मनुष्य की तीस पीढ़ियों के लिए एक हजार वर्षों का समय लग सकता है। इसके अतिरिक्त इस मक्खी की

शारीरिक रचना बहुत सरल है। इसके गुणसूत्रों की केवल चार ही जोड़ियां होती हैं। मनुष्य में यही संख्या 23 है। इसके कुछ अभिलक्षण आसानी से पहचाने जा सकते हैं और यही इसकी विशेषता है।

ड्रोसोफिला पर प्रयोग करते हुए मॉर्गन ने यह सिद्ध किया कि मेंडेल के नियमों का पालन दृढ़ता से ही किया जाता है, परंतु आनुवंशिकता की कार्यविधि इतनी सरल नहीं है जितनी सरल मेंडेल ने समझ रखा था। मॉर्गन ने तथा उनके छात्रों-सहयोगियों हर्मन जे. मुलर, काल्विन बी. ब्रिजेस, ए.एच. स्टुर्टेवांट आदि ने जीनों की कई जटिल कार्यपद्धतियों का पता लगाया। उन्होंने मेंडेल के दूसरे नियम के अपवादों का विशेष रूप से पता लगाया तथा उस पर यह विचार प्रकट किया कि इन अपवादों का कारण मेंडेल की मौलिक खोज में कुछ दोष अथवा त्रुटि होना नहीं है; परंतु यह इसलिए होता है कि उस समय मेंडेल को इस बात का पता नहीं था कि जिसे उन्होंने कारक का नाम दिया था अथवा जिन्हें हम जीन कहते हैं उनका स्वतंत्र रूप से संव्यूहन नहीं होता। वे जिन पैकेटों में बंद रहते हैं तथा जिन्हें गुणसूत्र कहा जाता है उनका संव्यूहन होता है।

उदाहरण के लिए दो विषम युग्मज युग्मविकल्पी जीनों, Aa तथा Bb पर गौर किया जाये। ये दोनों गुणसूत्रों की एक ही जोड़ी में उपस्थित हैं। एक गुणसूत्र में A तथा B दूसरे में a तथा b उपस्थित हैं, ऐसा मान लिया जाये। अतः दोहरे संकरित संतान का आनुवंशिक रूप A/B a/b द्वारा दर्शाया जायेगा। यहां संपूर्ण चिह्न समजात जोड़ी के एक गुणसूत्र के लिए है तथा उसमें दिये गये अक्षर उपस्थित जीनों अथवा युग्मविकल्पियों को दर्शाते हैं। अर्द्धसूत्रण के दौरान गुणसूत्रों की समजात जोड़ियां पृथक हो जाती हैं तथा A/B को एक युग्मक के आधे हिस्से में तथा a/b को दूसरे अर्द्धांग में भेजा जाता है। इसके विपरीत, सम युग्मज जोड़ी a/b a/b केवल एक ही किस्म के युग्मक उत्पन्न करता है, जिनमें a/b रहता है। इन दोनों के समागम से पितृ-संकरण पीढ़ी पैदा होगी जिसमें केवल दो ही वर्ग होंगे A/B – a/b तथा a/b-a/b। यदि स्वतंत्र संव्यूहन होता तो चार वर्ग प्राप्त होते।

जिन दो स्थितियों पर अभी विचार किया मया है, वे एक-दूसरे से भिन्न हैं। प्रथम स्थिति में, दोहरे विषम युग्मज के प्रभावी जीन A तथा B एक साथ एक ही गुणसूत्र में तथा अप्रभावी जीन a एवं b दूसरे गुणसूत्र में जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि दो प्रभावी जीन एक ही गुणसूत्र में एक-दूसरे से जुड़ गये और दोनों अप्रभावी जीन दूसरे गुणसूत्र में। यदि दोहरे अप्रबल के साथ इनका समागम होता है तो यही संगठन बरकरार रहता क्योंकि दोहरी प्रभावी तथा दोहरी अप्रभावी किस्में ही उत्पन्न होंगी। ऐसी स्थिति, जहां दोहरे प्रबल या दोहरे अप्रबल एक साथ बने रहते हैं, 'संलग्नता'[1] कहलाती है। दूसरी स्थिति में एक प्रभावी तथा एक अप्रभावी जीन प्रत्येक सम युग्मज में होता है। पितृ-संकरण के दौरान होने वाले वियोजन के समय में भी वे एक साथ ही रहते हैं। इस स्थिति में केवल दो वर्ग ही उत्पन्न होते हैं तथा हर एक में एक प्रभावी तथा एक अप्रभावी जीन रहता है। अतः पूर्व की स्थिति से यह कुछ भिन्न है क्योंकि दोनों

1. संलग्नता – coupling

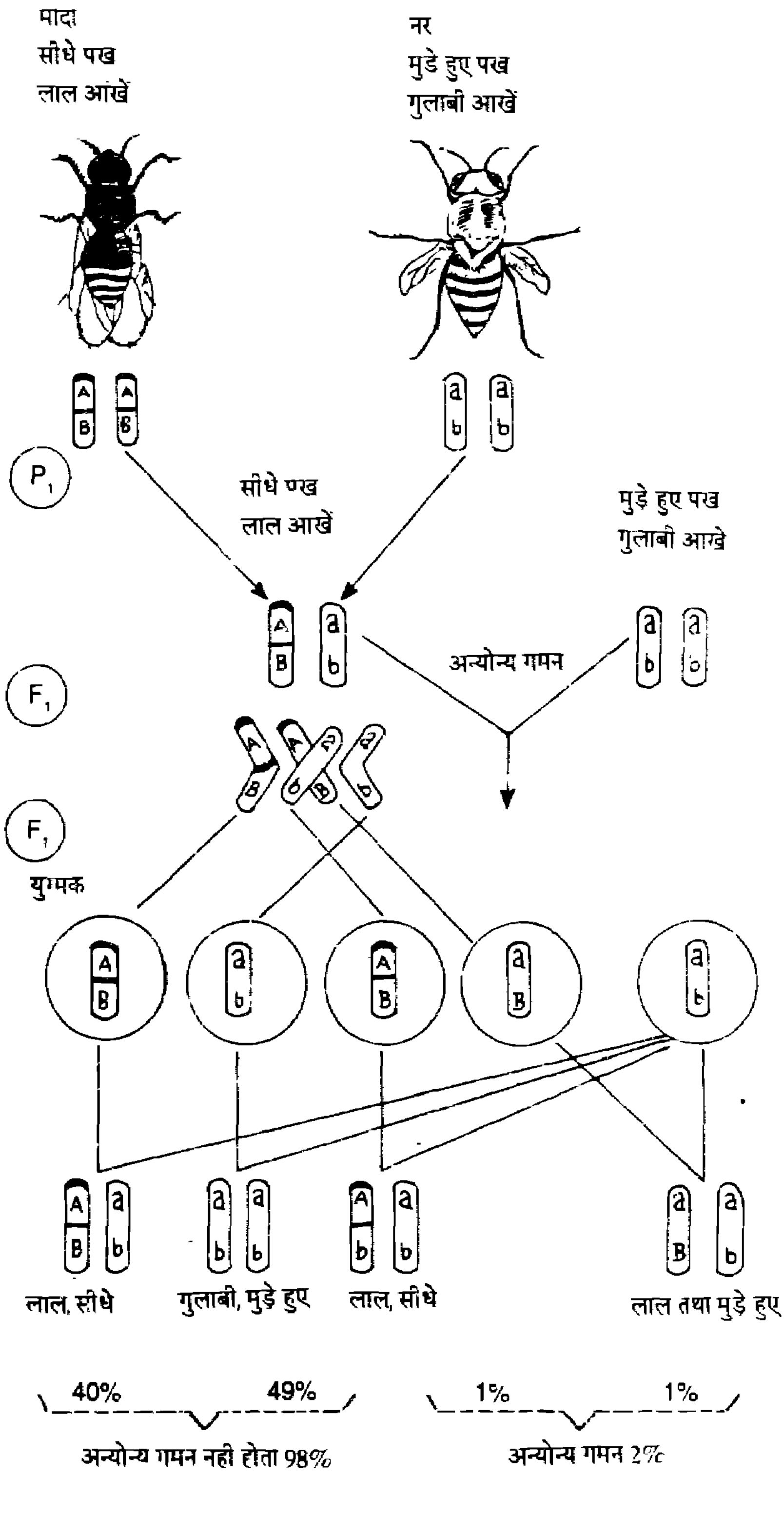
किस्मों के प्रभावी अभिलक्षण एक-से नहीं होते। प्रभावी तथा अप्रभावी जीन एक-दूसरे को विकर्षित करते हैं। इस स्थिति को विलग्नता[1] कहते हैं। सारांश में यह कहा जा सकता है कि यदि दो प्रबल जीन प्रारंभ में एक साथ होते हैं तो वे प्रजनन के बाद भी एक साथ रहेंगे। इस स्थिति को संलग्नता कहते हैं, परंतु यदि वे प्रारंभ में एक-दूसरे के साथ नहीं थे तो वही स्थिति बाद में भी बनी रहेगी। इसे विलग्नता कहा जाता है। परंतु संलग्नता अथवा विलग्नता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

लेकिन एक ही गुणसूत्र में उपस्थित जीनों में पायी जाने वाली सहलग्नता कोई परम स्थिति नहीं है। यदि दो जीन A तथा B एक ही गुणसूत्र के भिन्न स्थानों पर स्थित हैं तो अगली पीढ़ी की संतानों में भी वे इसी प्रकार एक साथ होंगे। परंतु कभी-कभी गुणसूत्र खंडित हो जाते हैं और इसकी वजह से तथा उनके फिर से मिल जाने से ये दोनों जीन पृथक होकर भिन्न-भिन्न गुणसूत्रों में जा सकते हैं। यदि कोई जीव दो संलग्न जीनों, A/B a/b, के कारण दोहरा विषम युग्मज होता है तो उसके द्वारा उत्पन्न प्राय: सभी युग्मक A/B अथवा a/b किस्म के युग्मक होंगे। परंतु एक भाग A/b अथवा a/B जैसे अन्योन्य गमन[2] द्वारा उत्पन्न युग्मकों का होगा; और यदि इनका उपयोग प्रजनन के लिए किया जाता है तो इन नये अभिलक्षणों के कारण पहचाना जायेगा।

एक विशिष्ट उदाहरण द्वारा अन्योन्य गमन की कल्पना अथवा सिद्धांत को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। केला मक्खी अथवा ड्रोसोफिला मेलेनोगास्टर की आंखों का रंग जीन A निर्धारित करता है तथा पंखों के रूप के लिए जीन B उत्तरदायी होता है, ऐसा मान लीजिए। साधारणत: इन मक्खियों के पंख सीधे होते हैं और आंखें लाल। गुलाबी आंखों वाली तथा मुड़े हुए पंखों वाली मक्खियों की संख्या कम रहती है। लाल आंखें तथा सीधे पंख वाला सम युग्मज A/B, A/B होगा तथा दोहरा अप्रबल सम युग्मज a/b, a/b होगा; तथा इससे उत्पन्न संतानों की आंखें गुलाबी होंगी, पंख मुड़े हुए होंगे। यदि दोनों को संकरित किया जाये तो सभी संतानों (F_1 पीढ़ी) की आंखें लाल होंगी तथा पंख सीधे होंगे। परंतु इनका आनुवंशिक रूप विषम युग्मज A/B a/b होगा। जब इन संकर पीढ़ी की मादाओं को गुलाबी आंखों तथा मुड़े हुए पंखों के नर मक्खियों से प्रजनित किया जाता है तो पितृ संकरण (R_2) पीढ़ी की संतानों में 50 प्रतिशत मक्खियों की आंखें गुलाबी तथा पंख मुड़े हुए और 50 प्रतिशत मक्खियां लाल आंखों वाली तथा सीधे पंखों वाली होनी चाहिए। परंतु प्रत्यक्ष प्रयोग करने के बाद इन दो किस्म की मक्खियों का प्रतिशत 50 न होकर 49 होने की बात का पता चलता है। शेष दो प्रतिशत संतानों में लाल आंखें तथा मुड़े हुए पंख और गुलाबी आंखें तथा सीधे पंख वाली मक्खियां दिखाई देती हैं। ये दो किस्म की मक्खियां जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं उसे अन्योन्य गमन अथवा पुन. संयोग से निर्मित वर्ग कहा जाता है। गुलाबी आंखें तथा मुड़े हुए पंखों जैसे अभिलक्षणों के बीच का अन्योन्य गमन मान[3] दो प्रतिशत है (चित्र-18 देखें)।

---

1. विलग्नता – repulsion
2. अन्योन्य गमन – crossover
3. अन्योन्य गमन मान – crossover value



चित्र 18 · सहलग्नता की प्रक्रिया।

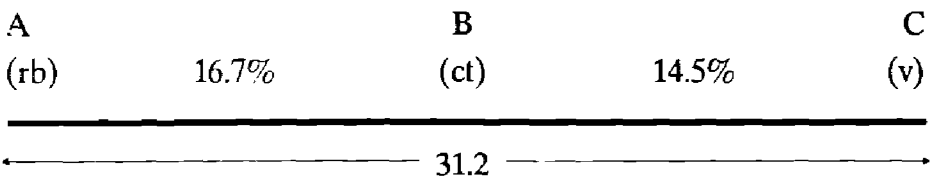
यदि अन्योन्य गमन नहीं किया जाता तो F_1 पीढ़ी के विषम युग्मज Aa/Bb से A/B तथा a/b युग्मक उत्पन्न होते तथा इनकी संख्या समान होती । एक युग्मज a/b a/b से केवल एक ही किस्म के अर्थात a/b युग्मक पैदा होते । अत: प्रजनन के फलस्वरूप दो आनुवंशिक रूप A/B a/b तथा a/b a/b समान अनुपात में उत्पन्न होंगे । परंतु इनकी 100 संतानों में से दो अन्योन्य गमन करती हैं । यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्योन्य गमन द्वारा उत्पन्न युग्मकों में से A/b तथा a/B के हर एक का प्रतिशत एक होगा । इसी कारण एक प्रतिशत मक्खियों की आंखें लाल तथा पंख मुड़े हुए और अन्य एक प्रतिशत मक्खियों की आंखें गुलाबी तथा पंख सीधे होते हैं । ये दो किस्मों की मक्खियां जो अपने महाजनकों के अभिलक्षण प्रकट करती हैं एवं एक नये वर्ग का प्रतिनिधित्व करतो हैं जिसे पुन: संयोजी[1] वर्ग कहते हैं । दोनों मिलकर अन्योन्य गमन की प्रतिशत बारंबारता का मान दर्शाती हैं । दो पुन: संयोजी वर्गों के योगफल की संतानों की संख्या के प्रतिशत के रूप में इसे व्यक्त किया जाता है । इस मामले में यह मान 2 प्रतिशत है ।

ऊपर बताया गया यह उदाहरण संलग्नता के संबंध में है । लेकिन अन्योन्य गमन को मान विलग्नता के मामले में भी बिलकुल उसी प्रकार मापा जाता है । उदाहरण के लिए पुनर्संयोजन वर्गों को आपस में जोड़कर, हालांकि ये पहले के समान नहीं होते हैं । सभी मामलों में समानधर्मी गुणसूत्रों के बीच पदार्थों के अन्योन्य स्थानान्तरण के फलस्वरूप संलग्न जीनों के विनिमय के कारण R_2 पीढ़ी की अपेक्षित आवृत्ति में व्यतिक्रम आ जाता है ।

चूंकि एक विशिष्ट गुणसूत्र से लगे हुए सभी जीन वास्तव में एक दूसरे से जुड़े होते हैं, इसलिए किसी भी जीव के संहलग्न जीनों के समूहों को शृंखलाओं में व्यवस्थित करना संभव होता है । इस प्रकार केला मक्खी में चार जोड़ी गुण सूत्र होते हैं । परिणामस्वरूप केला मक्खी के सभी जीन इन्हीं चार समूहों में से किसी एक से संबंध रखते हैं । सामान्यतया किसी जीव के संलग्न समूहों की संख्या उसकी कोशिकाओं में उपस्थित समानधर्मी गुणसूत्रों के जोड़ों की संख्या के बराबर होती है । इसके साथ ही जब समानधर्मी गुणसूत्रों के जोड़ों की लंबाई में एक -दूसरे के बीच काफी विभिन्नता होती है तब सहलग्न समूहों के आकार में कमोबेश उसी अनुपात में विभिन्नता होती है ।

सहलग्नता सिद्धांत से प्राप्त एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि सहलग्नता की कोटि अथवा दृढ़ता गुणसूत्र में उपस्थित जीनों के बीच के अंतर पर निर्भर करती है । गुणसूत्र में सहलग्न जीन जितनी अधिक दूरी पर होंगे उनकी प्रवृत्ति उतनी ही अधिक अन्योन्य गमन करने की होगी । इसकी सहायता से अथवा जीनों की अन्योन्य गमन की बारंबारता को ज्ञात करने से एक ही गुणसूत्र में उपस्थित दो जीनों में कितनी दूरी है इसे ज्ञात किया जा सकता है । परंतु यह मान सापेक्ष मान ही होगा । यह युक्ति लाभदायक सिद्ध हुई है । इसकी परिकल्पना को अब जीनों के गुणसूत्रों में क्या स्थान होंगे, इसके सिद्धांत के रूप में विकसित किया गया है तथा

1. पुन: संयोजी – recombination

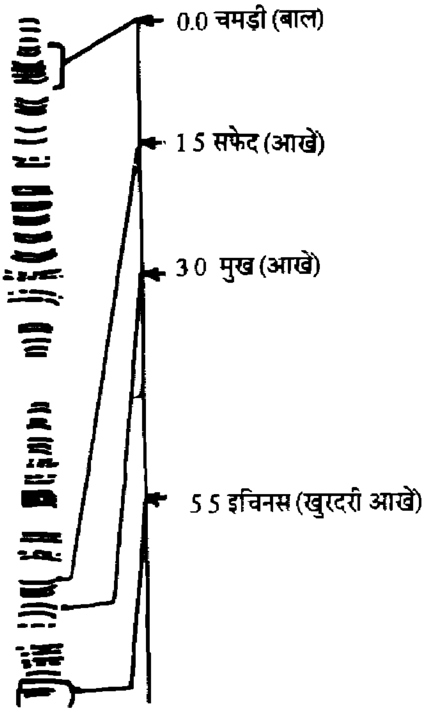


चित्र 19 गुणसूत्रों पर तीन जीनों की मैपिंग।

इसके आधार पर गुणसूत्रों के आनुवंशिक अथवा सहलग्नता-मानचित्र तैयार किये जा सकते हैं। मान लीजिए कि किसी एक गुणसूत्र में उपस्थित तीन जीन, A, B तथा C एक दूसरे-से सहलग्नित हैं। A तथा B, B तथा C और A तथा C के बीच के अन्योन्य गमन मानों को ज्ञात करने पर हमें यह दिखाई देगा कि यदि A तथा C के बीच का मान AB तथा BC के मानों के योगफल के बराबर होता है तो दोनों में जो अंतर है वह बराबर होगा। यह बात सच होने के लिए गुणसूत्र में उपस्थित जीन एक शृंखला बनायेंगे। इस पद्धति से जीनों का क्रम भी निर्धारित किया जा सकता है। यदि AC के बीच का अन्योन्य गमन मान AB तथा BC के बीच के मान के बराबर होगा तो B का स्थान A और C के बीच होगा। परंतु यदि यह मान दोनों मानों के अंतर के बराबर है तो B का स्थान A तथा D के मध्य होगा। इस प्रकार, किसी गुणसूत्र में उपस्थित सहलग्न जीनों के सापेक्ष स्थानों को निर्धारित किया जा सकता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा। केला मक्खी की गुलाबी आंखों, कटे पंख तथा लाल आंखों को उत्पन्न करने वाले जीनों को A, B तथा C कहा जाये तो ये गुण क्रमशः rb, ct तथा v चिह्नों से दर्शाये जा सकते हैं। AB, BC तथा AC के बीच के अन्योन्य गमन मान क्रमशः 16.7%, 14.5% तथा 31.2% हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि B का स्थान A और C के मध्य होगा। गुणसूत्र के तीनों जीनों के स्थान (चित्र-19 में दर्शाये गये हैं)।

केला मक्खी और मक्का के पौधों पर जीनों की सहलग्नता के संदर्भ में जो विस्तृत अनुसंधान कार्य किया गया है उसका यह एक बहुत छोटा उदाहरण है। इसी तरह का काम, हमें गुणसूत्रीय मानचित्र बनाने में जो सफलता प्राप्त हुई है, उसका आधार है। इन मानचित्रों में विभिन्न किस्म के जीनों के सापेक्ष स्थान को दर्शाया जाता है।

इस प्रकार यह दिखाना संभव है कि कौन से जीन किस खंड में उपस्थित थे। इससे गुणसूत्र में कौन सा जीन कहां स्थित है, इस वास्तविकता की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। गुणसूत्रों में उपस्थित जीनों के वास्तविक स्थानों को निर्देशित करने वाले मानचित्र बनाने के लिए केवल सूक्ष्मदर्शी द्वारा परीक्षण करना ही पर्याप्त नहीं है। इस हेतु पूर्व में किये गये सहलग्नता परीक्षणों का भी योगदान होता है। इस प्रकार के मानचित्र को कोशिकानुवंशी (साइटोजेनिक) मानचित्र कहते हैं। ड्रोसोफिला के प्रथम गुणसूत्र के एक हिस्से का कोशिकानुवंशी मानचित्र चित्र-20 में दिखाया गया है। साथ में उसी का गुणसूत्रीय मानचित्र भी दिया गया है। तुलनात्मक अध्ययन हेतु चित्र में प्रथम चार जीनों को दर्शाया गया है। इन दोनों मानचित्रों में जीनों की स्थिति एक सी होती है तथा जीनों के बीच के सापेक्ष अंतर भी एक से होते हैं। प्रजनन प्रयोगों



चित्र 20 : ड्रोसोफिला मेलेनोगास्टर के कोशिकानुवशी मानचित्र का एक खंड उसके गुणसूत्रीय मानचित्र के साथ दिखाया गया है, जिसमें चार गुणसूत्रो के स्थान दर्शाये गये हैं।

में सहलग्न गुणसूत्र समूहों का अस्तित्व ज्ञात किया गया, परंतु इनके अस्तित्व की पुष्टि सूक्ष्मदर्शी द्वारा इन गुणसूत्रों को प्रत्यक्ष देखने के बाद ही हो सकी। आनुवंशिकता के गुणसूत्र-सिद्धांत के पक्ष में प्राप्त किया गया यह एक अच्छा प्रमाण है। इस सिद्धांत के लिए अधिक यथार्थ प्रमाण गुणसूत्रों में होने वाले संरचनात्मक परिवर्तनों तथा उनमें उपस्थित जीनों के आनुषंगिक अथवा परिणामी परिवर्तनों (आचरणों में होनेवाले) से ही प्राप्त किये जा सकेंगे। इन परिवर्तनों में अथवा प्रथभ्रष्टता में न्यूनता (गुणसूत्र के किसी खंड का गायब होना अथवा न रहना), प्रतिलोम[1] (किसी गुणसूत्र का 180° में से घूर्णन[2]), द्विगुणीकरण[3] (एक अतिरिक्त गुणसूत्र की उपस्थिति के कारण कुछ भागों की दो की बजाय तीन बार की उपस्थिति), स्थानांतरण (असमानधर्मी गुणसूत्रों के भागों में बदली होना) का समावेश किया जाता है। ये सारे प्रकृति में भी पाये जाते हैं।

गुणसूत्रीय तथा कोशिकानुवंशी मानचित्रों को तैयार करते समय अनेक उत्पत्ति विज्ञानियों तथा पौध प्रजनकों का सहयोग आवश्यक होता है। ऐसे मानचित्र तैयार करते समय गुणसूत्रों में उपस्थित आण्विक कणों अथवा जीनों की निश्चित स्थलाकृति ज्ञात होना आवश्यक है। ये वैज्ञानिक इसके लिए हमें सहायता दे सकते हैं। यदि आनुवंशिक परिवर्तनों के माध्यम से आनुवंशिकता पर नियंत्रण करना हो तो आनुवंशिकता की कार्यविधि उचित रूप से समझ लेना आवश्यक है। परंतु इस प्रकार का नियंत्रण प्राप्त करने के लिए इन मानचित्रों से किसी प्रकार का मार्गदर्शन प्राप्त करना संभव नहीं होता जिससे पौधों तथा प्राणियों में लाभदायक परिवर्तन किये जा सकें।

इशेरिकिया कोलाई नामक एककोशीय जीव में मूल जीन के स्थान पर परिवर्तित या

1. प्रतिलोम – inversion
2. घूर्णण – rotation
3. द्विगुणीकरण – duplication

'इंजीनियर्ड' जीन को प्रतिस्थापित किये जाने के सफल प्रयोगों के बाद आनुवंशिक परिवर्तनों की संभावनाओं पर विचार किया जाने लगा। यह जीव मानवों तथा अन्य रीढ़दार प्राणियों की आंतों में पाया जाने वाला एक सामान्य जीव है। यह किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचाता। परंतु यदा कदा इससे रोग उत्पन्न होने की संभावना बनी रहती है। अणुजीव-विज्ञानियों ने गत कई दशकों में इस जीव का गहरा अध्ययन किया है। उन्होंने इस जीव को एक डंडेनुमा आकार के जीव के रूप में पाया है जिसकी लंबाई 3 मिली माइक्रोन तथा व्यास एक मिली माइक्रोन है। इसकी आनुवंशिक रचना बहुत जटिल है तथा इसके सभी सहलग्न जीन एक ही गुणसूत्र में खचाखच भरे हैं। जे. लेंडरबर्ग तथा ई.एल. टाटुम ने 1946 में बताया कि *इ. कोलाई* की विभिन्न उपजातियों के जीनों का पुनर्मिलाप कई पद्धतियों से किया जा सकता है। इनमें से कुछ विकसित जीवों की लिंग-कोशिकाओं के समेकन के समान हैं तो कुछ में बाहर के जैविक द्रव्य का एक कोशिका से दूसरी में स्थानांतरण होता है। इस प्रकार की प्रक्रिया विकसित जीवों के लिए अभी तक सफलतापूर्वक इस्तेमाल नहीं हो सकी है। एक किस्म के जीवाणु से आनुवंशिक स्थानांतरण द्वारा दूसरा जीवाणु उत्पन्न करने के कार्य पर अध्याय 12 में विस्तृत रूप से चर्चा की जायेगी। अभी इस विषय पर इतना कहना ही पर्याप्त है कि एककोशीय जीवाणु जैसे अविकसित जीवों में तथा बहुकोशीय जीवाणु जैसे विकसित जीवों में दो तरह की मौलिक भिन्नताएं होती हैं। एककोशीय जीवाणुओं में उनका शरीर तथा झिल्ली पृथक नहीं होती। इसलिए यह सोचना उचित नहीं होगा कि प्राणियों या पौधों जैसे विकसित जीवों में भी इन जीवाणुओं के समान ही कोशिकाओं में जैविक द्रव्यों का आदान प्रदान होना संभव है। दूसरी भिन्नता जीनों की रचना के कारण उत्पन्न होती है। एककोशीय जीवों के जीनों की रचना प्राणियों के जीनों की रचना से सर्वथा भिन्न है। एककोशीय जीवों पर किये गये अध्ययनों में की गयी डी.एन.ए. की खोज इन अध्ययनों की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है। डी.एन.ए. का अणु आनुवंशिक जानकारी का संग्रह है। पांचवें अध्याय में यह बताया जायेगा कि यह जानकारी डी.एन.ए. अणु में तीन अक्षरों से बने शब्दों में अथवा कंडोनों में संग्रहित की जाती है। ये कंडोन डी.एन.ए. के चार भिन्न उपघटकों से बनते हैं। हरेक कंडोन द्वारा किसी प्रोटीन शृंखला के एक एमीनो अम्ल को दर्शाया जाता है। एककोशीय जीवाणुओं के अध्ययन से ही हमें जीनों का तथा आनुवंशिक जानकारी संग्रहित करने का दृष्टिकोण प्राप्त हुआ है।

गत कुछ वर्षों में आनुवंशिकता के अनुसंधान कार्य में जो प्रगति हुई है उसकी वजह से जीवाणुओं के जीनों का अध्ययन पीछे छूट चुका है तथा अब विकसित जीवों के जीनों का अध्ययन किया जा रहा है। इस अध्ययन से पता चला है कि इन जीवों के जीन जीवाणुओं के जीनों के समान कंडोनों की रेखीय शृंखलाओं के रूप में नही होते। इनकी शृंखलाएं लंबी होती हैं तथा इनके बीच में कहीं कहीं डी.एन.ए. के लंबे धागे उपस्थित रहते हैं। डी.एन.ए. के ये अणु किसी भी जानकारी को सांकेतिक रूप में वहन नहीं करते। दूर संचार की भाषा में इन्हें केवल 'शोर' कहा जायेगा जो संदेशों के बीच उत्पन्न होता रहता है। इन शोर मचाने वाले अवरोधों को 'इंट्रान' कहते हैं। ये जिन संदेशों के लिए बाधा उत्पन्न करते हैं उनसे दस गुना

अधिक लंबे होते हैं। इन संदेशों को अथवा कूट-क्रम को 'एक्ज़ान' कहते हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ये संदेश तथा उनके बीच के शोर का एक सम्मिलित रूप है। परंतु संदेश तथा शोर आपस में मिल नहीं जाते। इसी कारण कोई भी आनुवंशिक संदेश इस शोर के कारण निष्प्रभ या भ्रष्ट नहीं होता।

विकसित प्राणियों के डी.एन.ए. में एकसूत्रता नहीं होती तथा यह बीच-बीच में खंडित होता है। स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस प्रकार खंडित होने का कारण क्या है तथा यह किस प्रकार होता है। इसका तर्कयुक्त कारण यह है कि खंडित रचना के कारण इन जीवों में आनुवंशिक संदेशों का वहन करने वाले एक्ज़ानों को भिन्न भिन्न प्रकार से जोड़ना संभव होता है तथा प्राणी अपनी जीवन रक्षा करने हेतु खुद को शीघ्रता से तैयार कर सकते हैं। रीढ़धारी प्राणियों का नामोनिशान कब का मिट चुका होता, यदि वे उन पर हमला करने वाले तथा रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं द्वारा हमले किये जाने पर उनका प्रतिकार करने के लिए रोग प्रतिबंधक प्रतिपिंड[1] तैयार नहीं करते। इन प्रतिपिंडों की संरचना से इस बात का पता चलता है कि जिस प्रकार सांकेतिक संदेश देने वाले जीवों की पुनर्रचना की जाती है वह इन इंट्रानों की बाधाओं के बिना संभव नहीं है!

संक्षेप में, खंडित जीनों की भूमिका उतनी ही क्रांतिकारी है जितनी लैंगिक प्रजनन की। इस प्रजनन पद्धति से अत्यधिक विशाल संख्या में आनुवंशिक रूपों को अथवा आनुवंशिक ढांचों को उत्पन्न करना संभव होता है। इसके बिना यह संभव न होता। प्रायः इसी तरह खंडित या विभक्त जीनों द्वारा बहुत बड़ी संख्या में आनुवंशिक क्रम उत्पन्न किये जाते हैं। इस कारण उतने ही अधिक प्रोटीन बनाना संभव होता है। अन्यथा ऐसी संभावना नगण्य थी।

परंतु विकसित प्राणियों तथा पेड़-पौधों में खंडित जीन ही जटिलता उत्पन्न करने वाले एकमात्र घटक नहीं हैं; और भी अनेक कठिनाइयां हैं। इनमें सबसे गंभीर बात यह है कि बहुकोशीय होने के कारण उनका अध्ययन तीन भिन्न बातों को ध्यान मे रखकर तीन भिन्न स्तरों पर करना होगा : (क) आण्विक (ख) कोशीय तथा (ग) संपूर्ण जीव के स्तर पर। ये स्तर आंतरिक संबंधों से परस्पर जुड़े रहते हैं और इसीलिए इनके अध्ययन में काफी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। इन बातों से ऐसा लगता है कि जिसे हम 'जैव इंजीनियरी' कहते हैं उसका कोई ठोस आधार नहीं है। वह केवल एक फंतासी है। यह इतनी दुर्बल है कि ऐसा विश्वास करने के लिए कोई आधार नहीं है कि हम लोग बहुत शीघ्र आज के कल्टिजेनों की अपेक्षा अत्यंत उच्च किस्म के कल्टिजेन उत्पन्न करने की दिशा में नये आविष्कार कर पायेंगे। प्राणियों तथा पेड़-पौधों के आनुवंशिक गुणों को अपनी इच्छानुसार परिवर्तित करने के उद्देश्य से तथा भविष्य में उन्हें अधिक लाभदायक बनाने हेतु उन्हें बदलने का काम करने से पूर्व हमें आनुवंशिकता तथा कोशिका विज्ञान के बारे में बहुत कुछ जानना होगा। आनुवंशिकीविदों, जैव रसायनज्ञों, पशु प्रजनकों, सस्य वैज्ञानिकों तथा अनेक अन्य विशेषज्ञों के सम्मिलित अनुसंधान द्वारा ही यह जानकारी हमें उपलब्ध हो सकेगी। परंतु प्रारंभ में इस अध्ययन का रूप अत्यधिक काल्पनिक

1. प्रतिपिंड — antibodies

तथा अमूर्त होगा। उसका तत्काल उपयोग करना भी संभव नहीं होगा। उसका उपयोग बहुत समय बाद ही किया जा सकेगा। तब तक हमें ऐसे ही कुछ छिटपुट सुधारों से संतोष करना पड़ेगा जो पौधों तथा प्राणियों का व्यावसायिक उत्पादन करने हेतु प्रजनन विज्ञानियों की सहायता से किये जाते हैं। इस विषय पर अध्याय 9, 10, 11 तथा 12 में पुनः विचार किया जायेगा।

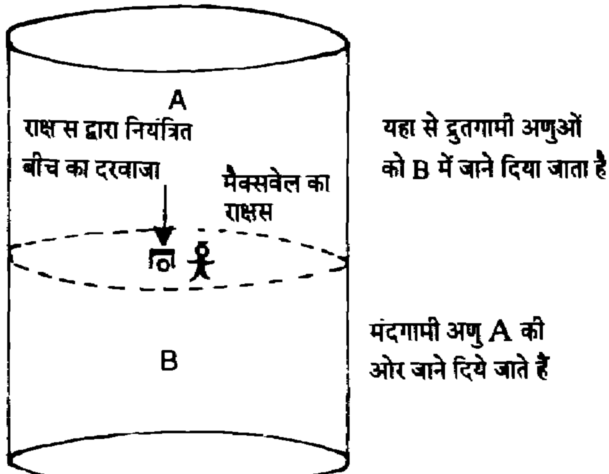
5

आनुवंशिक जानकारी

हालांकि वैज्ञानिक ज्ञान शक्ति का एक स्रोत है, परंतु इससे प्राप्त होने वाली शक्ति को दृढ़तापूर्वक सीमित करने वाले कुछ नियम भी हैं। सर ई.टी. विट्टाकर ने इन नियमों को कभी 'नपुंसकता की अभिधारणा'[1] कहा था। इस प्रकार की एक अभिधारणा है ऊष्मा गतिकी का दूसरा नियम। इस नियम के अनुसार शाश्वत गति देने वाला ऐसा कोई भी यंत्र बनाना संभव नहीं है जो बाहर से ऊर्जा प्राप्त किये बिना अथवा किसी काम द्वारा शक्ति प्राप्त किये बिना गतिशील बना रह सकता है। परंतु 1871 में एक विख्यात भौतिकविद जे.सी. मैक्सवेल ने ऊष्मा गतिकी के इस नियम को ताक पर रखने हुए बड़ी चतुराई से एक ऐसे प्राणी की कल्पना की थी जो ज्ञान तथा शक्तिसंपन्न जीव था तथा आकार में वह किसी अणु के बराबर था। इसे 'मैक्सवेल का राक्षस'[2] कहते हैं। मैक्सवेल ने ऐसा तर्क दिया कि इस राक्षस में उच्चकोटि की अत्यधिक क्षमता होने की वजह से वह हर अणु को गतिशील अवस्था में उसकी कक्षा में देख सकता है और जो काप करना हमारे लिए संभव नहीं है वे सारे काम वह कर सकता है। एक ऐसे पात्र की कल्पना कीजिए जो A तथा B दो भागों में विभाजित किया गया है तथा इन भागों को पृथक करने वाली दीवार में एक छोटा सा छेद है। यह राक्षस अणुओं को पृथक रूप में देख सकता है तथा इस छेद को बंदकर अथवा खोलकर वह द्रुतगामी अणुओं को A से B भाग में और मंदगामी अणुओं को B से A में जाने देता है। इस तरह कोई काम किये बिना ही B के तापमान में वृद्धि होगी तथा A का तापमान घट जायेगा। यह ऊष्मा गतिकी के दूसरे नियम का उल्लंघन है (चित्र-21 देखें)।

इस प्रकार राक्षस द्वारा द्रुतगामी अणुओं को B में तथा मंदगामी अणुओं को A में पृथक कर देने से तथा तापमान किसी क्षेत्र में उपस्थित अणुओं की गति पर निर्भर होने की वजह से B का तापमान A के तापमान से अधिक हो जायेगा, क्योंकि B में उपस्थित अणुओं की गति का औसत मान अधिक है। A मंदगति अणुओं का मिलन स्थान है। परंतु इस प्रकार से बिना कोई प्रयास किये यदि किसी गैस के अणुओं को गर्म तथा शीत क्षेत्रों में पृथक किया जा सकता हो तो यह शाश्वत गति का यंत्र बनाने का आधार हो सकता है, क्योंकि पात्र के गर्म क्षेत्र B से, शीत क्षेत्र A की ओर ऊष्मा प्रवाहित की जा सकती है। इससे यांत्रिक कार्य किया जा सकता

1. नपुंसकता की अभिधारणा – postulates of impotence
2. मैक्सवेल का राक्षस – Maxwell's demon



चित्र 21 : मैक्सवेल का राक्षस

है। इसी तरह भाप से चलने वाले इंजन से भी कार्य किया जाता है। दूसरे शब्दों में इसे कुछ इस प्रकार कहा जा सकता है: इस राक्षस ने अपने पास की जानकारी के बदले में शक्ति प्राप्त की। उसके द्वारा पात्र के अंदर विद्यमान अणुओं के मिश्रित रूप में परिवर्तन किया अथवा उसमें विद्यमान अव्यवस्था की स्थिति में सुधार किया। इसे एंट्रापी घटाना भी कहा जा सकता है। द्रुतगामी तथा मंदगामी अणुओं को एक-दूसरे से पृथक करने के कारण ही ऐसा हो सका। उस राक्षस को अणु की गति की जानकारी थी जिसके आधार पर ही ऐसा करना संभव था। इस प्रकार एक तापमान-प्रवणता[1] उत्पन्न हुई जिसका उपयोग यांत्रिक काम करवाने के लिए किया जा सकता है।

परंतु मैक्सवेल के राक्षस द्वारा किसी प्रयास के बिना ऊर्जा उत्पन्न करने का अथवा यांत्रिक कार्य करवाने का जो साधन निर्माण किया गया है वह ऊष्मा गतिकी के दूसरे नियम का उल्लंघन है तथा ऐसा नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि बिना कुछ खर्च किये कोई भी चीज पाना संभव नहीं होता,जैसा कि हाल ही में जी.गैबर ने कहा। अत: मैक्सवेल के तर्कों में कौन सी भ्रांति है ? क्या इस प्रकार के पृथक (चीजों को) करने वाले राक्षस या स्वत: कार्यरत होने वाली लघु स्प्रिंग जैसे स्वचालित यंत्र बनाना संभव नहीं है ? मैक्सवेल के विरोधाभास से बचने का एक सरल उपाय है कि ऐसे प्राणियों का अस्तित्व ही प्राथमिक तौर पर नकारा जाये। यह कहना बहुत आसान है कि उस राक्षस का आकार अणुओं के आधार के बराबर होने से वह उन अणुओं की तुलना में अधिक ज्ञानसंपन्न नहीं हो सकता। वह अणुओं के याहच्छिक प्रहारों से खुद को बचा भी नहीं सकता जब वह उस दरवाजे से निकलने वाले अणुओं की गति का आकलन करता हो। परंतु यदि इस प्रकार के तर्कों के कारण प्रारंभ में ही उसका अस्तित्व

1. तापमान-प्रवणता - temperature gradient

न होने की बात प्रस्तुत की गयी होती तो जानकारी तथा एंट्रोपी में जो संबंध है उसके बारे में अंतर्दृष्टि प्राप्त करने से हम लोग वंचित रह जाते। इसी बात से प्रारंभ किया जाये कि क्या ऐसे राक्षस या किसी अन्य स्वचालित मशीन के लिए संभव है कि वह पृथक अणुओं को देख सके? ऐसा निर्णय करने से पहले हमें यह निर्धारित करना होगा कि आण्विक स्तर पर 'देखने' का अर्थ क्या है। हमारे लिए अभी इतना ही कहना काफी है कि कोई भी जीन, चाहे वह कोई चर प्राणी हो अथवा कोई स्वचालित अचर, अपना अस्तित्व स्थापित करने हेतु स्वतः विद्युत चुंबकीय विकीरण उत्सर्जित करता है (प्रकाश इन विकीरणों का एक बहुत छोटा भाग है)। इस प्रश्न पर और अधिक गहराई से विचार करने पर यह कहना उचित होगा कि जीव या कोई अन्य पदार्थ उसके द्वारा उत्सर्जित विकीरणों के कारण दिखाई नहीं देता। परंतु उसके द्वारा उत्सर्जित प्रकाश तथा उसके द्वारा अवशोषित किये गये प्रकाश की मात्राओं में जो अंतर होता है उसके कारण वह दिखाई देता है, क्योंकि कोई भी पदार्थ केवल विकीरण उत्सर्जित नहीं करता, दूसरे पदार्थों से प्राप्त होने वाले विकीरणों का अवशोषण भी करता है। उत्सर्जित तथा अवशोषित प्रकाश की मात्राओं में अंतर होने की वजह से ही पदार्थों को देखना संभव है। यदि पर्यावरण में उपस्थित सभी चीजों द्वारा उत्सर्जित प्रकाश का मान उनके द्वारा अवशोषित प्रकाश के समतुल्य हो जाये तो कोई भी चीज दिखाई नहीं देगी। पात्र के A तथा B भागों को पृथक करने वाले दरवाजे पर खड़ा मैक्सवेल का राक्षस कुछ इसी तरह के परिवेश में है। अतः उसे वहां कुछ भी दिखाई नहीं देगा। इस स्थान में जो प्रकाश है वह साम्यावस्था में है, अर्थात इस पात्र में उपस्थित हर अणु उतना ही प्रकाश उत्सर्जित करता है जितना वह अवशोषित करता है। अतः वह देखने वाले की पहचान में नहीं आ सकता। इसलिए इन्हें देखने के लिए कोई साधन उसे दिया जाना चाहिए। एक अति सूक्ष्म विद्युत टार्च यह काम कर सकती है। टार्च एक ऐसे प्रकाश का स्रोत है जो साम्यावस्था में नहीं है तथा विद्युत चुंबकीय विकीरणों को देखने के लिए आवश्यक अंतर उत्पन्न करता है।

इस अति सूक्ष्म टार्च, जिसका प्रकाश बाहर के परिवेशी प्रकाश से साम्यावस्था में नहीं है, की सहायता से वह राक्षस आने वाले अणुओं के लिए दरवाजा खोलने अथवा न खोलने का निर्णय कर सकता है। राक्षस द्रुतगामी अथवा मंदगामी अणुओं को अपनी टार्च की सहायता से पृथक करता है। इस कारण पात्र के अणुओं की मिश्रता में ह्रास होता है। वास्तव में यह प्रतिलोमी अथवा ऋण एंट्रापी ही है। परंतु क्वांटम यांत्रिकी के नियमों के अनुसार प्रकाशदायी फोटानों की ऊर्जा का मान निरीक्षण के लिए प्रयुक्त विकीरणों की आवृत्ति के अनुसार किसी न्यूनतम मान से अधिक होना चाहिए। इस कारण जब जब राक्षस द्वारा फोटान की गति को आंकने हेतु टार्च जलायी जाती है तब उसे एक झटका सा लगता है। यह उसी तरह का झटका है जो कोई बंदूकधारी बंदूक दागने के बाद महसूस करता है। इसके परिणामस्वरूप राक्षस को छोटी-छोटी यादृच्छिक गतियों का सामना करना पड़ेगा; उसका सिर इस वजह से चकरा जायेगा। इसका अर्थ स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में वह मैक्सवेल का राक्षस नहीं रहता।

मैक्सवेल के राक्षस को खत्म करने का यह लंबा रास्ता किसी उद्देश्य से ही तय किया गया

है। इस आण्विक बौने का अस्तित्व खत्म करना आसान था। यह बौने अणुओं को पृथक करता था तथा उनको व्यवस्थित करने का काम करता था। इस पद्धति से ऊष्मागतिकी के दूसरे नियम तथा जैविक उत्क्रांति की प्रक्रिया में दिखाई देने वाली असगति को दूर करने का प्रयास एक अनोखे तरीके से आजमाया गया है; क्योंकि उत्क्रांति जड़ पदार्थों से अविरत रूप से जीवों के नये-नये रूप उत्पन्न करने की प्रक्रिया है तथा इस कारण अधिक व्यवस्था तथा पदार्थों के प्रतिमान तैयार करने की ओर इसका संकेत है। परंतु ऊष्मागतिकी के दूसरे नियम के अनुसार द्रव्य हमेशा उस स्थिति की ओर अग्रसर होता है जहां अधिक अव्यवस्था होती है तथा अधिक मिश्रता होती है। भौतिक विज्ञानी इस असंगति को भ्रामक कहते हैं। हमारा समूचा ब्रह्मांड एक ऐसी स्थिति की ओर अग्रसर हो रहा है जिसमें अधिक अव्यवस्था होगी। परंतु इस प्रकार आगे बढ़ते समय यदि कहीं कहीं ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है तो उस पर कोई अंकुश नहीं लगाया जा सकता। अन्य स्थानों पर व्यापक अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न होने से इसकी कमी पूरी हो जाती है। अतः जैविक विकासक्रम के अंतर्गत होने वाली करोड़ों विभिन्न जीवों की उत्पत्ति को वह विशाल पैमाने पर होने वाली मुक्त ऊर्जा-क्षय के दौरान उत्पन्न होने वाला एक क्षणभंगुर विकास मानता है। अकाश में तारों द्वारा की जाने वाली विकीरणों की अखंड वर्षा इस घटना का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। सूर्यप्रकाश की पुरजोर वर्षा का एक अल्प भाग धरती पर दिखाई देने वाली जैविक प्रणाली की सभी आवश्यकताओं को पूर्ति करने के लिए पर्याप्त है। कुछ जीवविज्ञानी ऐसा मानते हैं कि ऊष्मागतिकी के सिद्धांत तथा जैविक संघटन में मौलिक अंतर है जिस प्रकार ज्ञानकोषों में दिये हुए शब्दों का क्रम भिन्न होता है। यदि भिन्न तापमान के दो पृथक गैस सिलिंडरों को जोड़ दिया जाता है तो कुछ-कुछ समय बाद संपूर्ण साम्यावस्था उत्पन्न होगी। यह क्रिया ऊष्मागतिकी के दूसरे नियम के अनुसार ही होगी। इन दो सिलिंडरों को एक-दूसरे से जोड़ने से पूर्व उनमें अधिक व्यवस्था अथवा संघटन था। इन्हें जोड़ देने के बाद द्रुतगामी तथा मंदगामी अणुओं का स्थानांतरण हुआ जिसकी वजह से अधिक अव्यवस्था उत्पन्न हुई। परंतु जे. निधम के सुझाव के अनुसार पूरी प्रणाली में असममिती[1] के स्थान पर अधिक सममिति[2] दिखाई दे रही है। तथापि उन्हें यह ज्ञात है कि प्राणी जगत में उत्पन्न होने वाली सममिति के अत्यधिक जटिल नमूनों की तुलना में यह सममिति एक अत्यंत सरल उदाहरण है। परंतु उसे इस बात का विश्वास है कि इस 'प्रकट रूप से अपरिपक्व' धारणा से ही भविष्य का पूर्वाभास होता है। इसका एक अच्छा उदाहरण है किसी पदार्थ के संतृप्त द्रव से होने वाली क्रिस्टलों की स्वयंस्फूर्त उत्पत्ति। प्रारंभ में अव्यवस्थित रूप में उपस्थित अणुओं का किसी परिपूर्ण क्रिस्टल क्रम में परिवर्तित होने की घटना के कारण होने वाली स्थानीय व्यवस्था की क्षतिपूर्ति क्रिस्टल प्रावस्था से द्रव को दी जाने वाली ऊर्जा के रूप में होती है। ऊष्मागतिकी के दूसरे नियम के अनुसार मुक्त ऊर्जा की कुल मात्रा में कमी होती है। अब किसी साधारण से साधारण जीव में दिखाई देने वाली व्यवस्था की कोटि क्रिस्टल

1. असममिति – asymmetry
2. सममिति – symmetry

की तुलना में बहुत उच्च होती है। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि ऐसे जीव की उत्पत्ति ऊष्मागतिकी के नियम के अनुरूप है अथवा नहीं। इसकी अनुरूपता का प्रयोग करने हेतु क्रिस्टलन जैसा ही एक प्रयोग करना होगा।

एक मिली लिटर पानी में कुछ मिलि लिटर ग्लुकोज जैसी शक्कर की मात्रा तथा नाइट्रोजन, फास्फोरस और गंधक आदि पदार्थों के आवश्यक लवणों को मिलाकर यदि उसमें *इ. कोलाई* जैसे जीवाणु को छोड़ दिया जाता है तो 36 घंटों की अवधि में उस द्रव में करोड़ों जीवाणु बनेंगे। शक्कर की मूल मात्रा की 40% मात्रा कोशिकीय घटकों में बदल जायेगी तथा शेष मात्रा का आक्सीकरण[1] होकर इससे पानी तथा कार्बन डाइआक्साइड बनेगी। यदि इसी प्रयोग को किसी ऊष्मामापीय[2] में रखकर किया जाता है तो ऊष्मागति का तुलनपत्र[3] तैयार किया जा सकता है। हमें यह दिखाई देगा कि क्रिस्टल क्रिया के दौरान उत्पन्न होने वाली एंट्रोपी की वृद्धि इस क्रिया के दौरान भी होती है (जीवाणु + माध्यम की क्रिया), परंतु इस वृद्धि का मान ऊष्मागतिकी के दूसरे नियम द्वारा निर्धारित किये गये मान से कुछ अधिक होता है। इस प्रकार जीवाणु द्वारा दर्शाई जाने वाली अत्यधिक जटिल व्यवस्था न केवल कायम रहती है बल्कि उसमें करोड़ों गुना वृद्धि भी होती है। इस तरह ऊष्मागतिकी के अनुसार प्राप्त की गयी ऊर्जा ब्याज सहित लौटा दी जाती है। परंतु निधम ने कहा है कि कोई भी जीवविज्ञानी जो विभिन्न रूपों का अध्ययन करता है, ऐसा कहे बिना नहीं रह सकता कि किसी भी सुव्यवस्थित क्रिस्टल में उसके समजात मातृद्रव[4] से अधिक व्यवस्था होती है तथा अत्यंत सुसंगठित *इ. कोलाई* कालोनी में मूल पौष्टिक विलियन की अपेक्षा अधिक व्यवस्था पायी जाती है। अतः ऊष्मागतिकी के अनुसार व्यवस्था का जो अर्थ लगाया जाता है उसमें तथा जैविक क्रम विकास की व्यवस्था में किसी पकार की असंगति नहीं है। ये दोनों एक ही तराजू से नहीं तोले जा सकते। निधम ने आगे कहा है — "जैसे-जैसे समय की प्रक्रिया आगे बढ़ती है, ब्रह्मांड में चल रहा सम्मिश्रण का काम भी आगे बढ़ता है तथा जैसे-जैसे धरती का तापमान घटता है, वैसे-वैसे जीवों के स्थिर तथा उच्च रूपों का बनना संभव होता है। उनके उत्पन्न होने की संभावनाओं में वृद्धि होती है। विकास का नियम एक अर्थ में ऊष्मागतिकी के नियम का विलोम है। यह उतना ही अपरिवर्तनीय है, परंतु इसकी प्रकृति विरोधी है। इससे एम्पिडोकल की दुनिया के दो घटकों का स्मरण होता है। ये घटक हैं *φιλι∝* मित्रता, संयोग, आकर्षण और *γεikos* संघर्ष, प्रसार तथा प्रतिकर्षण।"

ये दोनों धारणाएं वैध हैं। परंतु इनकी सहायता से इस समस्या का समाधान नहीं होता; ये दोनों ही इस काम के लिए पर्याप्त नहीं हैं। सूर्य प्रकाश के रूप में उपलब्ध मुक्त ऊर्जा की विशाल मात्रा का एक अल्पांश ही धरती पर विद्यमान जीवन को गतिमान रखने हेतु पर्याप्त है। इसे सिद्ध करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। समस्या इस बात को समझने की है कि

1. आक्सीकरण – oxidation
2. ऊष्मामापी – calorimeter
3. ऊष्मागतिकी तुलनपत्र – thermodynamic balance sheet
4. मातृद्रव – mother liquor

अणुओं का एक समूह मुक्तावस्था में अधिक सम्मिश्रित तथा अव्यवस्थित होने की बजाय किस प्रकार एक अधिक उन्नत संरचित रूप तथा व्यवस्था प्रदर्शित करता है। यह संरचना तथा व्यवस्था किसी भौतिकशास्त्री की कल्पना से भिन्न है। दूसरे शब्दों मे ऐसा कहा जा सकता है कि जैव-भौतिकी[1] की समस्या इस बात का पता लगाने की है कि आकस्मिक रूप से एकत्रित हुए ये दृष्टिहीन तथा अव्यवस्थित अणुओं के समूह किस प्रकार भौतिकी तथा रसायनशास्त्र के नियमों का पालन करते हुए संपूर्ण जीवों में सुग्रथित होकर एंट्रोपी घटाने की सजीव गतिविधियों में संलग्न हो जाते हैं। चर या अचर पदार्थों के आचरण में दिखाई देने वाली भिन्नता किस प्रकार उत्पन्न हुई है तथा समय के संदर्भ में इसका कौन सा यथार्थ आधार है, इसे भी हमें देखना होगा। श्रोडिन्जर ने सर्वप्रथम इस भिन्नता के स्वरूप पर प्रकाश डाला। उन्होंने 'व्यवस्था से व्यवस्था' नामक अपना सिद्धांत प्रस्तुत किया जो 'जीवन को समझने का यथार्थ मार्ग' है। जब उन्होंने 1940 के दशक के प्रारंभ में अपनी पुस्तक 'व्हाट इज लाइफ ?' (जीवन क्या है ?) प्रकाशित की तब जैविक पदार्थों का आण्विक स्वरूप स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं था। उस समय के अनुमान से एक जीन का निर्माण करने हेतु अधिक से अधिक दस लाख अणुओं की आवश्यकता थी। परंतु उत्परिवर्तन[2] की धीमी गति को ध्यान में रखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यह संख्या अत्यंत कम है बशर्ते जैविक द्रव्य की पुनर्रचना याहच्छिक तापीय टक्करों के कारण होती हो। इस विरोधाभास अथवा असंगति का कारण क्या है इसे हम आज समझते हैं, परंतु श्रोडिन्जर ने अपने समय में इस बात की केवल कल्पना ही की थी। इस घटना का कारण है जीनों का महाअणु होना जो क्वांटम यांत्रिकी बंधों के कारण जुड़े हुए हैं। श्रोडिन्जर ने जीन को एक अनावर्ती क्रिस्टल कहा है। जीव-द्रव्य का यह एक यथार्थ तथा समवेक्षक वर्णन है। जीव व्यवस्था से व्यवस्था निर्माण करते हैं, अतः वे अचर पदार्थों से भिन्न होते हैं। वे परम अव्यवस्था तथा एंट्रोपी की वह स्थिति प्राप्त नहीं करते जिसे साम्यावस्था कहते हैं। ऊष्मागतिकी के दूसरे नियम के अनुसार ऐसी स्थिति उत्पन्न होना अपरिहार्य है।

श्रोडिन्जर की इन प्रारंभिक धारणाओं की जीवशास्त्रियों ने पुष्टि की है। उन्होंने जीव द्रव्यों में महाअणुओं की उपस्थिति स्पष्ट रूप से साबित की है तथा यह कहा है कि ये महाअणु परिवेश की मिश्रता या एंट्रोपी कम करने में सहायक होते हैं। इनमें उपस्थित जीनों के समूह अथवा गुणसूत्रों में जो आनुवंशिक जानकारी एकत्रित की गयी है उसकी सहायता से ऐसा किया जाता है। यह जानकारी उसी के समतुल्य होती है जो संगणक (कंप्यूटर) का कार्य करने हेतु पंचकार्डों के रूप में दी जाती है। संगणक के मार्गदर्शन के लिए यदि पंचकार्डों का उपयोग किया जाता है तो यह आवश्यक हो जाता है कि इन कार्डों में अंकित आदेशों को वर्णमाला के अक्षरों में परिवर्तित किया जाये; जिस प्रकार वर्णमाला के अक्षरों से अर्थपूर्ण शब्द बनते हैं और शब्दों से अर्थपूर्ण वाक्य बनाये जाते हैं उसी प्रकार यह काम भी किया जाना चाहिए। संगणक कुछ स्विचों, रिलेओं अथवा ट्रांजिस्टरों का एक क्रमबद्ध समुच्चय होता है। इसलिए संगणक की

---

1. जैव-भौतिकी – biophysics
2. उत्परिवर्तन – mutation

भाषा भी इन्हीं घटकों से निर्मित होती है। इन घटकों से प्रत्येक की केवल दो ही स्थितियां होती हैं। एक स्थिति ऑन और दूसरी ऑफ होती है। ऑन स्थिति के दौरान परिपथ में विद्युत प्रवाहित होती रहती है या ये घटक सक्रिय[1] रहते हैं तथा ऑफ स्थिति में ये निष्क्रिय या अचेतन अवस्था में रहते हैं। ऑन स्थिति को शून्य (o) तथा ऑफ को एक (1) से दर्शाया जाये तो इस मशीन द्वारा ग्रहण किया जाने वाला हर संदेश 0 तथा 1 के क्रम में लिखा जायेगा। इसका व्यावहारिक रूप है पंचकार्ड जिसमें छेद किये जाते हैं जो 1 से दर्शाई जाने वाली सक्रिय अवस्था को दर्शाते हैं। इस प्रकार कोई भी संदेश लिखने के लिए दो वर्ण ही पर्याप्त हैं। टेलिग्राफिस्ट रेखा (–) या डैश तथा बिंदु (.) या डॉट का उपयोग कर मोर्स की कूट भाषा में कोई भी संदेश भेज सकता है। यह ब्रह्मांड की भाषा के वर्ण हैं क्योंकि यदि अंतरिक्ष के किसी बुद्धिमान जीव को हमसे संपर्क करना होगा तो वह इसी कूट को संपर्क भाषा के रूप में इस्तेमाल करेगा।

जिस प्रकार संगणक रिले तथा ट्रांजिस्टरों का एक समुच्चय है उसी प्रकार जीव भी कोशिकाओं का एक समूह है जो प्राकृतिक बहुलकों[2] से बना है। इन्हें प्रोटीन कहते हैं। इन अगणित प्रोटीनों से ही जीवित पदार्थों का ठोस अंतर्भाग बनता है। इसलिए ग्रीक शब्द 'प्रोटिअस'[3] से बने इस शब्द का अर्थ है जीवन प्रक्रिया में 'सर्वोच्च स्थान पर आसीन' पदार्थ। प्रोटीन महाअणु होते हैं। वे एमिनो अम्लों की लंबी शृंखला से बनते हैं। ये एमिनो अम्ल एक दूसरे से पेप्टाइड बंधों से जुड़े रहते हैं। बीस ज्ञात एमिनो अम्लों को यदि B, P, Q, E, D, K, L, O. . .आदि अक्षरों से चिह्नित किया जाता है तो किसी भी विशिष्ट प्रोटीन को

–B-P-E-D-K-O-O-Q–

से दर्शाया जा सकेगा।

ऊपर की शृंखला दोनों ओर से खुली है। प्रोटीनों के अणु महाअणु होते हैं तथा हर महाअणु में उपस्थित एमिनो अम्लों की संख्या 600 से 2000 के बीच होती है। इनके बड़े आकार के कारण ही इनके गुणों में अत्यधिक विविधता दिखाई देती है। इन 20 एमिनो अम्लों द्वारा निर्मित प्रोटीनों की संख्या असीमित है। यह बात उसी प्रकार की है जहां हम सीमित अक्षरों से अगणित शब्द बनते हैं। (शब्द अक्षरों की शृंखला ही तो होता है)। इस प्रकार, हीमोग्लोबिन जैसा एक मध्यम आकार का प्रोटीन जो शरीर के अंगों को आक्सीजन की पूर्ति करता है तथा ऊतकों को विशिष्ट रंग प्रदान करता है 600 एमिनो अम्लों से बनता है। परंतु 20 एमिनो अम्लों से 20^{600} प्रोटीन बनाने की संभावना होती है। यह 20 एमिनो अम्लों द्वारा 600 स्थानों को भरने का तरीका है। ब्रह्मांड वैज्ञानिक[4] एडिंगटन के अनुसार, इस ब्रह्मांड में विद्यमान कणों की संख्या मात्र 10^{79} है। (यहां इतनी बड़ी संख्या के लिए मात्र शब्द का उपयोग किया गया है !)।

1. सक्रिय – energized
2. बहुलक – polymer
3. प्रोटिअस – Proteios
4. ब्रह्मांड वैज्ञानिक – cosmologist

इसकी तुलना में 10^{781} संख्या कितनी बड़ी होगी इसकी कल्पना करते हुए अगणित रूपों के तथा गुणों के प्रोटीनों को उत्पन्न करने की क्षमता का अंदाज लगाना संभव है। इसलिए इस पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि हमारे शरीर में एक लाख विभिन्न किस्मों के प्रोटीन उपस्थित हैं तथा जो बाल, नाखून, त्वचा, हड्डियों, उपास्थियों, मांसपेशियों, संयोजी ऊतकों, तंत्रिकाओं, तंतुओं, हीमोग्लोबिन, हार्मोन, इन्सुलिन, अंडों के एल्बूमीन आदि पर तथा कीटाणुओं के ऊपरी कवच अथवा कठोर बाह्य आवरण में नानाविध रूपों में पाये जाते हैं।

इन नानाविध प्रोटीनों की आण्विक संरचना का संपूर्णतया सूक्ष्म वर्णन करना एक विलक्षण तथा स्तंभित करने वाला अत्यधिक जटिल काम है। इसलिए इस पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि आण्विक स्तर पर होने वाली जीनों की रासायनिक क्रियाएं आज भी एक रहस्य बनी हुई हैं। आज हम सृजनशील जीववादियों पर तथा सृजनशील विकासवादियों की रहस्यमय गर्वोक्तियों पर विश्वास नहीं करते क्योंकि उनके अनुसार जैविक प्रक्रियाएं भौतिक-रासायनिक नियमों से नहीं समझी जा सकतीं। जीवों में होने वाली क्रियाएं इसलिए रहस्यमय नहीं हैं कि वे सामान्य प्रयोगशालाओं में की जाने वाली प्रतिक्रियाओं से मौलिक रूप से भिन्न हैं। ये दोनों प्रकार की क्रियाएं एक-सी हैं। परंतु जीवन एक ऐसी प्रक्रिया है जो स्वतः अखंडित रूप से चलने वाली रासायनिक क्रियाओं की एक शृंखला है जो प्रोटीनों की अत्यल्प मात्रा से उत्प्रेरित होती है। इन उत्प्रेरकों को एंजाइम कहते हैं। ये क्रियाएं उत्प्रेरकों की सहायता से प्रयोगशालाओं में की जानेवाली किसी भी अन्य क्रिया के समान ही होती है परंतु ये क्रियाएं बहुत अधिक दक्षतापूर्वक की जाती है। एंजाइम उत्प्रेरको का ही काम करते है, परंतु अकार्बनिक उत्प्रेरकों की तुलना में यह कार्य बहुत अधिक दक्षतापूर्वक किया जाता है। सक्रियकरण से ऊर्जा में काफी कमी हो जाती है। अतः प्राणियों के शरीर में होने वाली रासायनिक क्रियाएं निम्न तापमान पर होती हैं। हाइड्रोजन पेराक्साइड के विघटन का उदाहरण लीजिए। पानी तथा आक्सीजन में विघटित होने के लिए प्रत्येक अणु के लिए 18 किलो कैलोरी ऊर्जा की आवश्यकता होती है, परंतु उत्प्रेरक के रूप में लोहे का उपयोग करने से ऊर्जा की मात्रा घटकर 13 किलो कैलोरी हो जाती है। प्लैटिनम के साथ यह मान 12 हो जाता है। परंतु यकृत में उपस्थित कैटालेस नामक एंजाइम द्वारा इसके लिए केवल 5 किलो कैलोरी ऊर्जा की आवश्यकता होती है। कोशिकाओं की सभी क्रियाओं में एंजाइम एक मध्यस्थ की भूमिका निभाते हैं। प्रयोगशाला में यही काम किसी उत्प्रेरक द्वारा किया जाता है। जैविक प्रक्रियाओं की जटिलता से आज भी हम घबरा जाते हैं। इसका कारण इन क्रियाओं का स्वरूप है। ये एक-दूसरे से जुड़ी हुई रासायनिक क्रियाओं की शृंखलाएं होती हैं। पृथक क्रियाओं का स्वरूप इनसे भिन्न है। यदि हमें किसी एक कोशिका की संपूर्ण चयापचय प्रक्रिया का लेखा-जोखा देना हो तो हमें प्रायः एक हजार एंजाइमों की आवश्यकता होगी। अतः किसी भी तरह की कोशिका के क्रियाशील रहने हेतु जिन एंजाइमों की आवश्यकता पड़ती है उन्हें पृथक करना आज भी एक कठिन कार्य समझा जाता है। परंतु आज के जीवविज्ञानी इसे असंभव कार्य नहीं मानते जिसे पहले के जीवविज्ञानी असंभव मानते थे। बहुत बड़ी संख्या में एक-दूसरे से

आबद्ध प्राय: बहुत साधारण क्रियाओं में सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता इस कार्य को जटिल बना देती है। वे सभी सामान्य भौतिक, रासायनिक तथा ऊष्मागतिकी के नियमों के अनुसार ही होती हैं तथा किसी प्रयोगशाला में होने वाली अन्य क्रियाओं के समान इनमें भी ऊर्जा तथा द्रव्य में रूपांतरण होता रहता है। इस ऊर्जा तथा द्रव्य की कोई विशेषता नहीं है। यह भौतिकी में वर्णित ऊर्जा है तथा दार्शनिक बर्गसन की 'जीवनशक्ति' से अथवा शॉकी शैली में वर्णित 'प्राणशक्ति' से इसका कोई संबंध नहीं है। यद्यपि ये पदार्थ भी सभी स्थानों पर पाये जाने वाले सामान्य पदार्थ ही हैं।

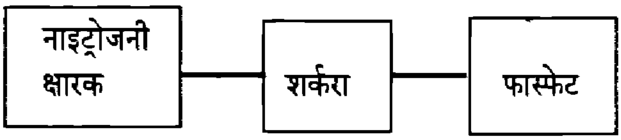
अत: जीवित कोशिका अपनी जन्मजात अस्थिर तथा असंभव-सी व्यवस्था को बनाये रखने हेतु आवश्यक ऊर्जा एक सूक्ष्म ज्वलन प्रक्रिया द्वारा ही प्राप्त करती है। यह प्रक्रिया किसी अंतर्दहन इंजन द्वारा उसमें जलाये जाने वाले ईंधन के बंधनों से प्राप्त की गयी ऊर्जा के समान ही होती है। इन दो क्रियाओं में अंतर केवल इतना ही है कि यह क्रिया अत्यंत कम तापमान पर होती है। अत: जीवन को अत्यधिक क्षीण ज्योति कहा जा सकता है। कोशिकाओं में क्षीण रूप से धधकने वाले इस ज्वलन, जिससे जीवन की सभी क्रियाएं चलती हैं, का गहरा अध्ययन किया गया है। यह क्रिया भौतिकी, रसायन तथा ऊष्मागतिकी के दोनों नियमों का पालन करती है। ये कोशिकाएं प्रकाश संश्लेषण द्वारा सूर्य के प्रकाश से आवश्यक ऊर्जा सीधी तरह से प्राप्त करती हैं जैसा हरे पौधों के हरित लवक (क्लोरोप्लास्ट)[1] द्वारा किया जाता है अथवा श्वसन द्वारा कार्बोहाइड्रेट्स, प्रोटीनों और वसा जैसे पहले से ही तैयार किये गये ईंधनों के आक्सीरण से प्राप्त करती हैं, जैसे प्राणियों की कोशिकाओं की सूत्रकणिकाओं[2] में होता है। फिर वही नियत अणु-एडोनोसिन ट्राइफास्फेट (ATP) अन्न से प्राप्त की गयी मुक्त ऊर्जा तथा सूर्य प्रकाश से पायी गयी मुक्त ऊर्जा को ऊर्जा खर्च करने वाली सभी प्रक्रियाओं को उपलब्ध कराता है। ऊर्जा प्राप्त करने की इन दोनों प्र्..आओं में प्रकाश संश्लेषण के दौरान होने वाले कोशिकाओं के फास्फोरीकरण अथवा प्राणियों की कोशिकाओं के श्वसन ग्लाइकोसिस तथा क्रेब साईट्रिक अम्ल चक्र– ऊर्जासंपन्न इलेक्ट्रान दोनों ही स्थितियों में एंजाइमों के विद्युत वाहक अणुओं की शृंखलाओं से गुजरते हैं। अभी तक सारे वाहकों को पहचानना संभव नहीं हुआ है। परंतु इस बारे में कोई संदेह नहीं है कि जीवित पदार्थों में 'डिसेंट्रॉपिक प्रावस्थाएं' (फेजेज) विद्यमान होती हैं अर्थात ऐसी प्रावस्थाएं जिनके कारण एंट्रोपी में कमी होना है। ऐसा होने का कारण है कुछ एंजाइमों द्वारा ऊर्जासंपन्न इलेक्ट्रानों को पृथक किया जाना। ये एंजाइम मैक्सवेल के राक्षस जैसे ही हैं जिनकी वजह से एंट्रोपी में कमी हो जाती है। परंतु 1871 के पूर्वगामी राक्षस की तुलना में यह काम अत्यधिक जटिल प्रक्रिया द्वारा संपन्न होता है।

जिस प्रकार मैक्सवेल के राक्षस द्वारा किया जाने वाला काम उसके द्वारा गैस के अणुओं से प्राप्त की गयी जानकारी पर आधारित था उसी प्रकार जीवविज्ञानियों के उत्प्रेरक राक्षस उन्हें अपने जन्म से दी गयी आनुवंशिक जानकारी के कारण ही अपना काम कर सकते हैं। यह जानकारी कूट भाषा में होती है। विशिष्ट एंजाइमों को प्रोटीन संश्लेषण प्रक्रिया में कौन सा विशिष्ट काम करना है, इसे निर्धारित करने वाली आनुवंशिक जानकारी को वहन करनेवाला

1. हरितलवक – chloroplast
2. सूत्रकणिकाएं – mitochondria

पदार्थ DNA है। यह डीआक्सीरिबोन्यूक्लिइक एसिड का संक्षिप्त नाम है।

डी.एन.ए.का एक और रासायनिक साथी होता है आर.एन.ए.(RNA) जो रिबोन्यूक्लिइक एसिड का संक्षिप्त नाम है। यह एक खास न्यूक्लिइक अम्ल है। प्रोटीनों के समान न्यूक्लिइक अम्ल भी एक अत्यधिक जटिल संरचना का अणु होता है। ये अणु भी रेखीय शृंखला से ही बनते हैं। परंतु इन शृंखलाओं के घटक एमिनो अम्ल नहीं होते। इनके घटक बिल्कुल भिन्न होते हैं जिन्हें *न्यूक्लीओटाइड* कहा जाता है। एक *न्यूक्लिइक अम्ल* में तीन प्रमुख किस्म के न्यूक्लीओटाइड होते हैं तथा ये निम्नानुसार एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं :



बीच की शर्करा हमेशा वही होती है। परंतु डी.एन.ए. तथा आर. एन.ए. के लिए शर्करा अलग होती है। गुणसूत्रों को विशिष्ट पद्धति से अभिरंजित करने पर इस शर्करा के कारण ही उन्हें पहचाना जाता है। नाइट्रोजनयुक्त समाक्षर चार किस्म के हैं तथा डी.एन.ए. में उपस्थित इन चारों को A,C,G तथा T अक्षरों से पहचाना जाता है। आर.एन.ए. में उपस्थित समाक्षरों को A,C, G,U से पहचानते हैं। न्यूक्लीओटाइडों की शृंखला में एक या दो लड़ें हो सकती हैं। डी.एन.ए. की एक लड़ को निम्नानुसार दर्शाया जा सकता है :

-A-C-C-G-T-T-A-G-C-T-

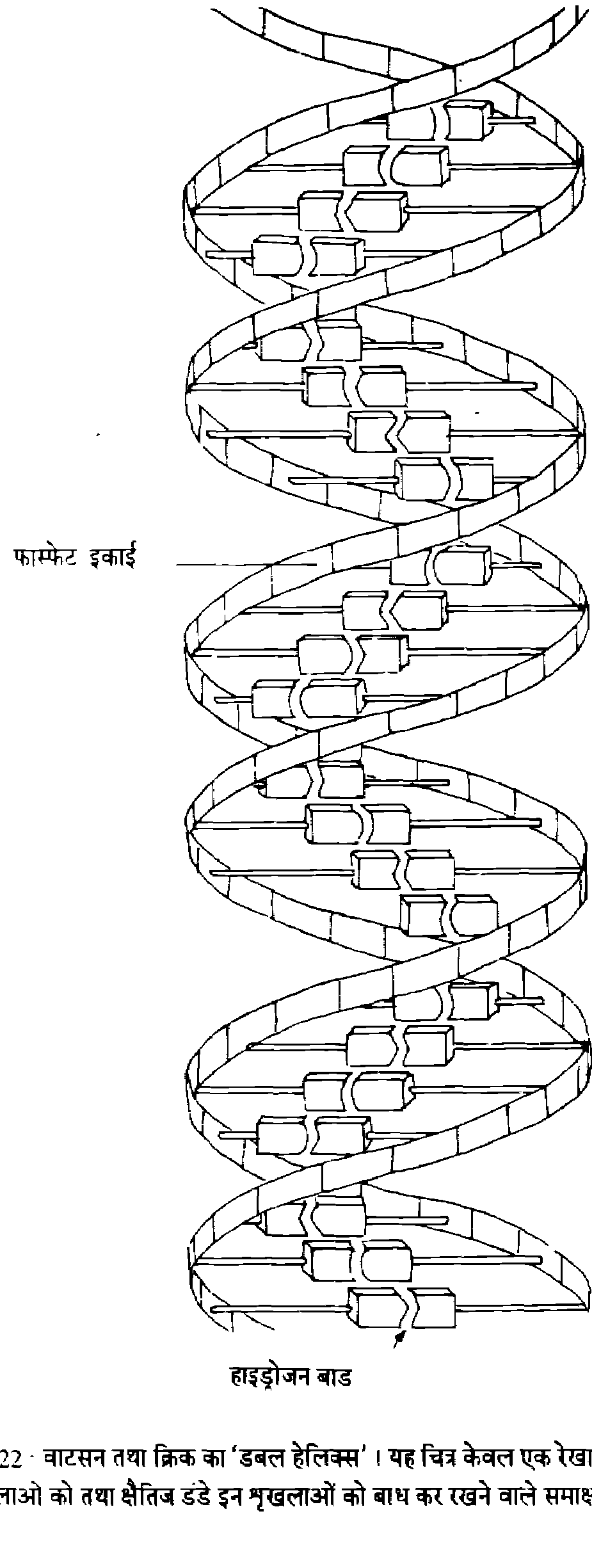
या आर.एन.ए. को

-A-C-C-G-U-U-A-G-C-U-

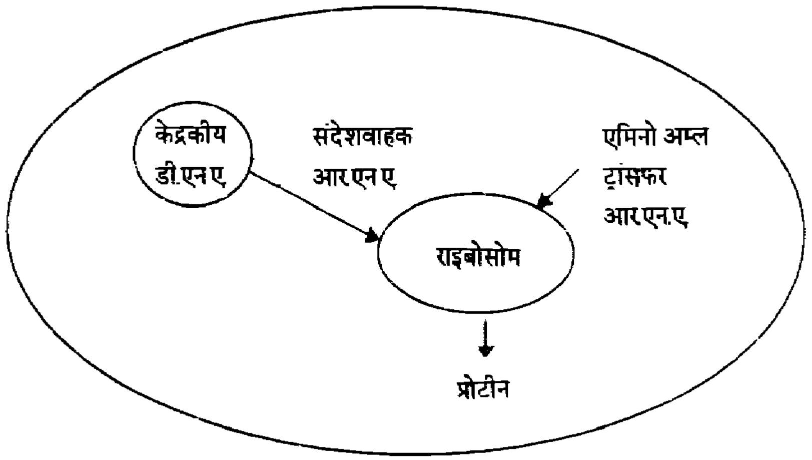
द्वारा दर्शाया जा सकता है। इन दोनों में यही फर्क है कि डी.एन.ए. में जहां-जहां T है वहां U रखने पर आर.एन.ए. प्राप्त होता है। वाटसन को अपनी पुस्तक 'डबल हेलिक्स' के लिए बहुत कीर्ति प्राप्त हुई है (चित्र-22 देखें)। इस डबल हेलिक्स के लिए एक बहुत सरल नियम है। A हमेशा T के साथ तथा C हमेशा के G साथ जोड़ी बनायेगा। इसके अनुसार 'डबल हेलिक्स' का एक भाग निम्नानुसार दिखाया जा सकता है :

```
-A-C-C-G-T-T-A-G-C-T-
 | | | | | | | | | |
-T-G-G-C-A-A-T-C-G-A-
```

चूंकि A की जोड़ी हमेशा T के साथ होती है तथा C की G के साथ, इसलिए एक लड़ी में उपस्थित न्यूक्लीओटाइडों के स्थानों का पता लगने पर दूसरे को निर्धारित किया जा सकता है। हमें केवल इतना ही करना होगा कि A के स्थान पर T तथा C के स्थान पर G रखना



चित्र 22 · वाटसन तथा क्रिक का 'डबल हेलिक्स'। यह चित्र केवल एक रेखाचित्र है। इसकी दो पट्टिया फास्फेट शृखलाओ को तथा क्षैतिज डंडे इन शृखलाओं को बाध कर रखने वाले समाक्षारो को दर्शाते हैं।



चित्र 23 : प्रोटीन संश्लेषण की रूपरेखा ।

होगा । गुणसूत्र के डी.एन.ए. में उपस्थित न्यूक्लीओटाइडों – A,C,G,T – का क्रम प्रोटीन के एमिनो अम्लों में किस प्रकार परिवर्तित होता है, इसे ज्ञात करना आण्विक जीवविज्ञान के क्षेत्र की एक उत्कृष्ट उपलब्धि है । जीवन की विश्वव्यापी भाषा समझने की दिशा में उठाया गया हमारा यह पहला कदम है । इसे आनुवंशिकता की कूट भाषा कहते हैं; यह एक क्षुद्र वाइरस से उच्चतम मनुष्य के लिए अर्थात सबके लिए समान है । सूक्ष्म जीवविज्ञानियों की दर्पोक्ति है कि *इ. कोलाई* जैसे जीवाणु में जो कुछ होता है वही सब कुछ एक हाथी में भी होता है । यदि इसमें कुछ सत्य है तो इस आनुवंशिकता की कूट भाषा तथा उसकी वर्णमाला के संदर्भ में यह कहा जा रहा है, ऐसा मानना होगा !

आनुवंशिकता की भाषा का वर्णन करने से पूर्व हम इस भाषा के वर्णाक्षर क्या हैं — इस बात का पता लगायेंगे । कोशिका के जिन स्थानों पर प्रोटीनों का संश्लेषण हो रहा है,वहां केंद्रकीय डी.एन.ए. में विद्यमान आनुवंशिक जानकारी भेजने के लिए,इस वर्णमाला को तैयार किया गया है । यह कार्य चार चरणों में किया जाता है (चित्र-23 देखें) । सर्वप्रथम दो लड़ियों वाला डी.एन.ए. जिसमें सभी जानकारी संग्रहित होती है, खुलता है तथा हर एक लड़ी में संपूरक क्रमिक न्यूक्लीओटाइडों को जोड़ लेता है । डी.एन.ए. की एक खुली लड़ी में A,C,G,U न्यूक्लोओटाइड जुड़ जाते हैं तथा इस प्रकार आर.एन.ए. की एक कड़ी बन जाती है जो डी.एन.ए. की जानकारी की नकल उतारती है । इसे संदेशवाहक एम.आर.एन.ए. अथवा – आर.एन.ए. कहते हैं । तीसरे चरण में इस प्रकार से उत्पन्न आर.एन.ए. केंद्रक के बाहर आकर कोशिका द्रव्य में प्रवेश करता है और राइबोसोम से जुड़ जाता है । राइबोसोम प्रोटीनों के छोटे कणों तथा दूसरे किस्म के आर.एन.ए. के संयुक्त पदार्थ को कहते हैं । राइबोसोम का कार्य संदेशवाहक

1. प्रतिलिपित – transcribed

आर.एन.ए. के क्रम को एमिनो अम्लों के क्रम में बदलना है। यह काम संगणक के पंचकार्डों द्वारा किये जानेवाले काम के समान ही है। इस 'प्रतिलिपित'[1] आर.एन.ए. को ट्रांसफर आर.एन.ए. कहते हैं। यह भी एक लड़ी वाला ही अणु होता है। चौथा चरण है ट्रांसफर आर.एन.ए. द्वारा किया जाने वाला प्रोटीन का संश्लेषण ट्रांसफर। आर.एन.ए. की 20 किस्में होती हैं। प्रोटीनों में उपस्थित हर एमिनो अम्ल के लिए एक आर.एन.ए. होता है। एमिनो अम्ल-ट्रांसफर आर.एन.ए. का संकर अणु अपने संदेशवाहक आर.एन.ए. अणु के साथ जुड़ जाता है तथा ये राइबोसोम से जुड़ जाते हैं जब पेप्टाइड श्रृंखला में वृद्धि होती है। इससे संदेशवाहक आर.एन.ए. का प्रतिलेख या नकल पढ़ने का एक साधन प्राप्त होता है। इसे पूरी तरह से पढ़ने के बाद ही सही प्रोटीन श्रृंखला बनायी जाती है। यह क्रम निम्नानुसार है :

डी.एन.ए. → आर.एन.ए. → प्रोटीन

उपर्युक्त सारी क्रियाएं एक परखनली में भी की जा सकती हैं बशर्ते इसके लिए आवश्यक एंजाइम तथा राइबोसोम आदि पदार्थ उपलब्ध हों। प्रारंभिक जानकारी का क्रम देने हेतु न्यूक्लिइक अम्ल भी उपलब्ध हो। प्रारंभ में कोशिका में संश्लेषण किस प्रकार से होता है इसका पता भी लगाया गया था। इसी तरह के अन्य प्रमाण एकत्रित करने के बाद आनुवंशिकता की कूट भाषा को भी समझा जा सकता है; अर्थात डी.एन.ए. के न्यूक्लोओटाइड क्रम को आर.एन.ए. के माध्यम से प्रोटीन के क्रम में बदलने की क्रिया को समझा जा सकता है। डी.एन.ए. तथा आर.एन.ए. जैसे न्यूक्लिइक अम्लों में केवल चार ही समाक्षर हैं — आर.एन.ए. में A,C,G,U तथा डी.एन.ए. मे A,C,G,T। बीस एमिनो अम्लों को दर्शाने के लिए कम से कम तीन अक्षरों की आवश्यकता होगी। इन चार अक्षरों में से एक का उपयोग करने से केवल चार एमिनो अम्लों को दर्शाया जा सकेगा, दो अक्षर एक साथ लेने से 4x4 = 16 एमिनो अम्लों को दर्शाया जा सकता है। परंतु तीन अक्षरों के समूह से 4x4x4 = 64 विभिन्न एमिनो अम्लों को दर्शाया जा सकता है। तीन अक्षर हमारे लिए पर्याप्त हैं क्योंकि हमें केवल 20 एमिनो अम्लों को ही दिखाना है। इसीलिए कभी-कभी एक ही एमिनो अम्ल को तीन अक्षरों के भिन्न-भिन्न समूहों द्वारा भी दर्शाया जाता है। इन एमिनो अम्लों को दर्शाने वाले तीन अक्षरों के समूहों को किस प्रकार खोजा गया इस पर अभी हम चर्चा नहीं करेंगे। अभी इतना कहना ही पर्याप्त है कि संदेशवाहक आर.एन.ए. के समाक्षर, अनुक्रम तथा उससे प्राप्त होने वाले प्रोटीनों में स्थित एमिनो अम्लों के क्रम से इस बात का पता चलता है कि हर प्रोटीन का कूट रूप क्या है। उदाहरण के लिए आर.एन.ए. का UUU त्रिसमूह एमिनो अम्ल फेनिलएलानिन का कूट रूप है जो डी.एन.ए. के AAA क्रम के समकक्ष है। इस प्रकार, डी.एन.ए. के चार अक्षर A, C, G,T अनगिनत प्रोटीनों की संरचना को 20 एमिनो अम्लों के रूप में प्रदर्शित कर सकते हैं। डी.एन.ए. तथा आर.एन.ए. के त्रिसमूहों तथा उनसे मेल खाने वाले एमिनो अम्लों में विद्यमान अनुरूपता की जानकारी अब तालिकाओं में उपलब्ध है। ये तालिकाएं हूबहू गुणनसारणी की तरह हैं। सारणी 1 में डी.एन.ए. तथा आर.एन.ए. के त्रिसमूह अथवा कंडोनों को चार एमिनो अम्लों के लिए दर्शाया गया है।

सारणी 1

आनुवंशिकता की कूट भाषा : प्रोटीन संश्लेषण में विभिन्न एमिनो अम्लों को दर्शाने वाले न्यूक्लीओटाइडों के त्रिसमूह (कंडोन)

डी.एन.ए. त्रिसमूह	*आर.एन.ए. त्रिसमूह*	*एमिनो अम्ल*
AAA	UUU	फेनिलएलानिन
AAG	UUC	
AAT	UUA	
AAC	UUG	
GAA	CUU	ल्यूसीन
GAG	CUC	
GAT	CUA	
GAC	CUG	
CTA	GAU	एसपैंटिक अम्ल
CTG	GAC	
TAC	AUG	मिथियोनिन
इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि

संक्षेप में कहा जा सकता है कि डी.एन.ए. में आनुवंशिक भाषा में जो जानकारी संगृहित की गयी है और जो तालिका-1 में कूट रूप में दिखाई गयी है, उसे जीवित कोशिका के उस स्थान पर पहुंचाना है जहां ट्रांसफर आर.एन.ए. द्वारा प्रोटीनों का संश्लेषण किया जा रहा है। कोशिका के उस स्तर पर जहां एमिनो अम्लों का चयन कर उन्हें प्रोटीन अणुओं में शृंखलाबद्ध किया जा रहा है वहां संदेशवाही आर.एन.ए. द्वारा जानकारी दी जाती है। ये क्रियाएं काफी जटिल हैं तथा बहुत विशिष्ट भी हैं। इस प्रकार निर्मित प्रोटीन जिनमें से कुछ स्वयं उत्प्रेरक भी हैं, ऐसी अनेक प्रक्रियाओं में मध्यस्थ का कार्य करते हैं जहां कोशिकाओं द्वारा प्यूराइन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, रंग, द्रव्य, स्टीरॉल आदि संरचना तथा कार्यविधि के लिए आवश्यक पदार्थों का निर्माण किया जाता है। अतः एक जीवित कोशिका किसी अत्यधिक जटिल स्वचालित संगणक जैसी ही है। यह तुलना कुछ स्थूल रूप से की गयी है तथा दुरूह प्रतीत हो सकती है। परंतु एक उसी प्रकार की तुलना है जो प्राणियों की अन्य शरीर-क्रियाओं के साथ की जाती है। इस तरह हृदय को पंप, फेंफड़ों को धौंकनियों की एक जोड़ी, आंख को कैमरा, पेट को किण्वन-पात्र आदि कहना जितना सार्थक है, उतना यह भी है। ऐसी सारी एकरूपताओं में फिर वे कितनी भी स्थूल क्यों न हों, एक तरह की समानता होती है, जो उनकी कार्यविधि के किसी

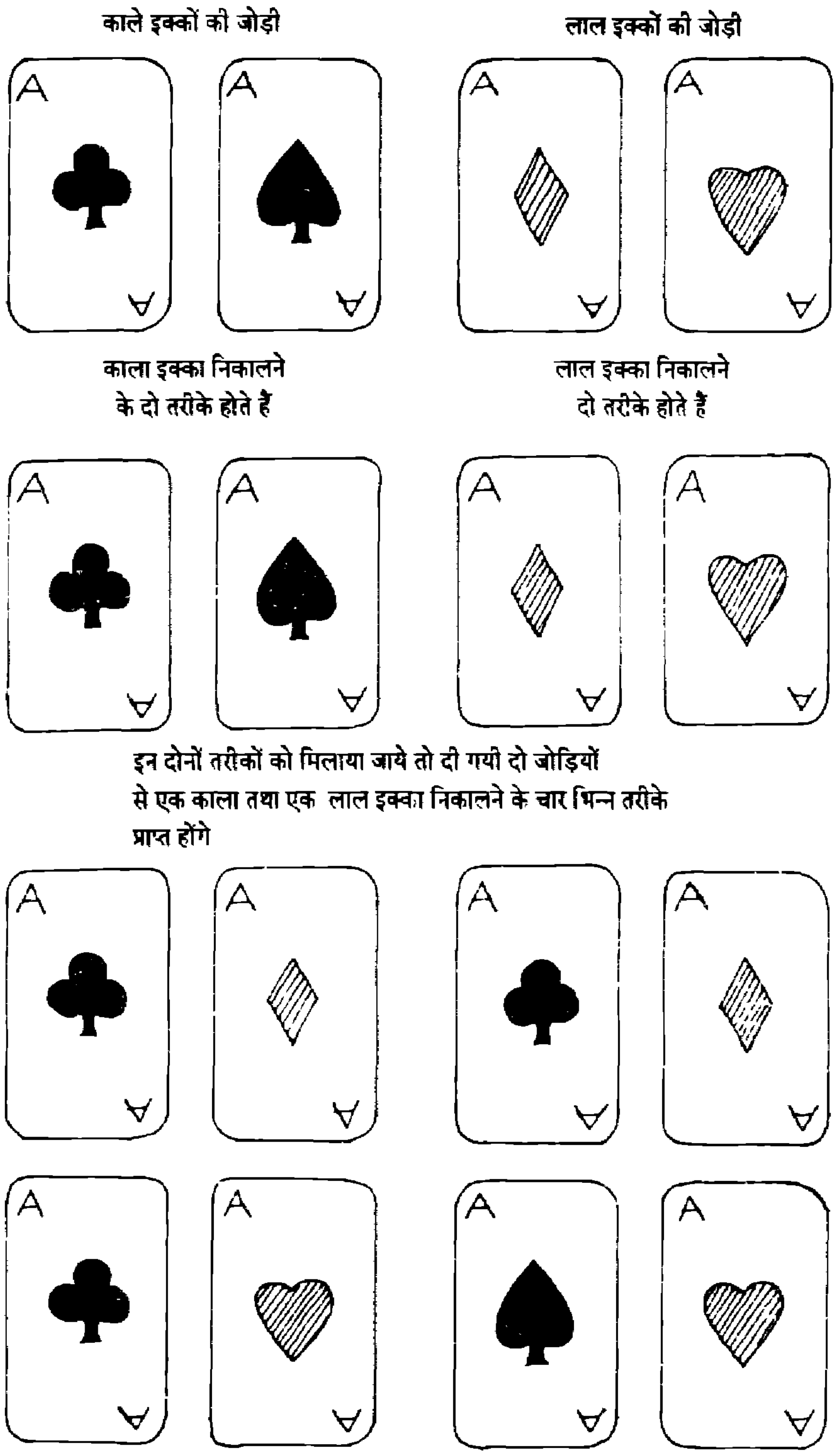
पहलू पर प्रकाश डालती है। कोशिका के अंदर प्रोटीन का संश्लेषण किस प्रकार होता है तथा उसकी क्रियाविधि क्या है, इसकी संपूर्ण जानकारी अभी तक ज्ञात नहीं हो सकी है। परंतु यह किस सिद्धांत पर आधारित है, इसे ज्ञात किया गया है। यह रूपांतरण की एक चक्रीय प्रक्रिया है। इसमें जानकारी का रूपांतरण किसी विशिष्ट नमूने के संघटन क्रम अथवा ऋण एंट्रोपी में होता है और ऋण एंट्रोपी का परिवर्तन जानकारी में हो जाता है। यह घटना मैक्सवेल के राक्षस के समतुल्य है जो सिलिंडर में बंद पड़ा है। न्यूक्लिइक अम्लों की कार्यविधि से भी ऐसा ही संकेत मिलता है कि वे प्रारंभ में उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं जो ज्ञान तथा ऋण एंट्रोपी में अदला-बदली करते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल अणु के अंदर ही नहीं, उसके बाहर भी मानवी दुनिया में ज्ञान एक बड़ी शक्ति है।

6

आनुवंशिकता और आप

ज्यां जैक्युअम रूसो ने अपने अद्वितीय ग्रंथ 'कंफेशंस' (आत्मस्वीकृतियां) में लिखा है — "प्रकृति ने मुझे जिस सांचे में ढाला था उसे अब तोड़ दिया है।" इस प्रकार आत्मप्रशंसा करते समय यदि रूसो को आनुवंशिकता की कुछ जानकारी होती जो आज हम लोगों को है तो वे इस बात से सहमत हो जाते कि उन्होंने ऐसा कुछ भी खास नहीं कहा है जिस पर गर्व किया जाये। हममें से प्रत्येक – चाहे वह प्रतिभाशाली हो या मूढ़मति, विलक्षण हो या मूर्ख, सौंदर्य संपन्न हो या पशुरूप, स्वर्गिम केशसंभार से विभूषित हो अथवा कृष्णवर्णी केशों से – एक ऐसे आनुवंशिक ढांचे में ढला है जिसके होने के न कोई प्रमाण इतिहास में मिलते हैं और न ही उसके बनने की कोई संभावना भविष्य में दिखायी देती है। क्योंकि आनुवंशिक सांचे जिन्हें हम आनुवंशिक रूप कह चुके हैं, बनाने में उतनी ही विविधता है जितनी ब्रिज के खेल में पत्ते बांटते समय दिखाई देती है। एक बार बांटे हुए पत्तों को उसी तरह दुबारा बांटना जितनी दूर की बात है, किसी व्यक्ति के आनुवंशिक रूप की सही-सही नकल करना उतनी ही असंभव घटना है; क्योंकि वह व्यक्ति आज के या पूर्व के लाखों-करोड़ों व्यक्तियों से चुने हुए दो विशिष्ट जनकों के समागम से उत्पन्न हुआ है। इन दो व्यक्तियों के अलावा अन्य कोई भी इसे जन्म नहीं दे सकता था। परंतु इतना कहना ही पर्याप्त नहीं है। इन दो जनकों से उत्पन्न होने वाली संतानों की संख्या सिद्धांततः 70,000,000,000,000 हो सकती थी तथा इन सभी के आनुवंशिक रूप भी एक दूसरे से भिन्न होते।

इस तरह, एक दंपति द्वारा प्रजनित संतानों अथवा आनुवंशिक रूपों की इतनी विशाल संख्या होने का कारण है गर्भधारण, जिसका अर्थ पुरुष शुक्राणु द्वारा स्त्री डिंब का संषेचन भर है। इस दौरान शुक्राणु तथा डिंब के केंद्र का समेकन होकर एक नयी कोशिका उत्पन्न होती है जो वास्तव में उस व्यक्ति को ढालने का सांचा अथवा उसका आनुवंशिक रूप होती है। ताश के पत्तों की एक गड्डी (जिसके चारों बादशाह तथा दो लाल रानियों को हटा दिया गया हो) की सहायता से इस बात को समझाया जा सकता है कि यह सांचा किस तरह बनाया जाता है। आपके पास अब 46 पत्ते हैं जो दो-दो पत्तों की 23 जोड़ियों में रखे जा सकते हैं। इनमें काले इक्के से प्रारंभ कर काली रानियों की जोड़ी तक 12 काली जोड़ियां होंगी; तथा ग्यारह जोड़ियां लाल पत्तों की होंगी जो इक्कों से गुलाम तक के पत्तों से बनी हैं। अब इन जोड़ियों की हर जोड़ी से एक पत्ता खींचिये; जैसे काले इक्कों की जोड़ी से चिड़िया का अथवा हुकुम का इक्का


काले इक्कों की जोड़ी
लाल इक्कों की जोड़ी
काला इक्का निकालने
के दो तरीके होते हैं
लाल इक्का निकालने
दो तरीके होते हैं
इन दोनों तरीकों को मिलाया जाये तो दी गयी दो जोड़ियों
से एक काला तथा एक लाल इक्का निकालने के चार भिन्न तरीके
प्राप्त होंगे

चित्र 24

खींचा जा सकता है । इसी तरह हर रंग तथा श्रेणी का पत्ता खींचिये । इस प्रकार आप 23 पत्तों के कितने पृथक समूह बना सकते हैं ?

इस सवाल को कुछ आसान बनाने के लिए हम चार पत्तों की एक गड्डी लेंगे जिसमें चारों इक्के (एक जोड़ी लाल तथा दूसरी काले) हैं (चित्र-24 देखें)। अब काले इक्कों की जोड़ी से एक इक्का खींचिये । काले पत्ते दो प्रकार से खींचे जा सकते हैं । इसी प्रकार लाल पत्ते भी दो प्रकार से खींचे जा सकते है । इन दोनों प्रकार से पत्ते खींचने की क्रिया को मिला देने पर हम यह क्रिया $2\times2=2^2=4$ तरह से कर सकते हैं । इसे चित्र-24 में दर्शाया गया है । यदि आपके पास तीन जोड़ियां होतीं तो पत्ते खींचने की क्रिया 8 भिन्न -भिन्न प्रकार से करना संभव होता $2x2x2 = 2^4 = 8$ (चित्र-25 देखें)।

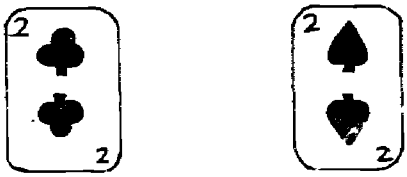
यह जानना कठिन नहीं है कि पत्तों की जोड़ियों की संख्या में एक की वृद्धि होती है तो पत्ते खींचने के तरीकों में जो वृद्धि होती है उसे दो के घात से दर्शाया जा सकता है । अत: 46 पत्तों की 23 जोड़ियों से प्रारंभ करने के बाद 23 पत्तों को हम लोग 2^{23} विभिन्न प्रकार से खींच सकते हैं । यह संख्या 8,3,88,608 होगी । यदि पत्तों के स्थान पर हम गुणसूत्रों की कल्पना करें तो अर्द्धसूत्रण द्वारा किसी कायिक कोशिका से एक शुक्राणु अथवा डिंब उत्पन्न होता है तब क्या होगा । इसकी कल्पना हम लोग कर सकते हैं । मानव शरीर की कायिक कोशिका में गुणसूत्रों की 23 जोड़ियां विद्यमान हैं । ये जोड़ियां पत्तों की गड्डी में उपस्थित एक ही रंग तथा श्रेणी की 23 जोड़ियों जैसी होती हैं । जब उस कोशिका का विभाजन होता है तब हर जोड़ी से एक गुणसूत्र प्राप्त किया जाता है तथा दो शुक्राणु अथवा दो डिंब उत्पन्न होते हैं जिनमें 23 पृथक गुणसूत्र उपस्थित रहते हैं (चित्र-26 देखें)।

इस प्रकार जनन-कोशिका[1] से अर्द्धसूत्रण द्वारा शुक्राणु (डिंब) निर्मित होने की क्रिया की तुलना 46 पत्तों से 23 पत्ते खींचने की क्रिया से की जा सकती है । इसीलिए कोई भी शुक्राणु (डिंब) संभावित $2^{23} = 8,388,608$ शुक्राणुओं में से कोई भी एक हो सकता है । ये शुक्राणु 46 गुणसूत्रों के 23 विभिन्न समूहों से उत्पन्न हो सकते हैं । इन अस्सी लाख शुक्राणुओं में से कोई भी एक उतनी ही बड़ी संख्या के डिंबों में से किसी एक को संसेचित कर एक नया आनुवंशिक रूप उत्पन्न कर सकता है । अत: दो जनकों द्वारा प्रजनित किये जाने वाले आनुवंशिक रूपों की काल्पनिक संख्या $2^{23}x2^{23} = 70,368,744,177,664$ होगी । अथवा इसका स्थूल मान 70,000,000,000,000 होगा । यह ब्रिज में पत्तों की किसी बाजी को दुबारा प्राप्त करने की संभावना से बहुत दुर्लभ घटना है तथा चारों खिलाड़ियों को किसी एक रंग के तेरह पत्ते बांटे जाने की घटना से इसकी संभावना 10 गुना अधिक है ।

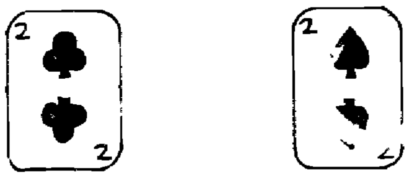
एक ही दंपति द्वारा प्रजनित पृथक आनुवंशिक रूपों की संख्या बहुत विशाल है, परंतु इन सब में जो विविधता पायी जाती है उसका एक ही मूल कारण है क्योंकि इन अगणित आनुवंशिक रूपों में से प्रत्येक 23 समजात या एक-से गुणसूत्रों का एक सेट है । यह स्थिति कुछ उसी प्रकार की है जो उदाहरणस्वरूप दी गयी ताश की गड्डी की एक श्रेणी की 23 जोड़ियों

1. जनन-कोशिका – germ cell

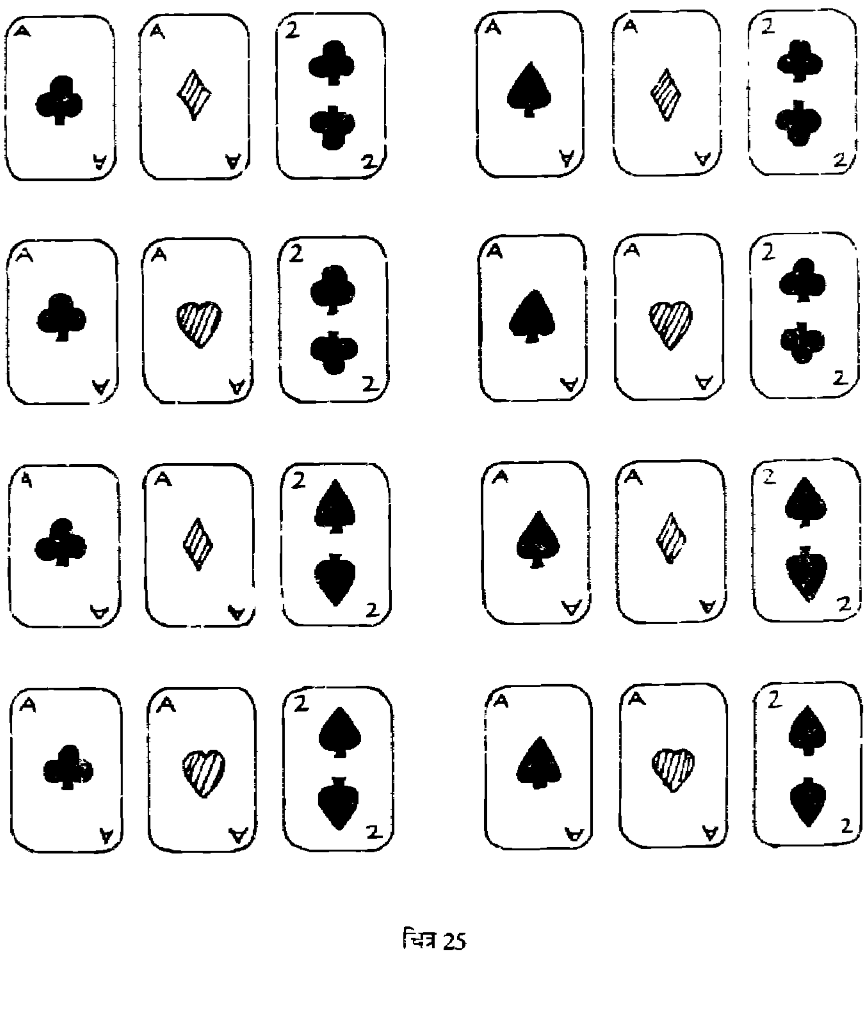
काली दुक्कियों की जोड़ी



एक दुक्की निकालने के दो तरीके हैं



इन दोनों तरीकों मे से प्रत्येक लाल तथा काले इक्के निकालने के चार तरीको से मिल जाये तो कुल तरीके $4x2 = 8$ होगे ।



चित्र 25

में दिखाई देती है। जिस प्रकार हम इन पत्तों की जोड़ियों को क्रमबद्ध तरीके से रख सकते हैं, उसी प्रकार यदि गुणसूत्रों की जोड़ियों को हम एक पंक्ति में रखते हैं तो वे किस प्रकार दिखाई देंगी इसे चित्र-26 में दिखाया गया है। इन जोड़ियों में दो तरह की रचनाएं दिखाई देंगी — एक पुरुष कोशिकाओं में उपस्थित गुणसूत्रों की तथा दूसरी, स्त्रियों की कोशिकाओं में उत्पन्न गुणसूत्रों की। इन 23 जोड़ियों में पुरुष की 23वीं जोड़ी के अलावा अन्य सभी जोड़ियों में सुमेल है। परंतु 23 वीं जोड़ी कुछ भिन्न है अथवा यह जोड़ी बेमेल है। इस जोड़ी में उपस्थित गुणसूत्रों में एक यथार्थ गुणसूत्र है जिसे x गुणसूत्र कहते हैं। उसका साथी वस्तुतः एक दुर्बल गुणसूत्र है जिसमें उपस्थित जीनों की संख्या भी कम है। इस दुर्बल अथवा मूक गुणसूत्र को Y गुणसूत्र कहते हैं तथा यह केवल पुरुषों में ही पाया जाता है। हर नर संतान की कोशिका में यह गुणसूत्र अपने पिता की ओर से संप्रेषित किया जाता है। मां की कोशिकाओं में यह गुणसूत्र नहीं पाया जाता। इसलिए इसे संप्रेषित करने का पूरा दायित्व पिता का ही है। मां की 23 वीं जोड़ी में दोनों x गुणसूत्र ही होते हैं। अतः मां की जनन-कोशिका से उत्पन्न होनेवाले डिंबों में अनिवार्य रूप से एक X गुणूसत्र होता है। पुरुष की कोशिका में X तथा Y दोनों प्रकार के गुणसूत्र होने की वजह से उसकी जनन-कोशिका से उत्पन्न आधे शुक्राणुओं में X तथा शेष आधे में Y गुणसूत्र होता है। किसी डिंब का निषेचन जब X धारी शुक्राणुओं द्वारा होगा तो उत्पन्न संतान लड़की होगी तथा Y धारी शुक्राणुओं से निषेचित डिंब से लड़का पैदा होगा (XY) (चित्र-27 देखें)। अतः संतान पुरुष होगी अथवा स्त्री अर्थात उसका लिंग क्या होगा, इस बात का निर्णय आनुवंशिक है परिवेशी नहीं, इसका निर्णय करते समय केवल इतना ही ज्ञात होना चाहिए कि डिंब का निषेचन X धारी शुक्राणु द्वारा किया गया है अथवा Y धारी शुक्राणु द्वारा। इसी कारण X तथा Y गुणसूत्रों को लिंग गुणभूत्र कहते हैं। इसके अलावा 22 जोड़ियों में उपस्थित गुणसूत्रों को अलिंगी गुणसूत्र कहते हैं। गुणसूत्रों की तेईसवीं जोड़ी को लिंग गुणसूत्रों की जोड़ी कहा जाता है। पुरुष के इस जोड़ी के गुणसूत्र भिन्न होते हैं, परंतु सभी में ये एक-से होते हैं। वंशागत रूप से प्राप्त किये गये जीनों के कारण उत्पन्न होने वाले अभिलक्षणों में लिंग ही ऐसा एक मात्र अभिलक्षण नहीं है जो इन जीनों के कारण उत्पन्न होता है। अन्य अभिलक्षण भी जीनमूलक होते हैं। इनमें रक्त समूह, त्वचा तथा आंखों का रंग, बालों का रंग तथा उनका घुंघराला होना अथवा न होना आदि गुण सम्मिलित किये गये हैं। परंतु आनुवंशिक तथा परिवेशी परिणामों को पृथक रूप से जानना हमारे लिए संभव न होने की वजह से हम इन बातों को ठीक से समझ नहीं सकते। इसीलिए मानवी आनुवंशिकता को मर्यादित रूप में ही समझा जा सकता है क्योंकि वह वंशानुगत तथा परिवेशी प्रभावों का एक जटिल सम्मिश्रण है। इस उलझन को सुलझाने के लिए प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। इन प्रयोगों में आनुवंशिक दृष्टि से भिन्न जीवों का संकरण अथवा आनुवंशिकता की दृष्टि से समान जीवों को भिन्न परिवेश में पालकर बड़ा किया जाना सम्मिलित है। मनुष्यों में प्रजनन प्रयोग करना संभव नहीं है क्योंकि उनके आनुवंशिक रूप पर नियंत्रण रखना अथवा उनके परिवेश को नियंत्रित करना या प्रयोगों के लिए संकरित प्रजा उत्पन्न करना संभव नहीं होता।



नारी के गुणसूत्र



पुरुष के गुणसूत्र

चित्र 26

इस हेतु परिवार, वंशावली तथा लोगों के बड़े समूह जिसे हम जनसंख्या कहते हैं, के परोक्ष अध्ययन से प्राप्त जानकारी पर अथवा मेंडेल ने जिस प्रकार मटर के पौधों पर अथवा केला मक्खियों पर प्रयोग कर अपने नियम बनाये, उसी प्रकार आनुवंशिकता के सामान्य नियमों का बाह्यवेशन[1] पर हमें निर्भर करना पड़ता है । इन दोनों तरह से मानवी आनुवंशिकता नामक नयी ज्ञान शाखा निर्माण करने के प्रयास किये गये है । परंतु यह अभी भी अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही है । परंतु इसका संपूर्ण विकास होने पर (अ) हर एक गुणसूत्र में उपस्थित प्रत्येक जीन को किसी विशिष्ट अंक अथवा अक्षर में पहचानना हम लोगों के लिए संभव होगा, तथा (ब) यह जीन संतानों में कौन सा अभिलक्षण उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी होगा — इसे निर्धारित करना संभव होगा ।

उदाहरण के लिए ऐसा कहना संभव होना चाहिए कि बारहवीं जोड़ी के गुणसूत्रों में 500 जीन उपस्थित हैं तथा 15वीं जोड़ी में 329 जीन । इनके कार्य को जानना भी आवश्यक है । इसलिए कि गुणसूत्र में उपस्थित जीन एक सरल रेखा पर रहते हैं । कौन सा जीन कहां होगा इसे निश्चित करने के लिए गुणसूत्र के सिरे से उसकी दूरी ज्ञात कर यह निर्धारित किया जा सकता है । ऐसा मान लिया जाये कि x,y,z ये तीन जीन 12वीं गुणसूत्र की जोड़ी में उपस्थित हैं । इनसे आंखों का रंग, नाक का आकार तथा बालों की किस्म आदि का निर्धारण किया जाता है । ऐसा भी मान लिया जाये कि वे गुणसूत्र के सिरे से d, d2, d3 की दूरी पर स्थित हैं । यह अंतर किसी उचित स्केल पर मापा गया है । इस जानकारी के अनुसार, एक सरल रेखीय आकृति का रेखांकन किया जा सकता है (चित्र-28 देखें) । इस आकृति द्वारा हर जीन का सापेक्ष स्थान दर्शाया गया है तथा संतानों में उत्पन्न अभिलक्षणों को प्रकट करने में उसकी क्या भूमिका होती है इसे दर्शाया गया है । इन आरेखों को गुणसूत्रीय मानचित्र कहते हैं । इन मानचित्रों द्वारा

1. बाह्यवेशन – extrapolation.

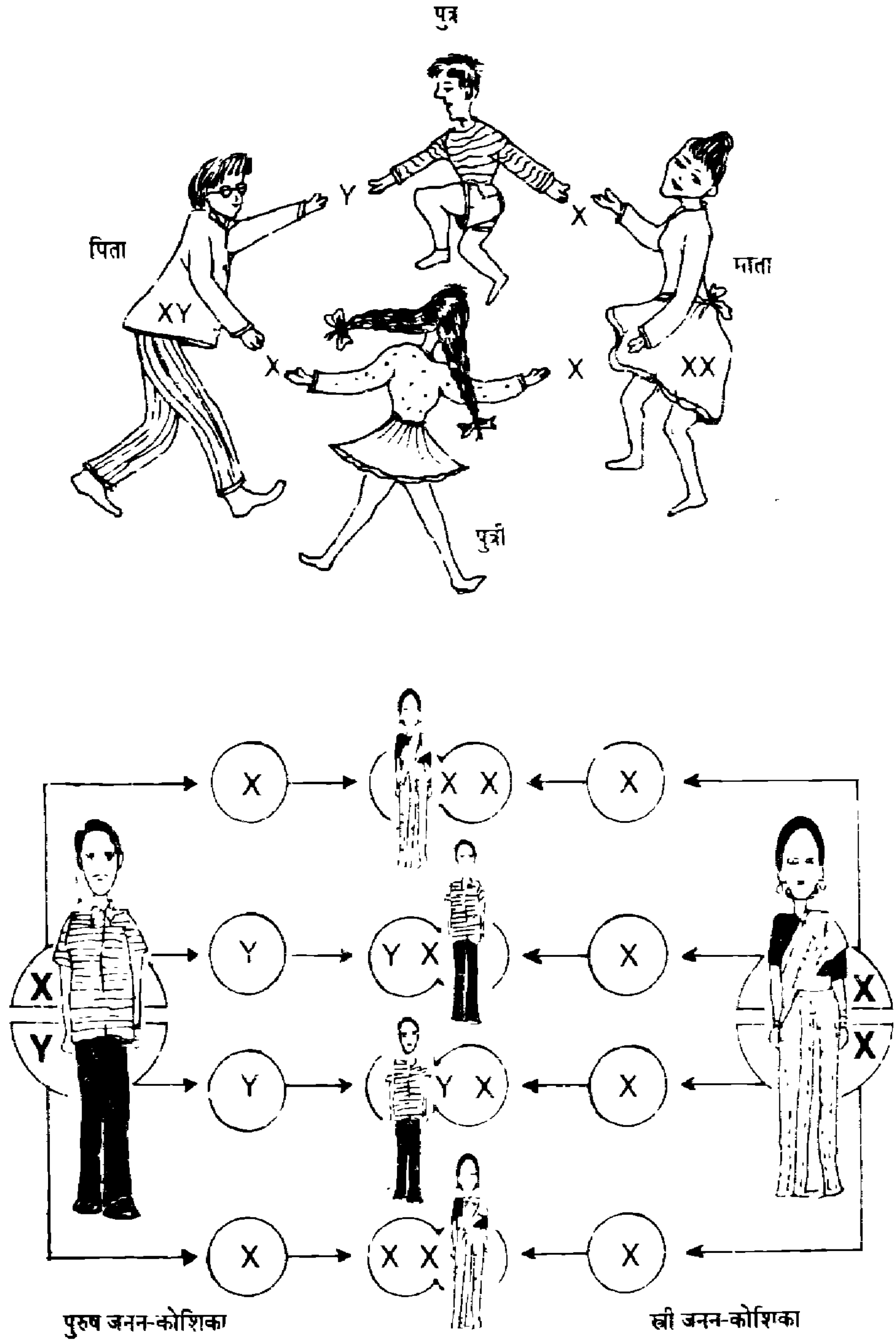
मनुष्य के भविष्य के बारे में अधिक विश्वासपूर्वक जानकारी दी जा सकती है। हस्तरेखा देखकर भविष्य बताने वालों की अपेक्षा इन रेखाओं पर अधिक विश्वास किया जाना चाहिए। इसी प्रकार का एक काल्पनिक मानचित्र चित्र-28 में दिखाया गया है। इसमें यह दिखाने की कोशिश की गयी है कि जब मानवीय आनुवंशिकी का विकास पूर्ण होगा तब किस प्रकार से भविष्य दर्शाने वाली इन रेखाओं को दिखाया जायेगा।

मनुष्य का गुणसूत्रीय मानचित्र तैयार करने का कार्य इतना कठिन नहीं है जितना प्रारंभ में प्रतीत होता है। इस प्रकार के मानचित्र केला मक्खी तथा मक्का के पौधों जैसे सामान्य जीवों के लिए तैयार किये जा चुके हैं; क्योंकि इन्हें प्रयोगों के दौरान प्रजनित किया जा सकता है तथा इनकी पीढ़ियां बहुत तेजी से उत्पन्न होती हैं। इन मानचित्रों को अन्योन्य गमन मानों के आधार पर तैयार किया गया है। इसका उल्लेख चौथे अध्याय में किया जा चुका है। अन्योन्य गमन के ये मान हमें केला मक्खी तथा मक्के के पौधे पर किये गये सहलग्नता प्रयोगों के फलस्वरूप प्राप्त हुए हैं। मनुष्य के लिए यह मानचित्र बनाने का काम प्रारंभ हो चुका है। इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए X तथा Y इन दो लिंग गुणसूत्रों के सहलग्नता मानचित्र तैयार किये जा रहे हैं। ये गुणसूत्र आसानी से पहचाने जा सकते हैं तथा जीनों के बीच का अंतर भी मापा जा सकता है जो इस प्रकार के मानचित्र तैयार करने के लिए आवश्यक है। अलिंगी गुणसूत्रों की तुलना में लिंग गुणसूत्रों के जीनों के लिए ऐसा करना अधिक आसान है। लिंग गुणसूत्रों में केवल वही जीन नहीं होते जो केवल लिंग-निर्धारण का ही काम करते हैं, उनमें ऐसे अन्य जीन भी उपस्थित होते हैं जो कई अन्य गुणों को भी प्रकट करते हैं। इन जीनों का प्राणी के लिंग से बस इतना ही संबंध होता है कि वे लिंग-जीनों के साथ एक ही गुणसूत्र में उपस्थित रहते हैं। उन्हें लिंग सहलग्न[1] कहा जाता है। लिंग से संबंधित होने की वजह से इनके द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले बाह्य रूपों को आसानी से पहचाना जा सकता है।

इसका एक अच्छा उदाहरण है लाल-हरे रंगों की वर्णांधता। यह लिंग सहलग्न अभिलक्षणों में सबसे सामान्य अभिलक्षण है। 5 से 8 प्रतिशत पुरुषों में तथा 0.5 प्रतिशत स्त्रियों में यह दोष पाया जाता है। मेंडेल के नियम के अनुसार यह एक लिंग सहलग्न अप्रभावी जीन के रूप में विरासत में प्राप्त किया जाता है। C तथा c को वर्णांधता उत्पन्न करनेवाले जीन के दो युग्मविकल्पी अथवा रूपभेदी जीव मान लीजिए। चूंकि वर्णांधता की स्थिति सामान्य स्थिति में अप्रभावी होती है, मात्र दोहरे अप्रभावी युग्म cc वर्णांध होंगे और दोनों दोहरे युग्मज CC तथा Cc सामान्य होंगे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्णांधता का दोष पुरुषों में अधिक क्यों दिखाई देता है और बहुत कम स्त्रियां वर्णांध क्यों होती हैं। यदि हम इस बात को याद करें कि पुरुष X-गुणसूत्र अपनी सभी बेटियों को देता है, अपने पुत्रों को X गुणसूत्र नहीं देता, जबकि मां सभी बच्चों को X गुणसूत्र ही देती है। इसलिए यदि मां वर्णांध हो तो उसके सारे बच्चे वर्णांध होंगे, उनके पिता वर्णांध हों अथवा नहीं (चित्र-29 देखें)। पिता की दृष्टि सामान्य

---

1. लिंग सहलग्न – sex linked
2. जमाव – coagulation.



चित्र 27 अ,ब : लिंग गुणसूत्रों का जनको से सतानों को सप्रेषण-पिता एक X गुणसूत्र पुत्री को तथा एक Y गुणसूत्र पुत्र को देता है। माता अपनी सभी सतानो को X गुणसूत्र ही देती है। पुत्र अपनी माता से X तथा पिता से Y गुणसूत्र प्राप्त करता है। कन्या दोनों जनको से X गुणसूत्र प्राप्त करती है।

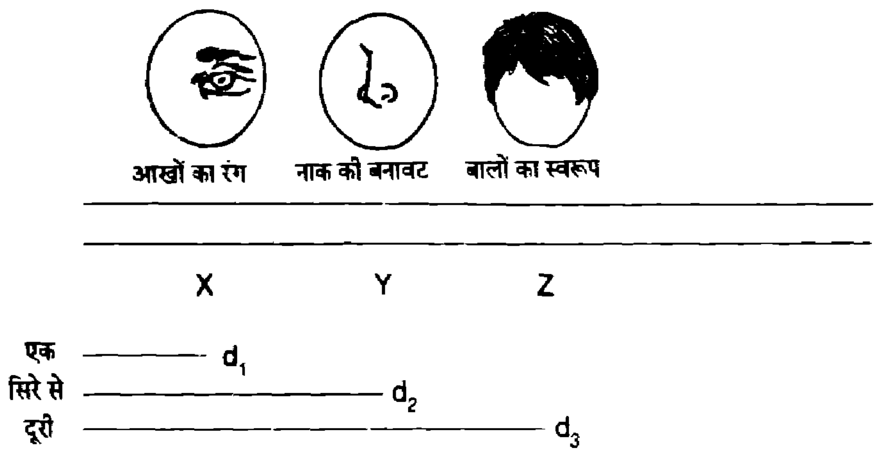
हो तो सभी बेटियों की दृष्टि सामान्य होगी चाहे उसकी पत्नी वर्णांध ही क्यों न हो। ये बेटियां वर्णांधता उत्पन्न करने वाले जीन का वहन करेंगी; क्योंकि उनके शरीर में अप्रभावी जीन c उपस्थित होता है तथा पिता से प्राप्त किया गया प्रभावी जीन C भी। यदि इस प्रभावी जीन का वहन करने वाली बेटियों की शादी सामान्य दृष्टि के पुरुषों से होती है तो उनकी बेटियां सामान्य होंगी, परंतु उनके बेटों में आधे वर्णांध होंगे तथा आधे सामान्य। वर्णांध बेटी पैदा होने के लिए वर्णांध पुरुष तथा वर्णांध स्त्री द्वारा संतान उत्पन्न किया जाना चाहिए। इसलिए कि वर्णांध स्त्री अथवा वर्णांधता का जीन वहन करने वाली स्त्रियों की तथा वर्णांध पुरुषों की संख्या काफी कम होती है इसलिए ऐसी शादियों की संभावना बहुत कम है (चित्र-30 तथा 31 देखें)।

इसी प्रकार हीमोफिलिया की एक किस्म प्रायः उन पुरुषों में ही पायी जाती है जिनके माता-पिता दोनों ही सामान्य हैं, परंतु इस रोग को उत्पन्न करने वाले अप्रभावी जीन का वहन करते हैं। इस रोग से पीड़ित व्यक्तियों के खून में हवा की उपस्थिति में थक्के नहीं बनते। सामान्य व्यक्तियों के खून के थक्के बनने की वजह से रक्तस्राव सीमित हो जाता है। अतः अत्यधिक रक्तस्राव नहीं होता। इन्हें अधिक रक्त बहने की वजह से जान को खतरा उत्पन्न नहीं होता। परंतु हीमोफिलिया से पीड़ित व्यक्ति को अत्यंत मामूली चोट लगने पर भी रक्त में जमाव का गुण न होने के कारण इतना अधिक खून बह जाता है कि इस कारण उनकी मौत भी हो सकती है। हीमोफिलिया उत्पन्न करने वाला जीन प्रायः प्राणलेवा सिद्ध हो सकता है। हीमोफिलिया से पीड़ित पुरुष यदि प्रजनन करने योग्य आयु तक जिंदा रह जाते हैं तो वे ऐसी बेटियों को जन्म देंगे जो सामान्य तो होंगी परंतु हीमोफिलिया की वाहिका होंगी। यह आधा जीन उनके बेटों (हीमोफिलिया से पीड़ित पुरुषों के नातियों) में पहुंचेगा और आधा इनकी (स्त्री वाहिका की) बेटियों को, जो विषम युग्मज की वाहिका होंगी। इस रोग का जीन विषम युग्मज वाहक द्वारा बेटियों, नतनियों आदि को संप्रेषित किया जायेगा। इनका रक्त सामान्य होगा, परंतु इनकी पुरुष संतानों में से आधी इस रोग से पीड़ित होंगी। यूरोप के कुछ राजघरानों में कुछ लोग इस रोग से पीड़ित थे। महारानी विक्टोरिया तथा उनकी संतानों के कारण ही इस रोग का फैलाव हुआ। यह प्रकरण बहुत प्रसिद्ध है।

X गुणसूत्र में उपस्थित वर्णांधता तथा हीमोफिलिया उत्पन्न करने वाले जीनों के अलावा आनुवंशिकीविदों ने एक और प्रकार के जीन का पता लगाया है। इसे लिंग सीमित[1] जीन कहते हैं तथा इससे गंजापन होता है। लिंग सहलग्न जीनों के समान जीन X गुणसूत्र में नहीं रहता, परंतु स्त्री तथा पुरुषों के 22 अलिंगी गुणसूत्र में से किसी भी एक में उपस्थित हो सकता है। अतः गंजेपन का जीन स्त्री तथा पुरुष दोनों ही वंशानुगत रूप से प्राप्त करते हैं। परंतु दोनों के शरीर में यह एक ही तरह से कार्य नहीं करता। पुरुष के शरीर में यह एक प्रभावी जीन के रूप में कार्य करता है। अतः इस एक जीन की उपस्थिति उसे गंजा बनाने के लिए पर्याप्त है। स्त्री के शरीर में यह एक सीमित अप्रभावी जीन के रूप में कार्य करता है। इसलिए जब तक

---

1. लिंग सीमित – sex limited.



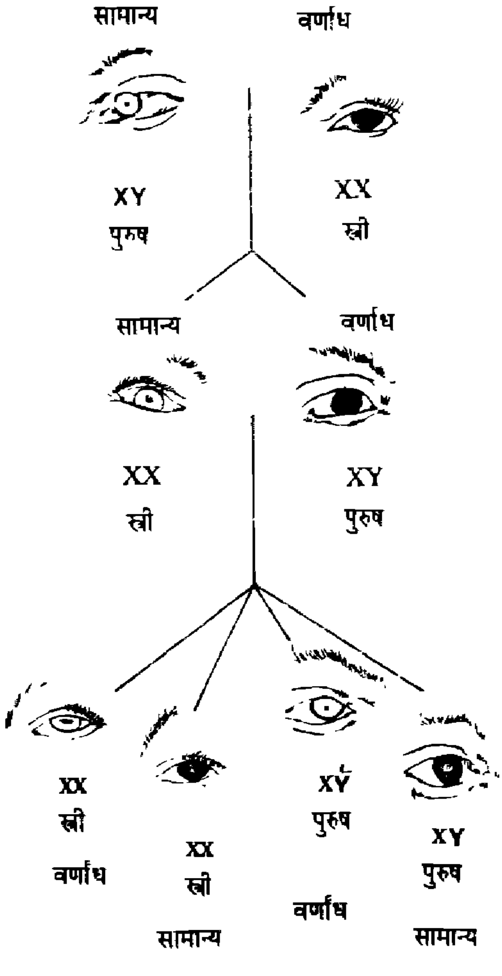
चित्र 28 : काल्पनिक गुणसूत्रीय मानचित्र । इसमें जीनों की गुणसूत्रीय स्थिति तथा वे समजात गुणसूत्रों की जोड़ी पर किस प्रकार सुमेलित किये जाते हैं, इसे दर्शाया गया है ।

कोई स्त्री गंजापन उत्पन्न करनेवाले दो जीन प्राप्त नहीं कर लेती वह गंजी नहीं होगी । ऐसी स्थिति में भी संपूर्ण गंजापन उत्पन्न नहीं होता (उसके बाल कुछ कम हो जाते हैं (चित्र-32 देखें) । मेंडेल के मौलिक नियम के अनुसार किसी विशिष्ट जीन को सभी व्यक्तियों में समान रूप से अभिव्यक्त होना चाहिए । परंतु जीन इस नियम का पालन नहीं करते । ये जीन कुछ भिन्न होते हैं तथा विकास के दौरान भिन्न परिणाम उत्पन्न करते हैं । यह भिन्नता उन्हें धारण करने वाले व्यक्तियों के अनुसार भिन्न होती है । इन भिन्न जीनों का अस्तित्व समझना कठिन नहीं है । जीन विभिन्न जीव-रासायनिक क्रियाओं की शृंखलाओं को कार्यांवित करने का एक साधन है । यदि इस क्रम में कहीं परिवर्तन होता है तो प्रत्यक्ष रूप से इन क्रियाओं को प्रभावित न करनेवाला जीन अपने को अभिव्यक्त करते समय कुछ बदल जायेगा । दूसरे शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि किसी आनुवंशिक रूप द्वारा उत्पन्न होने वाला बाह्य रूप सदा एक-सा नहीं होता । यही तथ्यअसाधारण गंजेपन का जीन प्रदर्शित करता है ।

दोनों लिंगों के (ग्रंथियों के कारण) ग्रंथिल संगठन या रचना द्वारा, यह जीन किस प्रकार से अभिव्यक्ति होगा, यह निर्धारित किया जाता है । स्त्री के शरीर में 'पुरुष' हार्मोनों की अल्प मात्रा होने की वजह से यह जीन प्रकट नहीं होता । इसे प्रकट होने के लिए इन हार्मोनों की पर्याप्त मात्रा की आवश्यकता होती है । डा. जेम्स बी. हैमिल्टन ने अपने अध्ययन तथा प्रयोगों से इस बात की पुष्टि करने के प्रमाण एकत्रित किये हैं । उन्होंने पुरुषों के एक बड़े समूह को 'पुरुष' हार्मोन की मात्रा दी । इन पुरुषों में कई दुर्घटना, आघात या चोटों के कारण अपना पुरुषत्व खो चुके थे । कुछ में किन्हीं जैविक कारणों से लैंगिक परिपक्वता नहीं आयी थी । हार्मोन का उपचार प्रारंभ करने से पूर्व इनमें एक भी गंजा नहीं दिखाई देता था, परंतु इस उपचार के प्रारंभ होने के बाद कई लोगों के बाल झड़ने लगे । इनमें से अधिकांश ऐसे थे जिनके परिवारों में

गंजापन सामान्य रूप से पाया जाता था और इसी कारण ये गंजापन उत्पन्न करने वाले जीन के वाहक थे। जो पुरुष गंजेपन के जीन के धारक नहीं थे उनमें हार्मोन की बड़ी मात्रा देने के बाद भी गंजापन नहीं दिखाई दिया। इसका अर्थ यही है कि गंजेपन का जीन पुरुषों में अपना प्रभाव तुरंत दिखाता है। परंतु स्त्रियों में वह या तो पूर्णतः प्रभावहीन होता है अथवा उसका प्रभाव अत्यल्प ही होता है। गंजेपन के जीनों द्वारा बाह्य रूप जिस सीमा तक प्रभावित होता है वह फेनोटाइपिक प्रभाव अथवा पेनिट्रांस[1] कहलाता है। पुरुषों में इसका मान शत प्रतिशत है, परंतु स्त्रियों में प्रायः शून्य के बराबर।

आंशिक प्रभाव उत्पन्न करने वाले अन्य जीन भी ज्ञात हैं। इसका एक उदाहरण है आंखों का नीला-दृढ़ पटली होना। जो व्यक्ति इस रोग को उत्पन्न करने वाला प्रभावी जीन D विरासत



चित्र 29 : एक वर्णांध स्त्री तथा सामान्य पुरुष के विवाह के बाद की स्थिति। यहां यह दोष सभी पुत्रों में तथा पौत्र व प्रौत्रियों में सम्प्रेषित होता है।

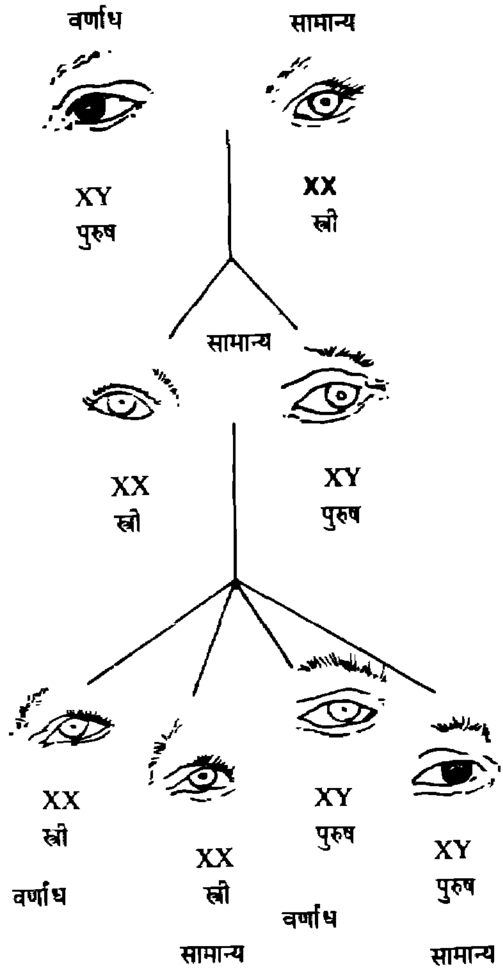
1. फेनोटाइपिक प्रभाव – phenotypic effect; penetrance.

में प्राप्त करता है उसकी आंखों की बाहरी दीवारें बहुत पतली होती हैं जिसकी वजह से सामान्य लोगों में पाये जाने वाले सफेद दृष्टिपटल के स्थान पर इस व्यक्ति का दृष्टिपटल नीला हो जाता है। आंखों का यह दोष स्वयं इतना खतरनाक नही है, परंतु प्रायः इस दोष के साथ शरीर के अन्य भागों में गंभीर त्रुटियां उत्पन्न होती हैं। इनमें एक विशिष्ट किस्म का बहरापन तथा हड्डियों का अत्यधिक भंगुर होना सम्मिलित है। हड्डियों की भंगुरता के कारण अस्थिभंग का खतरा सदैव बना रहता है। कर्ट स्टर्न द्वारा ओस्लो में रहने वाले एक युवा व्यक्ति का किस्सा दिया गया है। यह व्यक्ति एक विषम युग्मज पुरुष था तथा इस जीन का वाहक था। किसी सुंदर युवती को देखने के लिए जब वह रास्ते में तेजी से मुड़ा तो उसके पांव की हड्डी टूट गयी। एक अन्य घटना में उसने अपनी प्रेयसी को गोद में बिठा लिया तो उसकी गोद की हड्डी टूट गयी। यह बात ठीक से समझ में नही आयी है कि ये तीनों असाधारणताएं अर्थात आंखों का हल्का नीलापन, बहरापन तथा हड्डियों की भंगुरता एक-दूसरे से किस प्रकार संबंधित हैं। इस रोग के उत्पन्न होने का कारण खून में उपस्थित लवणों से संबंधित चयापचय अथवा शरीर के विभिन्न भागों में होने वाली विभिन्न मौलिक प्रक्रियाओं को दृष्टि-पटल द्वारा नियंत्रित किया जाना हो सकता है। हड्डियों की भंगुरता सारे व्यक्तियों में समान नहीं होती। किसी एक देश के जिन व्यक्तियों ने इस रोग को आनुवंशिक रूप से विरासत में पाया है उनमें 63% व्यक्तियों को अस्थिभंग का प्रभाव सहना पड़ा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्वेत पटल पर इसका प्रभाव काफी मात्रा में दिखाई देता है, परंतु अस्थिभंग के संदर्भ में जीन का प्रभाव मात्र 63% है।

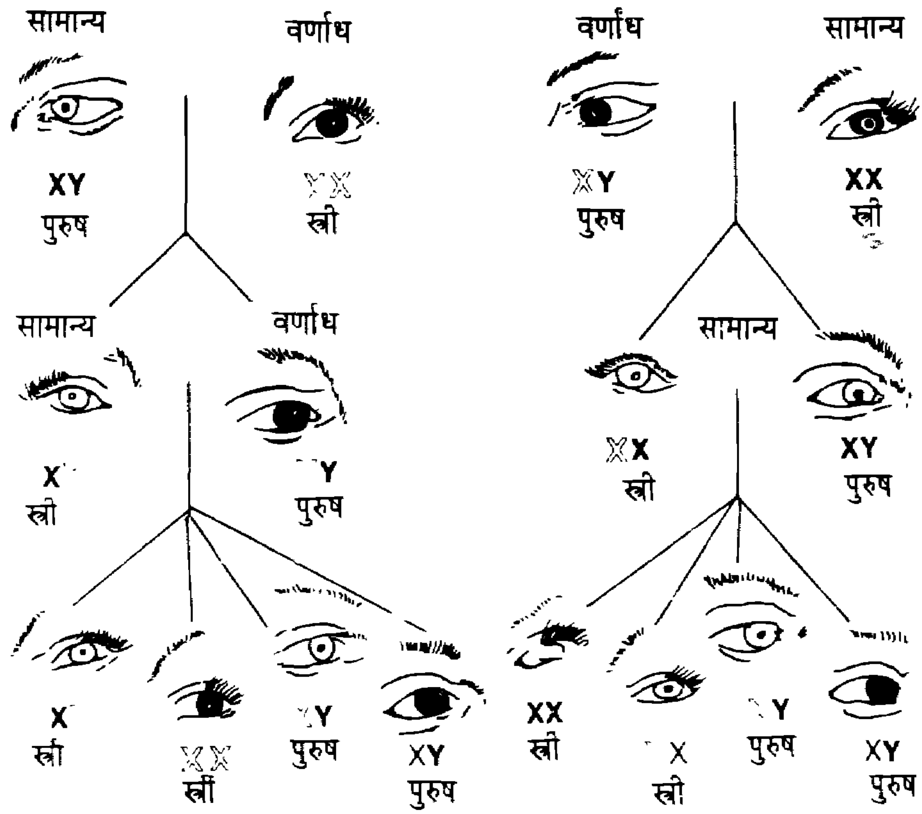
केवल दृश्य पटल के नीले होने का दोष उत्पन्न करने वाले प्रबल विषम युग्मज जीन को ही 'पेनिट्रांस' की संज्ञा नहीं दी जाती, अन्य प्रबल तथा अप्रबल सम युग्मज आनुवंशिक रूपों के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि विषम युग्मजों के बाह्य रूपों में ही नही सम युग्मजों के बाह्य रूपो में भी उसका मान परिवर्तित होता है। सम युग्मज जीन के अपूर्ण पेनिट्रांस का एक उदाहरण मधुमेह है। इस रोग में मूत्र में शक्कर उत्सर्जित की जाती है। कुछ आंकड़ों मे पता चला है कि यह रोग एक अप्रबल सम युग्मज युग्मविकल्पी के कारण उत्पन्न होता है। इसके अनुसार, यदि किसी व्यक्ति में ये दो अप्रबल जीन एक साथ उपस्थित होंगे तो उसे यह रोग होना चाहिए। परंतु इस प्रकार के केवल 20% लोग ही इस रोग से पीड़ित होते हैं। शेष 80% लोगों में इस रोग का प्रभाव इतना कम होता है कि उनमें रोग का कोई भी लक्षण प्रकट रूप में दिखाई नहीं देता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मधुमेह के अप्रबल जीन का पेनिट्रांस सम युग्मज व्यक्तियों में बहुत भिन्न होता है। इसी तरह, स्वाद का अभाव उत्पन्न करने वाले अप्रबल जीन (t) का पेनिट्रांस भी बहुत परिवर्तनीय होता है। स्वाद का अभाव कार्बनिक यौगिक फेनाइलथ्रोकार्बामाइड के संदर्भ में देखा जाता है। इस पदार्थ के स्वाद को पहचानने की क्षमता में काफी भिन्नता दिखाई देती है।

यह ज्ञात हो चुका है कि सम युग्मज अप्रभावी जीन (tt) के वाहक इस पदार्थ को स्वादहीन कहते हैं, परंतु सम युग्मज प्रभावी (TT) को तथा विषमयुग्मज (Tt) को इसका स्वाद कड़वा लगता है। सावधानीपूर्वक किये गये परीक्षणों से इस बात का पता चला है कि इस पदार्थ का

स्वाद जानने की क्षमताओं में काफी भिन्नता है; कुछ इस पदार्थ के अत्यधिक तनुविलयन का स्वाद पहचान पाते हैं तो कुछ सांद्र विलयन का ही स्वाद जान सकते हैं। इस भिन्न क्षमताओं के नानाविध कारण हो सकते हैं : भिन्न वंशीय लोगों में स्वाद पहचानने की क्षमताएं भिन्न होती हैं। एक ही व्यक्ति विभिन्न परीक्षणों के दौरान स्वाद को अलग होने की बात कहेगा। भिन्न आयु के लोगों की प्रतिक्रिया भिन्न होती है तथा स्त्रियों में स्वाद के लिए अधिक संवेदन क्षमता होती है। संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि तीनों आनुवंशिक रूपों TT, Tt तथा tt का प्रभाव भिन्न होता है। यह भी संभव है कि दूसरे अलिंगी जीन भी स्वाद को पहचानने की क्षमता को प्रभावित करते हैं। यदि यह सच है तो उनका प्रभाव पुरुषों तथा स्त्रियों में और भी



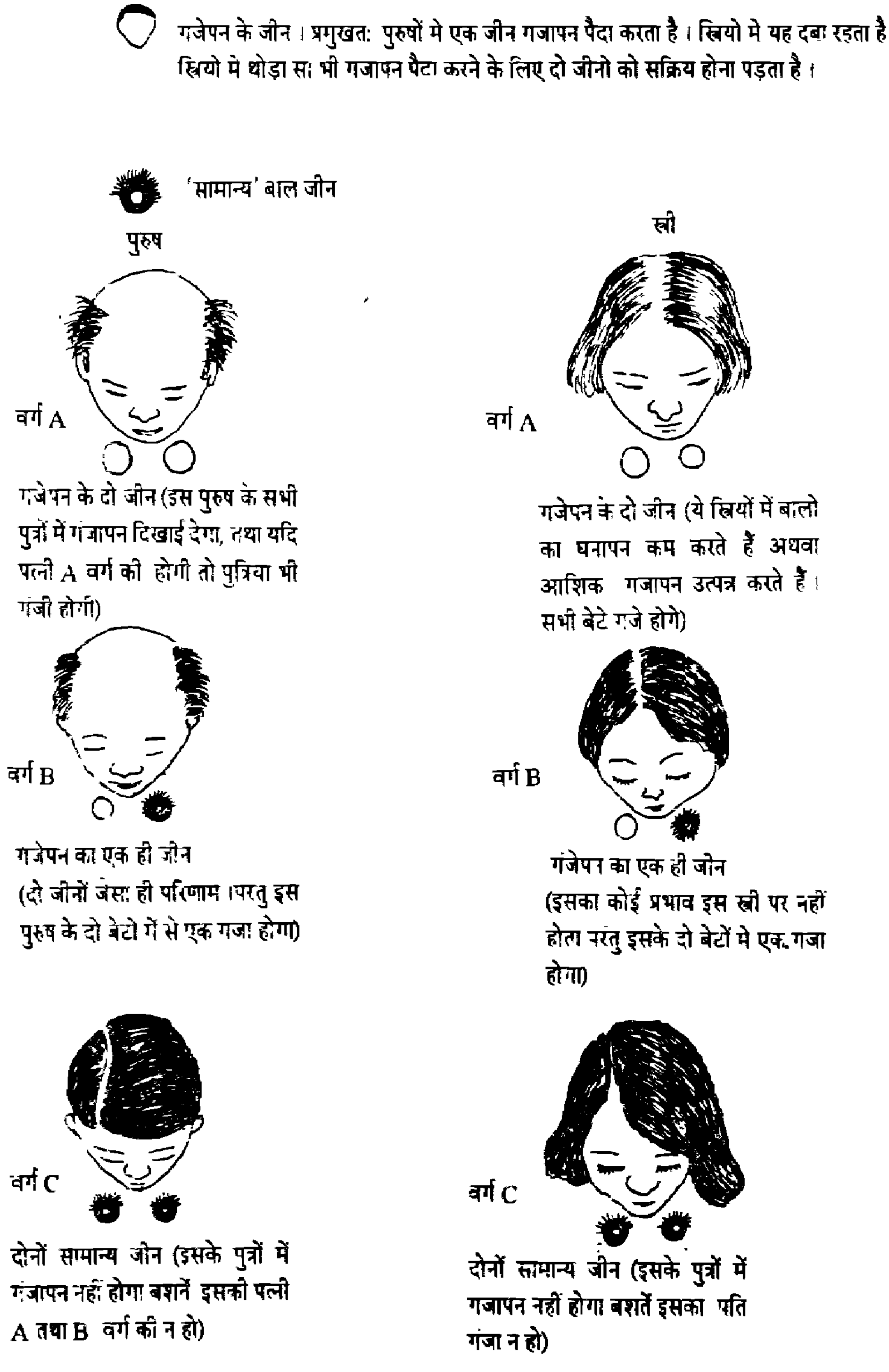
चित्र 30 : वर्णांध पुरुष तथा सामान्य स्त्री के विवाह से उत्पन्न होने वाली संतानें। यह केवल पुत्रियों द्वारा ही सम्प्रेषित किया जाता है तथा उनके आधे पुत्रों मे प्रकट होता है क्योंकि यह X गुणसूत्र में होता है।



चित्र 31

अधिक परिवर्तनीय होता है। इसका एक अच्छा उदाहरण एक चीनी दंतकथा में मिलता है। तीन साधुओं को सिरके के स्वाद का वर्णन करने के लिए कहा गया। पहले दार्शनिक ने उसे खट्टा कहा, दूसरे ने कहा कि वह कड़वा है तथा तीसरे ने उसे मीठा बताया। तीसरे स्वयं लोत्से थे।

इस प्रकार दिखाई देने वाले जीनों के परिवर्तनीय प्रभाव या पेनिट्रांस अलिंगी जीनों तक ही सीमित नहीं रहते; अर्थात उन जीनों तक जो स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिए उभयनिष्ठ लिंग गुणसूत्र X तथा Y के अतिरिक्त दूसरे गुणसूत्रों में उपस्थित होते हैं। ये प्रभाव कुछ लिंग सहलग्न जीनों में भी दिखाई देते हैं। अब हम इस बारे में विचार करेंगे। ये जीन लाल-हरे रंग के लिए वर्णांधता उत्पन्न करने वाले तथा हीमोफिलिया उत्पन्न करने वाले एकमात्र X गुणसूत्र में उपस्थित जीन होते हैं जिनका कोई साथी Y गुणसूत्र में नहीं होता। इसीलिए जो पुरुष अपने Y गुणसूत्र में किसी लिंग सहलग्न अप्रभावी जीन का वहन करता है उसके बाह्य रूप में उसका प्रभाव दिखाई देता है। परंतु Y गुणसूत्र जिसे हम मूल गुणसूत्र कहते हैं पूर्णतः जीन-विहीन नहीं होता। इसमें उपस्थित जीनों की संख्या बहुत कम होती है। अतः Y गुणसूत्र में उपस्थित जीनों के युग्मविकल्पी जीन X गुणसूत्र में उपस्थित रहते हैं। अतः पुरुष में बनने वाली XY



चित्र 32. गंजेपन का पैत्रिक स्वभाव ।

गुणसूत्रों की जोड़ी के कारण जो स्थिति उत्पन्न होती है वह अलिंगी जीनों की जोड़ी से अथवा स्त्री के लिंग गुणसूत्रों की जोड़ी से उत्पन्न होनेवाली स्थिति से भिन्न होती है। स्त्री के लिंग गुणसूत्रों की जोड़ी में दो X गुणसूत्र होते हैं। यदि Y गुणसूत्र को X गुणसूत्र के साथ साथ मिलाया जाये तो (जैसा चित्र-33 में दिखाया गया है) हम देखेंगे कि लंबा X गुणसूत्र तीन खंडों में विभाजित हो सकता है। प्रथम खंड ab से दिखाया गया है तथा इसमें X और Y गुणसूत्रों के समजात युग्मविकल्पी जीन होंगे। दूसरा खंडा bc बहुत छोटा है जिसमें Y गुणसूत्र का वह द्रव्य होगा जिसका कोई समतुल्य द्रव्य अथवा युग्मविकल्पी जीन X गुणसूत्र के समानांतर खंड में उपस्थित नहीं होगा। अंत में X गुणसूत्र का अधिकांश भाग होता है जिसे c तथा d द्वारा दिखाया गया है। अतः X गुणसूत्र का संपूर्ण विषमजात खंड $bc + cd = bd$ द्वारा दिखाया जाता है। X गुणसूत्र के इसी खंड में वर्णांधता तथा हीमोफिलिया उत्पन्न करने वाले जीन उपस्थित रहते हैं। इन जीनों को संपूर्णतः लिंग सहलग्न जीन कहते हैं। ये एक अत्यंत साधारण किस्म के जीन हैं तथा जब भी कभी लिंग सहलग्न जीनों पर विचार किया जाता है, तब इन्हीं जीनों की ओर संकेत किया जाता है।

इनके अलावा कुछ अन्य दुर्लभ अभिलक्षण भी हैं जो संपूर्णतः लिंग सहलग्न होते हैं क्योंकि इन्हें उत्पन्न करनेवाला जीन Y गुणसूत्र के bc खंड में होता है जो विषमजात खंड है। यह खंड बहुत छोटा होने की वजह से इसमें उपस्थित जीनों की संख्या बहुत कम होती है। इसीलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस तरह के केवल दो या तीन जीन ही पहचाने गये हैं। इनमें से एक वह जीन है जो झिल्लीदार (पांवों की) उंगलियों के लिए उत्तरदायी होता है। इसके अलावा अन्य अलिंगी गुणसूत्रों में उपस्थित कुछ जीन भी ऐसा दोष उत्पन्न कर सकते हैं। इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण एक सामान्य चर्मरोग का है जिसे शल्क त्वचामयता[1] कहते हैं जिसके दौरान त्वचा मोटी, खुरदरी, कड़ी तथा काली हो जाती है। इसमें उपत्वचा[2] बन जाती है तथा समय-समय पर यह झड़ जाती है। इसके बाद दिखाई देनेवाली त्वचा सामान्य होती है, परंतु पुनः वह मोटी होने लगती है। इस प्रकार का दोष अभी तक केवल एक ही परिवार में पाया गया है।

इस परिवार का मूल पुरुष कोई एडवर्ड लैम्बर्ट था जो 1716 में पैदा हुआ था और जन्म के समय एक सामान्य शिशु था तथा उसके माता-पिता भी सामान्य ही थे। परंतु जन्म के 7 वें या 8वें माह में उसमें इस अनोखे चर्मरोग के लक्षण दिखाई देने लगे; उसकी चमडी मोटी होने लगी, और अंततः हथेलियां, पैरों के तलवे, सिर तथा चेहरे के अलावा उसके शरीर की त्वचा कड़ी, खुरदरी पपड़ी से भर गयी तथा शरीर पर एक इंच लंबे बेलनाकार बाल उग आये। एडवर्ड लैम्बर्ट ने छह बेटों को जन्म दिया तथा ये सभी इस बीमारी से पीड़ित हुए। यह दोष इसके बाद की चार पीढ़ियों तक देखा गया, परंतु रोग पीड़ित पिता के बेटों को ही इस व्याधि ने प्रभावित किया। उसकी सभी बेटियां इस रोग से मुक्त थीं। कर्ट स्टर्न ने एडवर्ड की संतानों

1. शल्क त्वचामयता — ichthyosis hystrix gravior
2. उपत्वचा – cuticle

की वंशावली देखने के बाद इस बात की पुष्टि की कि उसकी दो बेटियां भी इस रोग की शिकार थीं। यदि यह बात सच है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह दोष उत्पन्न करनेवाला जीन Y गुणसूत्र में नहीं होना चाहिए। परंतु यह एक निर्विवाद सत्य है कि Y गुणसूत्र में अयुग्मन खंड (bc)[1] में उपस्थित जीनों द्वारा उत्पन्न दोष या त्रुटियां पिता से पुत्र को सीधे संप्रेषित की जाती हैं। इनसे केवल पुरुष ही प्रभावित होते हैं। इस तरह की आनुवंशिकता केवल एक ही लिंग से संबंधित है। इस तरह का कोई अन्य उदाहरण ज्ञान नहीं है तथा स्त्रियों में ऐसी त्रुटि मिलने की कोई संभावना नहीं है।

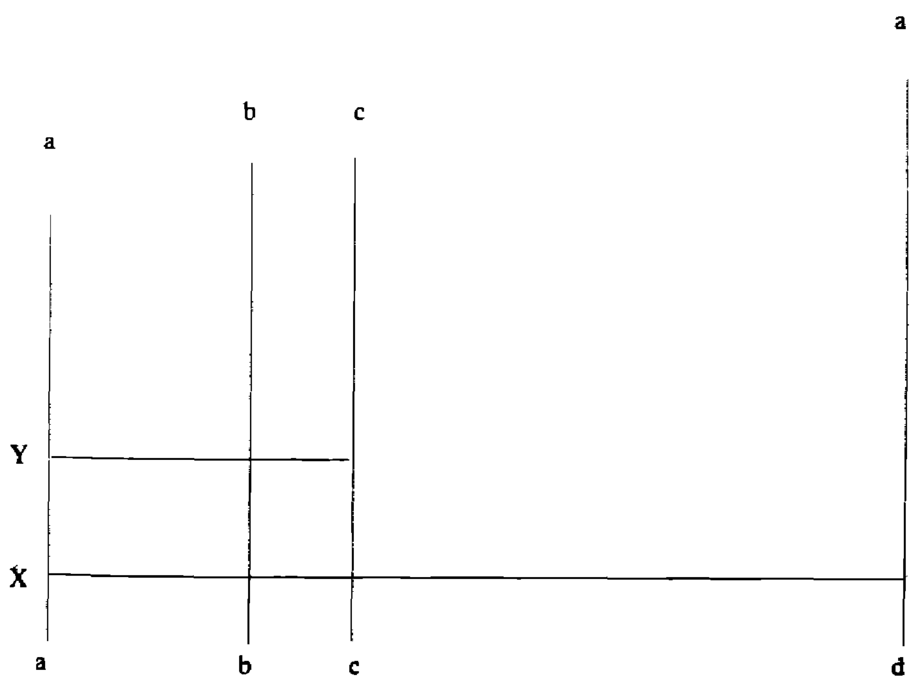
उपर्युक्त दो उदाहरणों में दी गयी संपूर्ण लिंग सहलग्नता से सर्वथा भिन्न एक प्रकरण भी ज्ञात है जिसमें आंशिक लिंग सहलग्नता[2] दिखाई देती है क्योंकि X तथा Y गुणसूत्रों के समजात खंडों में ab द्वारा दिखाये गये खंडों में हर गुणसूत्र के प्रत्येक जीन के लिए दूसरे गुणसूत्र में युग्मविकल्पी जीन उपस्थित रहता है। अतः आंशिक तथा संपूर्ण लिंग सहलग्नता में दो प्रमुख भिन्नताएं होती हैं। प्रथम फर्क यह है कि इस क्षेत्र के जीनों में अलिंगी गुणसूत्र के समान इन दो गुणसूत्रों के जीनों में भी अन्योन्य गमन होता है। दूसरा फर्क है, युग्मविकल्पी जीन दोनों लिंग के व्यक्तियों में होते हैं, केवल स्त्री में नहीं होते। इन फर्कों को कुछ उदाहरणों द्वारा अधिक स्पष्ट किया जायेगा। 'रेटिनाइटिस पिगमेंटोसा' नामक रोग मनुष्य की आंख के दृष्टि-पटल पर किसी रंग द्रव्य के जमा होने के कारण उत्पन्न होता है तथा यह दोष लगातार बढ़ता रहता है। दो लिंग सहलग्न जीनों के कारण यह दोष उत्पन्न होता है, जिनमें एक प्रबल तथा दूसरा अप्रबल है। यदि इस रोग को उत्पन्न करने वाला जीन X गुणसूत्र के bd क्षेत्र में उपस्थित रहता तो इस रोग से पीड़ित पुरुष अपनी सभी लड़कियों को यह रोग संप्रेषित करते तथा उनका एक भी पुत्र यह जीन वंशागत रूप से प्राप्त नहीं करता। परंतु प्रत्यक्ष स्थिति ऐसी है कि यह जीन X अथवा Y में से किसी भी गुणसूत्र में उपस्थित हो सकता है। यदि वह X गुणसूत्र में उपस्थित होता तो सामान्य किस्म की लिंग सहलग्नता उत्पन्न होगी। परंतु कभी-कभी यह दोष पुत्रों में भी दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि यह जीन X गुणसूत्र से Y गुणसूत्र में अन्योन्य गमन करता है। यदि यह जीन Y गुणसूत्र में होगा तो यह दोष प्रमुख रूप से बेटों में ही दिखाई देगा; किसी बेटी में नहीं। परंतु कुछ लड़कियों में यह दोष अपवादस्वरूप दिखाई देता है। ऐसा होने का कारण यह है कि यह जीन Y गुणसूत्र का अपना स्थान X गुणसूत्र में उपस्थित सामान्य युग्मविकल्पी जीन से बदल लेता है। रेटिनाइटिस पिगमेंटोसा के लिए उत्तरदायी जीन का मामला इतना सरल नहीं है। पीड़ित व्यक्तियों के लिए यह आवश्यक है कि दोनों जनकों से यह जीन वे प्राप्त करें। मां के X तथा पिता के X या Y गुणसूत्र में इसकी उपस्थिति जरूरी है। प्रथम स्थिति में जब जीन पैतृक गुणसूत्र X में होता है तब आधी बेटियां दोहरी अप्रभावी युग्मविकल्पी होंगी, परंतु एक भी पुत्र मे यह दोष दिखाई नहीं देगा। दूसरी स्थिति इसके विपरीत होगी।

---

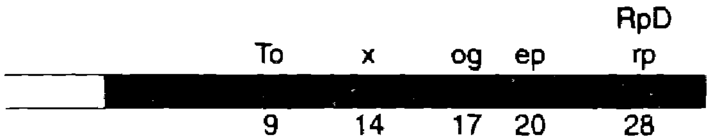
1. अयुग्मन खंड – non-pairing region
2. आंशिक लिंग सहलग्नता – partial sex linkage

उपर्युक्त किस्म का रेटिनाइटिस पिगमेंटोसा ही एकमात्र ऐसा दोष नहीं है जो अप्रबल आंशिक लिंग सहलग्नता के कारण उत्पन्न होता है। आज ऐसे अनेक विकृत दोष ज्ञात हैं जो इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। पहला उदाहरण 'ज़ेरोडर्मा पिंगमेंटोसम' नामक चर्मरोग का है। इसमें शरीर पर हल्के भूरे रंग के धब्बे पड़ते हैं। कुछ भागों का अपविकास होता है तथा कैंसर का उद्‌गम भी होता है और इसके फलस्वरूप मृत्यु भी होती है। अत: दूसरे पीड़ित व्यक्ति सम युग्मज होते हैं। विषम युग्मज व्यक्तियों में रोग का प्रादुर्भाव नहीं होता। वे सामान्य होते हैं। कभी-कभी उनके शरीर पर कुछ धब्बे दिखाई देते हैं। दूसरा दोष जन्मजात वर्णांधता का है। यह एक अत्यंत दुर्लभ अवस्था है तथा इसके कारण आंखों में छोटे दोष उत्पन्न होते हैं। सामान्य रूप से पायी जानेवाली लाल-हरे रंग की वर्णांधता इसी रोग का एक गंभीर उदाहरण है।

रेटिनाइटिस पिंगमेंटोसा तथा जन्मजात वर्णांधता जैसी असाधारण अवस्थाएं जो X गुणसूत्र के ab युग्मन खंड में उपस्थित जीनों के कारण उत्पन्न होती हैं, X तथा Y जोड़ी का गुणसूत्रीय मानचित्र तैयार करने हेतु उपयुक्त हैं। इस खंड के समजात जीनों में ही अन्योन्य गमन संभव है तथा इन्हीं के कारण इन जीनों के बीच की सहलग्नता को मापना संभव होता है। जैसा पूर्व में ज्ञात हो चुका है इस सहलग्नता के कारण प्राप्त होने वाले अन्योन्य गमन मान गुणसूत्र के एक सिरे से जीनों की सापेक्ष दूरी कितनी है, इस बात को सूचित करते हैं। अत: विभिन्न जीनों के स्थान दिखाकर गुणसूत्र के युग्मन खंड का गुणसूत्रीय मानचित्र तैयार करना संभव है। हाल्डेन ने यह कार्य किया है तथा उसने तैयार किए हुये गुणसूत्रीय मानचित्र में पांच ज्ञात जीनों का क्रम तथा उनके बीच के सापेक्ष अंतर का अनुमान लगाया है (चित्र-34 देखें)।



चित्र 33



चित्र 34 : लिंग-गुणसूत्रों के युगल बनाने वाले भाग का मानचित्र जिसमें वे पाच जीन दिखाये गये हैं जिनका यह वहन करता है । सफेद भाग असमान क्षेत्र को दर्शाता है । यह X का अयुग्मित लबा भाग हो सकता है अथवा Y का गैर-अयुग्मित भाग । अन्योन्य गमन मानों वी गणना उस स्थान से की जाती है जहां ये दोनों खंड मिलते हैं (to = संपूर्ण वर्णांधता, X = ज्रेरोडर्मा पिगमेटोसम, og = ओगुचि का रोग ep = अप्रबल इपिडर्मोलाइसिस बुलोसा, RpD तथा rp = प्रबल तथा अप्रबल रेटिनाइटिस पिगमेंटोसा) ।

यदि अलिंगी गुणसूत्रों में उपस्थित जीनों से उत्पन्न होने वाले प्रभाव तथा आनुवंशिक परिणामों के संबंधों को हम समझ सकें तो मनुष्य के दूसरे गुणसूत्रों अथवा अलिंगी गुणसूत्रों के समतुल्य मानचित्र तैयार करना संभव होगा। परंतु दुर्भाग्यवश मनुष्य के आनुवंशिकता तथा बाह्य रूपों में इस प्रकार का संबंध स्थापित करने में बहुत समस्याएं उत्पन्न होती हैं । केला मक्खी अथवा मक्का के पौधों से विशुद्ध वंशक्रम उत्पन्न करने हेतु जो प्रयोग हम करते हैं वैसे प्रयोग करने के लिए भाई-बहन के समागम द्वारा संतानोत्पत्ति करवाना असंभव है। केवल यही एकमात्र कठिनाई नहीं है। मनुष्य के शरीर में उपस्थित गुणसूत्रों की बहुत बड़ी संख्या भी इसमें बाधा बन जाती है । हम यह बात प्रारंभ में ही देख चुके हैं कि एक ही दंपति द्वारा उत्पन्न संतानों की संख्या अत्यधिक विशाल हो सकती है। इस प्रकार इतनी विविधता की मानव जाति में हर परिवार में सैकड़ों भिन्नताएं उत्पन्न हो चुकी हैं । इसमें 'बहिःप्रजनन'[1] का योगदान भी पर्याप्त है। अतः मटर तथा मक्खियों पर प्रयोग करते समय जिस प्रकार मेंडेल ने एक ही शुद्ध अभिलक्षण पर पृथक रूप से विचार किया था, वैसा करना मनुष्य के संदर्भ में संभव नहीं है । उदाहरणार्थ, बहुत से लोगों के शरीर में उपस्थित किसी जीन की वजह से उनके चाचा, दादी, नानी तथा बच्चों की उंगलियों में अतिरिक्त उंगलियां उत्पन्न होती हैं । परंतु स्वयं उनमें यह स्थिति नहीं पायी जाती । वे अपने शरीर में कुछ ऐसे जीनों का वहन करते हैं जो यह दोष उत्पन्न नहीं होने देते अथवा उनके शरीर में नष्ट करने वाले कुछ 'महाजीन'[2] उपस्थित रहते हैं । यदि हमें मेंडेल के नियमों के अनुसार किये जाने वाले आचरण का प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त करना है तो हमें मनुष्य के रक्त की लाल कोशिकाओं द्वारा वहन किये जाने वाले इन प्रोटीनों के आनुवंशिक परिणामों पर गौर करना चाहिए जिन्हें उत्पन्न करने में जीन प्रत्यक्ष रूप से कार्य

1. बहिः प्रजनन – auto breeding
2. महाजीन – super gene

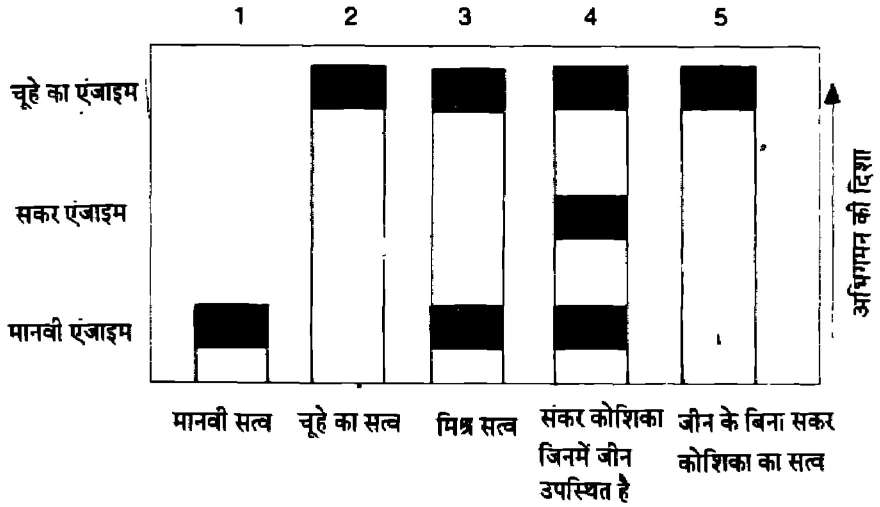
करते हैं। इसलिए यह धारणा बन गयी है कि मनुष्य के अलिंगी जीनों के मानचित्र बनाने हेतु इन प्रोटीनों के कारण उत्पन्न होनेवाले विभिन्न रक्त समूहों का अध्ययन किया जाना आवश्यक है। परंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। हाल ही में मनुष्य के गुणसूत्रों में उपस्थित जीनों का स्थान निर्धारित करने की एक अभिनव पद्धति विकसित की गयी है। मानवीय रक्त समूहों से प्राप्त जानकारी के लिए यह अनुपूरक होती है। अभी इस नयी पद्धति पर संक्षेप में विचार करेंगे तथा अगले अध्याय में मानवीय रक्त समूहों पर विचार किया जायेगा।

यह नयी तकनीक लैंगिक प्रजनन की एक प्रायोगिक संभावना है। लैंगिक प्रजनन का अर्थ है पुरुष तथा स्त्री की जनन कोशिकाओं में निषेचन द्वारा युग्मज का उत्पन्न होना। इस नयी तकनीक में अन्य मानवेत्तर स्तनधारी प्राणियों की कायिक कोशिकाएं (जनन कोशिकाएं नही) मनुष्य की कायिक कोशिकाओं में समेकित की जाती हैं। यह कार्य इस प्रकार किया जाता है कि उत्पन्न होने वाली संकर कोशिकाओं में संव्यूहन के दौरान कुछ ही मानवीय गुणसूत्र उपस्थित रहते हैं। इन कायिक कोशिकाओं के संकरण के लिए दो किस्म की कोशिकाओं का उपयोग किया जाता है। एक है मानवी तंतु-प्रसू[1] (ऊतकों को जोड़ने वाली कोशिकाएं) तथा चूहे की कोशिकाएं — ये दोनों कोशिकाएं ऊतक संवर्द्धन[2] के लिए उचित होती हैं। प्रयोगशाला में इन्हें कुछ घंटों तक एक तश्तरी में एक साथ रहने दिया जाता है। इस प्रकार के संपर्क के फलस्वरूप मनुष्य की कोशिकाओं का चूहे की कोशिकाओं से स्वतःस्फूर्त समेकन होता है, परंतु इस प्रकार की समेकित कोशिकाओं की संख्या बहुत कम होने के कारण यह किसी काम के योग्य नहीं होतीं। अतः इस समेकन की गति को त्वरित करने हेतु निष्क्रिय की हुई संदाई वायरस[3] जैसे किसी पदार्थ को इस तश्तरी में डाला जाता है। ये विषाणु (वायरस) निकट की कोशिकाओं में आंतर कोशिका[4] सेतु बनाते है। इस प्रकार काफी बड़ी संख्या में समेकित कोशिकाएं प्राप्त करने के बाद पैतृक कोशिकाओं को तथा समेकित कोशिकाओं को संवर्द्धक माध्यम की एक तश्तरी में रखा जाता है। यहां पृथक पैतृक कोशिकाओं तथा समेकित कोशिकाओं तथा उनके संतानों के क्लोन बनते हैं अथवा इनकी कालोनियां बनती हैं। चूंकि हमारा उद्देश्य चूहे तथा मनुष्य की समेकित कोशिकाओं को प्राप्त करना है, पैतृक कोशिकाएं प्राप्त करना नहीं है, इन कोशिकाओं का संवर्द्धन ऐसे माध्यम में किया जाता है जो समेकित कोशिकाओं की वृद्धि होने देता है, परंतु पैतृक कोशिकाओं का संवर्द्धन नहीं करता।

इन प्रयोगों से यह ज्ञात होता है कि संकरित कोशिकाओं में चूहे का गुणसूत्र समूह (जीनोम) अपरिवर्तित बना रहता है। परंतु इसमें कहीं-कहीं मानवी गुणसूत्र भी दिखाई देते हैं। इस समेकित संकर में मानव के 46 तथा चूहों के 40 गुणसूत्रों के संयोग 86 की बजाय गुणसूत्रों की संख्या 41 से 55 तक होती है। 41-55 तक के गुणसूत्रों में 40 चूहों के तथा मानवी गुणसूत्रों की संख्या 1 से 15 के बीच की होती है। मानवी गुणसूत्रों के 23 में से कोई भी

---

1. मानवी ततु-प्रसू – human fibro blast
2. ऊतक संवर्द्धन – tissue culture
3. संदाई वायरस – sendai virus
4. आंतर कोशिका सेतु – intercellular bridge



चित्र 35 : समजात एजाइमों को विद्युत कण संचरण पद्धति से पहचाना जा सकता है । यह प्रक्रिया ग्लुकोज-6 फास्फेट डीहाइड्रोजिनेस के लिए किस प्रकार होती है इसे चित्र में दर्शाया गया है । (G6 PD) कोशिकाओं से प्राप्त सत्व नीचे रखी हुई नालियों में रखे जाते हैं जो स्टार्च - जिलेटिन का द्विलक होता है; इसमें दो सब-युनिट होती हैं — मानव कोशिकाएं सजातीय मानव बहुलक तथा चूहे चूहों का सजातीय बहुलक बनाते हैं जो भिन्न गति से विद्युत क्षेत्र में अभिगमन करते हैं । अत: मानव एंजाइम (1) चूहे के एंजाइम के बराबर की दूरी तय नहीं करता (2) दोनों तरह की कोशिकाओं के सत्व में ये दोनों घटक दिखाई देते हैं । (3) संकर कोशिका में मानव तथा चूहों की सब-यूनिटों का सश्लेषण होता है तथा याहच्छिक क्रिया करते हैं, जिसमें दो सजातीय बहुलक उत्पन्न होते हैं तथा विजातीय बहुलक भी बनते हैं जो मध्य गति से अभिगमन करते हैं । अत: G6PD को उत्पन्न करने वाला मानव जीन का वहन करने वाले संकारित कोशिका से प्राप्त एंजाइम तीन बैंडों में पृथक हो जाता है । (4) जो संकर कोशिकाएं मानव G6PD उत्पन्न नहीं करतीं, वे केवल समजात बहुलक (चूहे का) ही बनाती हैं ।

गुणसूत्र इस संकरित कोशिका में उपस्थित हो सकता है । ये संकर कोशिकाएं जो समेकन के कारण उत्पन्न हुई हैं, मानवी गुणसूत्रों की भिन्न संख्या वहन करती हैं । ये संख्या याहच्छिक होती हैं । इन संकर कोशिकाओं में चूहे के सभी 40 गुणसूत्रों के साथ मानवी गुणसूत्रों का एक छोटा समूह उपस्थित रहता है, परंतु ये दोनों किस्म के गुणसूत्र क्रियाशील रहते हैं तथा चूहे के और मनुष्य के गुणसूत्र एक साथ अभिव्यक्त होते हैं । इनमें से हर एक अपना प्रोटीन बनाने का कार्य भी करता रहता है । इस प्रकार का दोहरा अस्तित्व तथा कार्यशीलता के कारण किसी प्रकार की गंभीर अव्यवस्था नहीं निर्मित होती । इसके दो कारण हैं । पहला कारण यह है कि मनुष्य तथा चूहे पृथक रूप से पहचाने जा सकते हैं । ये आकार, रूप तथा अन्य दृष्टि से भिन्न होते हैं । इसी तरह मनुष्य के 23 गुणसूत्रों को भी एक-दूसरे से पृथक रूप में पहचाना जा सकता है । परिष्कृत प्रतिदीप्ति अभिरंजन तकनीक[1] की सहायता से इन्हें निर्धारित किया जा सकता है । इस परीक्षण के दौरान हर गुणसूत्र काले तथा दीप्त पट्ट उत्पन्न करता है जो इन्हें पहचानने

1. परिष्कृत प्रतिदीप्ति अभिरंजन तकनीक – refined flourescent staining technique

का आधार है। हर एक गुणसूत्र का एक लाक्षणिक पट्ट होता है। इन्हीं पट्टों के कारण विभिन्न गुणसूत्रों की पहचान होने के अतिरिक्त उस गुणसूत्र का स्थान गुणसूत्रीय शृंखला में कहां है, इसे भी निर्देशित किया जाता है (चित्र- 34 देखें)। चूहों तथा मनुष्य के जीनों को पृथक रूप से पहचानना संभव है क्योंकि इनके द्वारा बनाये जाने वाले एंजाइमों तथा प्रोटीनों के उत्पादों को उनमें दिखाई देने वाली भिन्नता के कारण स्वतंत्रतापूर्वक ज्ञात किया जा सकता है। उत्क्रांति की दृष्टि से मनुष्य चूहे से इतना दूर है कि उसके द्वारा उत्पन्न प्रोटीनों के एमिनो अम्लों की रचनाओं में काफी अंतर होता है। विद्युत संचरण[1] नामक एक अन्य विधि द्वारा इन अंतरों को ज्ञात किया जाता है। इस तकनीक का उपयोग करते समय किसी विद्युत क्षेत्र में भिन्न एंजाइम भिन्न गति से स्थानांतरित होते हैं (चित्र-35 देखें)। अभिरंजन तथा विद्युत संचरण तकनीकों का उपयोग एक साथ किये जाने पर इस बात का पता चलता है कि दो या दो से अधिक जीन एक ही गुणसूत्र में उपस्थित हैं अथवा नहीं; तथा उन गुणसूत्र को पहचानना भी संभव होता है जिसमें ये उपस्थित होते हैं।

जिस प्रक्रिया द्वारा जीनों का स्थान निर्धारित किया जाता है वह अत्यधिक सरल है। किसी संकरित कोशिका से गायब होने वाले मानवी गुणसूत्र विशिष्ट समूहों में होते हैं अतः एक गुणसूत्र में उपस्थित जीन अनिवार्य रूप से एक साथ अपने को अभिव्यक्त करते हैं। यह सिद्धांत इस तकनीक का आधार है। दूसरे शब्दों में हम ऐसा भी कह सकते हैं कि सदैव एक साथ रहने वाले तथा एक साथ गायब होने वाले जीन गुणसूत्र की एक ही शृंखला में उपस्थित होते हैं। विभिन्न कृंतकों में उपस्थित एंजाइमों को ज्ञात करने से इस बात का निर्णय करना संभव है कि वे एक ही गुणसूत्र में उपस्थित हैं अथवा नहीं। यदि हमारे पास चूहे तथा मनुष्य के संकर की 23 माताएं होतीं जिनमें हरेक में केवल एक ही गुणसूत्र उपस्थित है तथा प्रत्येक संकर में उपस्थित गुणसूत्र भिन्न है तो किसी भी जीन, जिसे परीक्षण द्वारा पहचाना जा सकता है, कौन से गुणसूत्र में उपस्थित है, इसे ज्ञात किया जा सकता है। परंतु व्यावहारिक तौर पर इस प्रकार की एक गुणसूत्रीय संकर शृंखला प्राप्त करना संभव नहीं है। इस प्रक्रिया के एक भिन्न रूप से ऐसा करना संभव होता है। इसमें 8 से 10 कृंतकों की एक शृंखला का उपयोग किसी एंजाइम का अस्तित्व सिद्ध करने या नकारने हेतु किया जाता है और इस एंजाइम को बनाने वाला जीन किस गुणसूत्र में उपस्थित होता है, इसका पता भी लगाया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन द्वारा मानवी गुणसूत्रों में उपस्थित 50 के लगभग जीनों का पता लगाया जा चुका है। उपर्युक्त पद्धति से इस बात का पता लगाना भी संभव है कि कौन सा जीन कौन से गुणसूत्र में उपस्थित है और उसका स्थान कौन सा है। परंतु गुणसूत्रीय शृंखला में विभिन्न जीन कहां रखे गये हैं, इन बातों का कुछ भी पता नहीं चलता। यह जानकारी प्रायः गुणसूत्रों में दिखाई देने वाली त्रुटियों अथवा विपथन जैसे जीनों का लोप हो जाना अथवा स्थानांतरण होना, जिनके द्वारा गुणसूत्रीय जीनों की सामान्य रचना भंग हो जाती है, से प्राप्त की जाती है। इन परिष्कृत विधियों पर हम लोग अभी विचार नहीं करेंगे। अभी इतना कहना ही पर्याप्त है कि कायिक कोशिका संकरण तकनीक द्वारा तथा इस तकनीक के परिवर्तित रूपों द्वारा 50 जीनों के स्थानों का पता लगाया जा चुका है।

---

1. विद्युतकण सचरण – electrophoresis

7

आनुवंशिकता और रक्त

इस शताब्दी के प्रारंभ में जब जीनों तथा गुणसूत्रों की खोज नहीं की गयी थी तब लोगों में प्रचलित धारणा यह थी कि आनुवंशिकता तथा रक्त में उसी प्रकार की निकटता है जो हमें कार्य तथा कारण में दिखाई देती है। दोनों जनकों के सम्मिलित रक्त का संतानों की रगों में संचरण होने का नाम ही आनुवंशकिता है। इस धारणा का सूत्र सीधा पाइथोगोरस तक पहुंचता है क्योंकि ईसा से 500 वर्ष पूर्व उन्होंने कहा था कि स्त्री तथा पुरुषों के अंगों से उत्पन्न द्रव अथवा वीर्य का सम्मिश्रण होने के बाद ही मानव जीवन का प्रारंभ होता है। इसके बाद अरस्तू ने ऐसी परिकल्पना की कि वीर्य शुद्ध रक्त का एक रूप है, अतः रक्त आनुवंशिकता का वहन करता है। यदि यह रक्त अभिजात, राजवंश का उच्चवंशोत्पन्न अथवा शुद्ध होगा तो उत्पन्न होने वाली प्रजा वीर, सुंदर, मेधावी तथा बुद्धिमान होगी, परंतु यदि यह रक्त साधारण, नीच, अथवा सामान्य व्यक्ति का हो तो संतानों में अपराध की प्रवृत्ति, कुरूपता, धूर्तता अथवा अविश्वसनीयता, भ्रष्टता या कदाचार जैसे गुण प्रकट होंगे। थैकरे ने 'वैनिटी फेअर' में इसी लोकवाणी का पुनरुच्चार जेम्स क्रॉले के मुख से करवाया है। क्रॉले कहता है — "महाशय! घोड़ों, कुत्तों तथा मनुष्यों में रक्त जैसी महत्वपूर्ण चीज और कुछ नहीं है।" अब हम लोग इस बारे में अधिक जानते हैं। क्रॉले द्वारा दोहरायी गयी लोकवाणी ईश्वरीय सत्य नहीं था। वह तो अज्ञान तथा पूर्वग्रहपूर्ण एक धारणा थी। क्योंकि जनकों द्वारा संतानों को रक्त संप्रेषित नहीं किया जाता है, संप्रेषित किये जाते हैं जीनों के पैकेट जो गुणसूत्रों में बंद रहते हैं। इन आनुवंशिक जीनों द्वारा प्रेरित जीव रासायनिक क्रियाओं की शृंखला से उत्पन्न किये जाने वाले अन्य शारीरिक अंगों जैसे ऊतक आदि की तरह रक्त भी इन्हीं क्रियाओं के दौरान उत्पन्न होता है। अतः मां भी अपनी संतानों के साथ अपने रक्त की एक बूंद भी नहीं बांटती है; इसके बावजूद कि वह अपने गर्भाशय में निषेचित डिंब का भार नौ माह तक वहन करती है। वास्तव में यदा-कदा मां अज्ञानतावश अपनी संतान की हत्या भी कर देती है क्योंकि उसके रक्त में कोई ऐसा पदार्थ उपस्थित रहता है जो शिशु के खून का प्रतिरोधी पदार्थ होता है। इसे R घटक कहते हैं। इस विषय में विस्तृत चर्चा कुछ बाद में होगी। एक ही परिवार के दो व्यक्तियों की आंखों का रंग अथवा अन्य शारीरिक अभिलक्षण भिन्न होने की जितनी संभावनाएं होती हैं उतनी ही संभावनाएं इस बात की भी हैं कि उनका रक्त अलग-अलग किस्मों का हो। इसका कारण यह है कि कोई व्यक्ति जो रक्त विरासत में प्राप्त करता है वह उसकी आंखों अथवा त्वचा के रंग के समान पूरी तरह

आनुवंशिक होता है। परिवेश का उस पर कोई असर नहीं होता।

जीन आंखों के अथवा त्वचा के लिए कुछ सीमित रंगों का ही चुनाव कर सकते हैं, परंतु जीनों द्वारा रक्त की असंख्य किस्में उत्पन्न की जाती हैं। त्वचा का रंग सफेद, काला, पीला, काला-भूरा अथवा तांबे जैसा हो सकता है। परंतु रक्त की किस्मों की संख्या संभावित आनुवंशिक रूपों के बराबर होती है। किसी व्यक्ति का रक्त किसी एक घटक के संदर्भ में B रक्त समूह का होगा तो दूसरे घटक के संदर्भ में यही रक्त M अथवा MN समूह का कहलायेगा। वह धन रीसस[1], ऋण केल[2], धन डफी[3] आदि अन्य तत्वों के लिए भिन्न होगा। हर तत्व या घटक के दो विकल्प होते हैं – धन तथा ऋण, जो रक्त में इस घटक या तत्व की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति पर निर्भर करता है। n घटक या तत्व 2^n विभिन्न रक्त समूह उत्पन्न करेंगे। यदि इन स्वतंत्र तत्वों की संख्या 10 हो तो इनसे उत्पन्न होने वाले विभिन्न संभाव्य मिश्रणों की संख्या $2^{10} = 1024$ होगी। यदि इन तत्वों की संख्या में 10 की वृद्धि हो जाती है तो यह संख्या होगी $2^{20} = 1,048,576$। अभी तक 11 स्वतंत्र रक्त-घटकों की पहचान की जा चुकी है तथा 70 अन्य घटकों का अस्तित्व या तो ज्ञात कर लिया गया है अथवा इनका अस्तित्व मान लिया गया है। अतः इस प्रकार के संभाव्य मिश्रणों की संख्या साधारण जनसख्या के लिए बहुत विशाल है। यह संख्या इतनी विशाल है कि इनके द्वारा उत्पन्न होने वाले बहुत से आनुवंशिक रूप इस धरती पर कभी पैदा ही नहीं हुए हैं।

रक्त के घटकों में इतनी विविधता होने का एक कारण है। रक्त की लाल कोशिकाएं एक-सी दिखाई देने के बावजूद रासायनिक दृष्टि से एक-दूसरी से काफी भिन्न होती हैं। हर एक व्यक्ति के रक्त में प्रतिजन[4] या प्रतिजनक नामक रासायनिक पदार्थों का सेट उपस्थित रहता है। भिन्न व्यक्तियों के अथवा भिन्न वंशों के लोगों के खून में उपस्थित प्रतिजनक भिन्न प्रकार के होते हैं। रक्त की लाल कोशिकाओं में उपस्थित प्रतिजनकों की खोज के बाद ही शरीर की एक अद्वितीय क्षमता के बारे में जानकारी प्राप्त हो सकी। यह है शरीर के साथ ही उत्पन्न हुई प्रतिरक्षा अथवा रोग प्रभाव मुक्ति की प्रणाली। बाहर से किये जाने वाले सूक्ष्म जीवाणुओं के हमलों से रक्षा करने वाली प्रतिरक्षा पद्धति। ये जीवाणु हमारे शरीर में रोग उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। अब हम यह जानते हैं कि रोग तथा विकलांगता दो भिन्न स्थितियां हैं, परंतु इस प्रकार वर्गीकरण करने के बाद भी कुछ अस्पष्टता बनी रहती है। इन स्थितियों में प्रथम प्रकार की स्थितियां आनुवंशिक दृष्टि से सामान्य व्यक्तियों पर परिवेश के प्रभाव के कारण उत्पन्न होती हैं। दूसरी ओर ऐसे रोग हैं जो व्यक्तियों द्वारा प्राप्त किये गये आनुवंशिक जीनों के कारण उत्पन्न होते हैं। प्रथम प्रकार के रोग या विकलांगताएं, जिनका कारण कोई चोट या कुपोषण नहीं होता, शरीर में बाहर से प्रवेश करने वाले जीवाणु अथवा विषाणुओं द्वारा उत्पन्न होती हैं।

---

1. धन रीसस – Rh positive
2. ऋण केल – Kell negative
3. धन डफी – Duffy positive
4. प्रतिजन – antigens

इन आक्रमणकारी जीवाणुओं का मुकाबला करने हेतु अनादि काल से चल रहे विकास के दौरान एक प्राकृतिक प्रतिरक्षा प्रणाली का विकास हुआ है। उदाहरणार्थ,श्वसन के दौरान जो हवा शरीर में लेते हैं वह नाक में स्वच्छ होकर ही आगे बढ़ती है। यहां उसमें उपस्थित जीवाणुओं में से अधिकांश श्लेष्मा में कैद हो जाते हैं और नथुनों से बाहर फेंक दिये जाते हैं। परंतु इस प्रकार के शुद्ध प्राकृतिक अवरोधों के अलावा किसी न किसी तरह से प्रवेश कर जाने वाले पराये जीवाणुओं का मुकाबला करने की एक युक्तिपूर्ण पद्धति का उपयोग हमारा शरीर करता है। यह एक रासायनिक पद्धति है। इससे ये पराये जीवाणु तथा कोशिकाएं या तो नष्ट कर दी जाती हैं या उन्हें अशक्त बना दिया जाता है। इन आक्रमणकारी जीवाणुओं द्वारा शरीर में उत्पन्न किये जाने वाले विषों तथा जीव-विषों से अपनी रक्षा करने हेतु शरीर में कुछ पदार्थ उत्पन्न किये जाते हैं। इन आक्रमणकारियों द्वारा उत्पन्न की गयी व्याधि से शरीर मुक्त हो जाता है तो आगे होने वाली हानि से बचने की क्षमता उसमें उत्पन्न हो जाती है। चेचक,खसरा,तथा मंप्स जैसे जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न रोगों के बाद भी ऐसा ही होता है। एक बार इन रोगों की चपेट में आने वाला व्यक्ति दुबारा इनसे पीड़ित नहीं होता; बशर्ते पहले हमले में वह बच गया हो। परंतु किसी रोग के लिए प्राप्त की गयी प्रतिरक्षा दूसरे रोग के लिए काम नहीं आती। वह उसी रोग तक सीमित रहती है। खसरा होने के बाद खसरे से मुक्ति मिल जाती है,चेचक से नहीं।

किसी रोग के आक्रमण के पश्चात जिस प्रकार की सुरक्षा शरीर में उत्पन्न हो जाती है उसी तरह की सुरक्षा कृत्रिम रूप से भी प्राप्त करना संभव है। ऐसा करने के लिए उस रोग का क्षीण हमला शरीर पर करवाया जाता है। जेनर पाश्चर,कॉख,वान बेहरिंग,एहरलीक तथा अन्य प्रतिरक्षा विज्ञानियों[1] ने इस दिशा में प्रारंभिक कार्य किया। ये लोग इस पद्धति के प्रणेता थे। उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि यदि मनुष्य के शरीर में रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु मृत रूप में अथवा क्षीण किये जाने के बाद प्रविष्ट कराये जाते हैं तो वह रोग शरीर में उत्पन्न हो जाता है। जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न किये गये पदार्थ भी यह काम करते हैं। इस प्रकार संक्रामक रोगों का प्रतिकार करने की जो शक्ति शरीर में उत्पन्न होती है वह प्राकृतिक रूप से शरीर में प्रवेश करने वाले अधिक घातक जीवाणुओं के कारण उत्पन्न होती है। उन्होंने विकसित की हुई इस रोग निरोधक प्रतिरक्षा क्षमता पद्धति में प्राकृतिक रूप से होने वाले रोग संक्रमण का नियंत्रित अनुकरण किया है। फिर भी,उचित रोग प्रतिरोधक पदार्थ,जैसे वैक्सीन[2] तथा सीरा[3] बनाने के लिए अनेक युक्तियों की जानकारी होना आवश्यक है। परंतु इन्हें बनाने की कोई सैद्धांतिक जानकारी न होते हुए भी ये युक्तियां अनुभवमूलक पद्धतियों से सीखकर ये पदार्थ बनाये गये थे। मनुष्य के शरीर में प्रतिरक्षा प्रणाली किस प्रकार कार्य करती है,इस बारे में भी उन्हें कोई जानकारी नहीं थी।

अब तक प्रतिरक्षा का विचार चेचक,हैजा,डिप्थीरिया आदि संक्रामक रोगों के संदर्भ में ही

---

1. प्रतिरक्षा विज्ञानी – immunologist
2. वैक्सीन – vaccines
3. सीरा – sera

किया जाता था। परंतु अत्यधिक जटिल और परिष्कृत प्रतिरक्षा प्रणाली की कार्यविधि ज्ञात करने में भी आज के प्रतिरक्षा वैज्ञानिकों ने वैक्सीनों तथा सीरा का उपयोग करना प्रारंभ किया है। शल्यक्रिया द्वारा शरीर में प्रविष्ट करायी जाने वाली कोशिकाओं, शरीर से उत्पन्न हुए प्रारंभिक अथवा स्थापित कैंसरों की कोशिकाओं से होने वाली प्रतिरक्षा प्रतिक्रियाएं ज्ञात करना आज के सिद्धांत तथा प्रयोगों का उद्देश्य है। जिन व्यावहारिक प्रश्नों के उत्तर ज्ञात करने के प्रयास किये जा रहे हैं उनमें गुर्दे के प्रतिरोपण के पश्चात शरीर द्वारा उसे अस्वीकार किया जाना तथा कैंसरीय ट्यूमर प्रतिरक्षा के दौरान किये जाने वाले हमलों को तीव्र बनाना सम्मिलित हैं। इस काम को समझने के लिए प्रतिरक्षा प्रणाली का अधिक गहराई से अध्ययन करना होगा। इसके लिए शरीर जिस तत्परता से विषाणु, जीवाणु और कोशिका जैसे किसी विजातीय पदार्थ को पहचानकर अपनी कोशिकाओं तथा कोशिकाओं से उत्पन्न होने वाले पदार्थों को शरीर से बाहर फेंकने के काम पर लगता है, इसे जानना भी आवश्यक है। इस हेतु शरीर में दो किस्म की कोशिकाएं उत्पन्न होती हैं। ये दोनों हड्डियों की मज्जाओं में उपस्थित मूल रक्ताणुओं[1] से उत्पन्न होती हैं। ये कोशिकाएं मूलतः प्रतिरक्षा कोशिकाएं नहीं होतीं, परंतु किसी समुचित अंग में प्रवेश करने के बाद जब इनका संवर्द्धन होता है तब इनमें प्रतिरक्षक दिखाई देते हैं। ऐसा ही एक अंग है थायमस ग्रंथि जहां ये कोशिकाएं विकसित होती हैं तथा थायमस के अधीन अथवा T-शृंखला की कोशिकाओं के विशेष कार्य के लिए अपने आप को अनुरूप बनाती हैं। इन्हें प्रतिरक्षा कोश की T कोशिकाएं कहा जाता है। स्तनधारियों में इस प्रकार का दूसरा स्थान ज्ञात नहीं है। परंतु यह टांसिल[2] से उण्डुक[3] तक के आंत्रिक मार्ग[4] में कहीं हो सकता है अथवा यह अस्थि-मज्जा में भी हो सकता है। ये कोशिकाएं प्रतिरक्षा कोश की B कोशिकाएं कहलाती हैं।

B तथा T कोशिकाओं की सतह पर कुछ बड़े-बड़े धब्बे दिखाई देते हैं। इन्हें सुविधा के लिए हम प्रतिजन कहेंगे। बच्चों के जन्म के तुरंत बाद इन दोनों प्रकार की कोशिकाओं पर दिखाई देने वाले प्रतिजन के ढांचों में बहुत विविधता उत्पन्न हो जाती है। परंतु हर कोशिका के लिए केवल एक ही प्रकार का प्रतिजन उत्पन्न होता है। प्रतिजनों का विषय अत्यधिक गहन है। अभी इसकी चर्चा नहीं की जायेगी। यहां इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि जब T कोशिका दूसरी कोशिका की सतह पर उपस्थित किसी रासायनिक ढांचे X के संपर्क में आती है तो वह उसे तत्काल पहचान लेती है क्योंकि X का ढांचा तथा उसका ढांचा दोनों एक-दूसरे के इस तरह परिपूरक होते हैं जैसे कोई चाबी उसके ताले में पूरी तरह समा जाती है। इस पहचान के बाद T कोशिका अपना कार्य प्रारंभ करती है। T कोशिका में प्रतिफलन होता है तथा T' सेलों द्वारा एक नयी पीढ़ी प्रजनित होती है जिसमें सभी संतानों के प्रतिरक्षा ढांचे एक-से होते हैं। X के समान ढांचों के संपर्क में आते ही ये T कोशिकाएं उन पर आक्रमण करती हैं तथा उन्हें

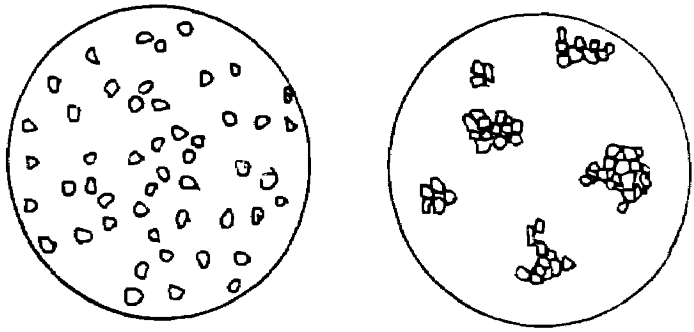
1. मूल रक्ताणु – stem cells
2. टासिल – tonsils
3. उण्डुक – appendix
4. आंत्रक मार्ग – intestinal tract

प्रायः नष्ट कर देती हैं। B कोशिकाओं का कार्य करने का तरीका कुछ भिन्न है। किसी बाहरी पदार्थ को पहचानने का उनका तरीका कुछ ऐसा ही होता है,परंतु उनकी प्रतिक्रिया भिन्न है। उनकी संख्या में वृद्धि होने के बाद वे प्लाज्मा कोशिका[1] के क्लोन बन जाते हैं। मूलतः हर प्लाज्मा कोशिका प्रतिजन प्रोटीनों का संश्लेषण करने की तथा उसे मुक्त करने की एक विशेष औद्योगिक इकाई होती है। इस प्रतिजन प्रोटीन का प्रत्येक अणु एक-से ढांचे का होता है तथा उसकी प्रतिकृति भी पैतृक B प्रतिरक्षा कोश के समतुल्य होती है। प्रतिजन विभिन्न प्रकार से कार्य करता है। इसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य तब प्रारंभ होता है जब किसी आक्रमणकारी जीवाणु का ढांचा विजातीय ढांचे के समान होता है। जब ऐसे जीव की सतह पर प्रतिजन की हल्की परत होती है तब वह 'आप्सोनाइज्ड' कहलाता है: तथा उसे ऊतकों की तथा रक्त की जीवाणु भक्षी[2] कोशिकाओं द्वारा प्रभावी तरीके से नष्ट कर दिया जाता है।

इन दो कोशिकाओं की कार्यविधि में मौलिक अंतर है। T कोशिकाएं कोशिकाओं की भूमिका निभाती हैं। वे इसी रूप में अपने लक्ष्य पर उपस्थित कोशिकाओं से जुड़ जाती हैं तथा उन्हें नष्ट कर देती हैं। इस प्रतिरक्षा पद्धति को कोशिका मध्यस्थता प्रतिरक्षा कहते हैं तथा ये कोशिकाएं प्रमुख रूप से विजातीय कोशिकाओं से प्रतिरक्षा करने का काम करती हैं। B कोशिकाओं का प्रमुख कार्य है धुलनशील प्रतिजन बनाना। प्रतिजन किसी भी विजातीय प्रतिकृति के लिए बनाये जा सकते हैं जिसमें प्रतिरोपित अथवा विषाणु कोशिकाएं सम्मिलित हैं। परंतु B कोशिकाओं का प्रमुख कार्य जीवाणुओं के आक्रमण से उत्पन्न संक्रामक रोगों से बचाव करने का है।

प्रतिरक्षा विज्ञान के सिद्धांत रक्त की आनुवंशिकता का नियंत्रण करते हैं। रक्त की लाल कोशिकाओं में उपस्थित विभिन्न पदार्थो के कारण रक्त OAB, Rh तथा MN आदि विभिन्न समूहों में विभाजित किया जाता है। इस बारे में इससे पूर्व कुछ जानकारी प्राप्त कर ली गयी थी। रक्त की लाल कोशिकाओं में उपस्थित प्रतिजन के कारण रक्त में अंगूर के गुच्छों जैसे गुच्छे बन जाते हैं जब वे रक्त के प्रवाही हिस्से में उपस्थित अर्थात प्लाज्मा अथवा सीरम में उपस्थित रासायनिक पदार्थों के संपर्क में आते हैं। इन पदार्थों को रोग प्रतिकारक पिंड अथवा प्रतिपिंड कहते हैं। चित्र-36 देखें,परंतु यह प्रतिजन-प्रतिपिंड में होने वाली प्रतिक्रिया भी पूर्णतः विशिष्ट पदार्थों तक मर्यादित है और ताला तथा चाबी की विशिष्टता इसमें भी देखी जा सकती है। जिस प्रकार एक चाबी किसी विशिष्ट ताले के लिए ही उपयोगी होती है उसी प्रकार जब रक्त की लाल कोशिकाओं में उपस्थित कोई विशिष्ट प्रतिजन उससे संबंधित प्रतिपिंड के संपर्क में नहीं आता रक्त में गुच्छे नहीं बनेंगे। इसीलिए कोई एक प्रतिजन तथा उसका अनुरूपी पिंड शरीर में एक साथ उपस्थित नहीं रह सकते। इसी कारण रक्त आधानों[3] के समय विवेक से काम न किया तो जाये तो गंभीर खतरा उत्पन्न हो सकता है; क्योंकि ऐसा करते समय प्रतिजनक तथा अनुरूप प्रतिपिंड के एक-दूसरे के संपर्क में आने पर परस्पर प्रतिक्रिया होगी। यदि किसी व्यक्ति को रक्तदान करना है तथा उसके रक्त में A प्रतिजन उपस्थित है और रक्त

1. प्लाज्मा कोशिका – plasma cell
2. जीवाणु भक्षी कोशिका – phagocytic cell
3. रक्त आधान – blood transfusion



A B

चित्र 36 : (A)सामान्य अवस्था मे दिखाई देने वाली रक्त की लाल कोशिकाए ।
(B) अनुषगी विरोधी प्रतिपिंड के संपर्क में आने पर जब रक्त में गुच्छे बन जाते हैं तब वह ऐसा दिखाई देता है ।

स्वीकारक (प्राप्तकर्ता) के रक्त में A विरोधी प्रतिपिंड उपस्थित है तो रक्तदान के बाद दाता का रक्त स्वीकारक के शरीर में जाने के बाद उसमें गुच्छे पड़ जायेंगे तथा स्वीकारक की कोशिकाओं[1] के अवरुद्ध होने से प्रायः उस व्यक्ति की मौत हो जायेगी ।

खून में पाये जाने वाले प्रतिजन किस प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं इसे हम देख चुके हैं । परंतु उनकी उत्पत्ति कहां होती है इसे हम लोग नहीं जानते । परंतु उन्हें किस प्रकार पहचाना जाता है अथवा अपने उपयोग के लिए उन्हें किस प्रकार उत्पन्न किया जाता है — इसे हम पर्याप्त रूप से जानते हैं । वास्तव में रक्त परीक्षण की संपूर्ण प्रक्रिया में उनकी निर्मिति एक आवश्यक प्रारंभिक क्रिया है । यह बात वैसी ही है जैसी रासायनिक पदार्थ निर्मित करने से पूर्व ज्ञात शुद्धता के पदार्थों की आवश्यकता । इस तरह प्रारंभ में पहचाने गये प्रतिजनक रक्त के सीरम में प्राकृतिक रूप में तथा सामान्य रूप में उपस्थित रहते हैं । डा. कार्ल लैंड्स्टीनर द्वारा खोजे गये इन दो प्रतिपिंडों तथा उनके प्रतिजनों जिन्हें A तथा B कहा जाता है, द्वारा आज की चिर प्रतिष्ठित तथा रक्त के वर्गीकरण की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पद्धति, OAB पद्धति की नींव रखी गयी है । इन दो प्रतिजनों से चार स्वतंत्र गुट बन सकते हैं । किसी भी व्यक्ति के रक्त की लाल कोशिकाओं में या तो प्रतिजनक A होगा (A वर्ग) या B (B वर्ग) या A तथा B दोनों (A B वर्ग) या फिर इनमें से कोई भी नहीं होगा (O वर्ग) । उसके रक्त की लस में वह प्रतिपिड उपस्थित होगा जिसका अनुरूपी प्रतिजनक उसके रक्त में नहीं है । क्योंकि यह पहले ही ज्ञात हो चुका है कि एक ही व्यक्ति के रक्त में एक प्रतिजनक तथा उसका अनुरूपी प्रतिपिंड एक साथ उपस्थित नहीं रह सकते । अतः जब किसी व्यक्ति के खून में A वर्ग का रक्त होगा तो उसकी लस में उपस्थित प्रतिपिंड B विरोधी होगा तथा B वर्ग के खून में A विरोधी प्रतिपिंड होगा । इसी तरह AB वर्ग के रक्त में इनमें से कोई भी प्रतिपिंड नहीं होगा तथा O वर्ग के रक्त में A विरोधी तथा B विरोधी दोनों ही प्रतिपिंड उपस्थिति होंगे । ये प्रतिजन-प्रतिपिंड संबंध तालिका-1 में दर्शाये गये हैं :

1. केशिका – capillary

तालिका-1

रक्त का वर्ग	*लाल कोशिकाओं में उपस्थित प्रतिजन*	*सीरम में उपस्थित प्रतिपिंड*
A	A	B-विरोधी
B	B	A-विरोधी
AB	A तथा B	कोई नहीं
O	कोई नहीं	A विरोधी तथा B-विरोधी

इस जानकारी के संदर्भ में रक्त आधानों के दौरान हम इन चार समूहों में उत्पन्न होने वाली असंयोज्यता ज्ञात कर सकते हैं। क्योंकि इसके उत्पन्न होने का कारण दानकर्ता के रक्त की लाल कोशिकाएं तथा स्वीकारकर्ता के खून में उपस्थित प्रतिपिंडों में होने वाली क्रिया होता है। 0 वर्ग का रक्त किसी भी व्यक्ति को दिया जा सकता है क्योंकि इस रक्त में A अथवा B प्रतिजन में से कोई भी प्रतिजन उपस्थित नहीं होता; तथा इस कारण इस रक्त की O, A,B तथा AB गुटों में किसी रक्त से प्रतिक्रिया नहीं होती। इसी तरह A वर्ग का रक्त A तथा AB वर्ग के लोगों को दिया जा सकता है। B वर्ग का रक्त B तथा AB वर्ग के लोगों को दिया जा सकता है। परंतु A तथा B वर्ग का रक्त O वर्ग के लोगों को नहीं दिया जा सकता क्योंकि इस वर्ग के रक्त में A विरोधी तथा B विरोधी दोनों प्रतिपिंड उपस्थित रहते हैं। इस तरह O वर्ग का रक्त A,B तथा AB को देने योग्य होता है। A, B अथवा AB का रक्त O वर्ग को देने योग्य नहीं होता। इस प्रकार की संयोज्यता अथवा असंयोज्यता जो दाता तथा स्वीकारकर्ता के रक्त में होती है तालिका-2 में दर्शायी गयी है :

तालिका-2

रक्तदाता के रक्त का वर्ग	*स्वीकारकर्ता के रक्त का वर्ग*			
	O	A	B	AB
O	C	C	C	C
A	nC	C	nC	C
B	nC	nC	C	C
AB	nC	C	nC	C

C^+ = संयोज्य,nC असंयोज्य

तालिका-2 की प्रथम पंक्ति तथा अंतिम स्तंभ से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि O वर्ग के लोग सभी वर्गों के लोगों को रक्तदान करने योग्य होते हैं तथा AB वर्ग के लोग सभी वर्गों से रक्त प्राप्त कर सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि O वर्ग के रक्त में किसी भी वर्ग के स्वीकारकर्ता के रक्त से गुच्छे उत्पन्न नहीं होंगे। इसी तरह AB वर्ग के रक्त में किसी भी दानकर्ता के रक्त से गुच्छे उत्पन्न नहीं होंगे। परंतु इस प्रकार की सर्वसामान्यता का स्वरूप भी मर्यादित होता है। ये सीमाएं दो तरह की होती हैं। एक तो रक्तदाता के रक्त में उपस्थित प्रतिपिंडों का प्रभाव एकदम शून्य के बराबर नहीं होता, परंतु वह खतरनाक भी नहीं होता। अतः इसे पूर्ण रूप से नजरअंदाज नहीं किया जाता। दूसरी मर्यादा रक्त के सीरम में उपस्थित दो किस्म के प्रतिपिंडों के कारण होती है। एक वर्ग होता है स्वाभाविक प्रतिपिंडों का जो प्राकृतिक रूप से रक्त में उपस्थित रहते हैं। A विरोधी तथा B विरोधी प्रतिपिंड इसके उदाहरण हैं। इन्हें उत्पन्न होने के लिए किसी बाह्य प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती। कुछ प्रतिपिंड किसी बाहरी विषम प्रतिजन के प्रवेश के कारण होने वाली प्रतिरक्षा-क्रिया के दौरान उत्पन्न होते हैं। ऐसे सद्यःस्फूर्त प्रतिपिंडों को प्रतिरक्षक पिंड कहते हैं। उदाहरणार्थ, M विरोधी तथा N विरोधी ऐसे ही दो प्रतिपिंड हैं। जब प्रयोगीय जानवरों के शरीर में मनुष्य के रक्त का टीका लगाया जाता है, तब प्रतिरक्षित जानवर के सीरम में ऐसे प्रतिपिंड निर्मित हो जाते हैं जो मनुष्य के रक्त की बाल कोशिकाओं में गुच्छे बना देते हैं। इन गुच्छों के बनने का कारण यह है कि मनुष्य के रक्त में इन प्रतिपिंडों से जुड़े हुए प्रतिजन उपस्थित रहते हैं। ये प्रतिरक्षित प्रतिपिंड सामान्यतः मनुष्य के अथवा प्राणियों के रक्त में उपस्थित नहीं होते, परंतु इनसे संबंधित प्रतिजन M तथा N मानवी रक्त की लाल कोशिकाओं में स्वाभाविक रूप से उपस्थित रहते हैं। कुछ व्यक्तियों के रक्त की लाल कोशिकाओं में M तो कुछ अन्य में N प्रतिजन उपस्थित रहते हैं : और कुछ व्यक्तियों में M तथा N दोनों ही उपस्थित रहते हैं। इसलिए कि प्रतिजन M तथा N मनुष्य के रक्त में प्राकृतिक रूप से उपस्थित नहीं रहते। रक्त का MN वर्गीकरण चिकित्सा की दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना ABO वर्गीकरण है।

परंतु पितृत्व के लिए किये जाने वाले परीक्षणों के लिए इस वर्गीकरण से एक आसान विधि उपलब्ध हो जाती है। OAB वर्गीकरण की तुलना में यह विधि अधिक सरल है। इसका कारण यह है कि MM, MN तथा NN – इन तीनों आनुवंशिक रूपों को उनके बाह्य रूपों द्वारा पहचानना संभव है। यदि किसी शिशु के रक्त में M अथवा N प्रतिजन उपस्थित है परंतु कथित जनक के रक्त में नहीं है तो वह शिशु इस व्यक्ति की संतान नहीं हो सकता। परंतु इस परीक्षण से ऐसे कथित पिता के रक्त का वर्ग MN हो तो वह व्यक्ति इस शिशु का वास्तविक पिता हो सकता है। वह M, MN तथा N में से किसी भी वर्ग के शिशु को जन्म दे सकता है। इस प्रकार की परीक्षण-पद्धति OAB वर्गों के लिए भी तैयार करना संभव है। परंतु यह पद्धति इतनी निर्णायक सिद्ध नहीं होगी। OAB गुटों के रक्त की आनुवंशिकता MN गुट से अधिक जटिल होगी।

रक्त की OAB तथा MN दोनों पद्धतियां स्वतंत्र हैं। इसलिए OAB वर्ग के किसी व्यक्ति का रक्त A वर्ग का हो तो वह M या N अथवा MN वर्ग का हो सकता है। इन दोनों वर्गों में

किसी तरह का संयोजन नहीं होता कि ये गुट किसी तरह से एक-दूसरे से जुड़ जायें क्योंकि इन्हें उत्पन्न करने वाले जीनों के सेट भिन्न होते हैं। ये जीन मेंडेल के नियमों के अनुसार वियोजित होते हैं। प्रथम MN गुटों की उत्पत्ति के बारे में विचार करें। ये वर्ग एक ही जीन के कारण उत्पन्न होते हैं। इस जीन के दो विकल्पी जीन हैं जिन्हें हम M तथा N चिह्नों से दर्शायेंगे। अतः हर व्यक्ति के विशिष्ट गुणसूत्र को जोड़ी में MM, MN अथवा NN में से कोई एक जोड़ी उपस्थित रहेगी। परंतु M अथवा N में से कोई भी अपने साथी पर प्रभाव नहीं डालता या उसे अप्रबल नहीं बना देता, इसलिए दोनों संतुलित तथा समप्रभावी होंगे। अतः इन तीन आनुवंशिक रूपों से तीन बाह्य रूप उत्पन्न होंगे। जब एक युग्मविकल्पी जीन दूसरे को अप्रबल बना देता है तब तीन आनुवंशिक रूपों से केवल दो ही बाह्यरूप उत्पन्न होते हैं। MM युग्मविकल्पों के होने पर उसका वर्ग M होता है। NN का N तथा MNवाला MN वर्ग का होता है।

OAB रक्त समूहों की उत्पत्ति MN समूहों से अधिक जटिल है अथवा उन संपूर्णतः आनुवंशिक अभिलक्षणों की उत्पत्ति से भी अधिक जटिल है। इन अपेक्षाकृत सभी सरल स्थितियों में हर एक जीन के दो रूप अथवा युग्मविकल्पी उपस्थित थे। इनमें एक प्रबल तथा दूसरा अप्रबल था। प्रबल जीन दूसरे पर प्रभाव डालता था अथवा दोनों एक साथ अपना प्रभाव डालते थे। परंतु विकास के दौरान कई जीनों का उत्परिवर्तन हो चुका है तथा इस कारण वे अब तीन अथवा चार भिन्न रूपों में पाये जाते हैं। ABO रक्त समूह पद्धति इसका एक अच्छा उदाहरण है। यह जीन तीन भिन्न रूपों A, B तथा O में पाया जाता है जिनमें A तथा B रूप प्रबल होते हैं और ये O को निष्प्रभ बना देते हैं। A तथा B दोनों का प्रभाव समान रूप से बना रहता है अथवा ये दोनों सहप्रभावी जीन होते हैं। इनमें से कोई भी दूसरे पर प्रभाव नहीं डालता। अतः AA तथा AO जैसे आनुवंशिक रूपों से उत्पन्न बाह्य रूपों में कोई फर्क नहीं होगा। इसी तरह BB तथा BO जैसे आनुवंशिक रूपों द्वारा उत्पन्न बाह्य रूप भी एक-से होंगे। परंतु शेष दो आनुवंशिक रूपों AB तथा OO एक-दूसरे से भिन्न होंगे। इस प्रकार छह आनुवंशिक रूपों से केवल तीन ही बाह्य रूप उत्पन्न होते हैं। इसे तालिका-3 में दर्शाया गया है :

तालिका-3

आनुवंशिक रूप	*बाह्य रूप*
AA	A
AO	A
BB	B
BO	B
AB	AB
OO	O

रक्त के MN तथा OAB वर्ग स्वतंत्र वर्ग हैं तथा ये लिंग सहलग्न नहीं हैं। गुणसूत्रों की एक ही अलिंगी जोड़ी में पाये जाने के बावजूद ये एक-दूसरे से सबंधित नहीं होते। यह तथ्य इन समूहों को उत्पन्न करने वाले जीनों के दो सेटों के स्वतंत्र संव्यूहन द्वारा ज्ञात किया गया है। इसलिए OM से ABMN तक के समूहों में प्रजोत्पादन द्वारा चार किस्मों की संतानें पैदा हो सकती हैं। ये चार किस्में हैं AM, BM, AMN तथा BMN। यदि OAB तथा MN वर्गों का मेंडेल के नियमों के अनुसार स्वतंत्र वियोजन होता है तो इन चारों वर्गों के संतानों की संख्या समान होगी। O वर्ग का आनुवंशिक रूप OO तथा AB वर्ग का AB होने की वजह से O वर्ग के सभी युग्मकों में केवल युग्मविकल्पी जीन O ही उपस्थित होगा तथा दूसरों में A अथवा B सम संख्या में उपस्थित होंगे। इसी प्रकार M तथा MN जनकों से उत्पन्न आनुवंशिक रूप MM तथा MN होंगे। अत: एक से उत्पन्न युग्मक केवल M तथा दूसरे से उत्पन्न युग्मक M तथा N समान संख्या धारण करेंगे। अत: संतानों के आनुवंशिक रूप MM तथा MN होंगे और इनकी संख्या समान होगी। इसलिए इनमें से पचास प्रतिशत M वर्ग के तथा शेष पचास प्रतिशत MN वर्ग के होंगे। यदि इन दो स्वतंत्र संव्यूहनों को संकलित रूप से देखें करें तो हमें यह दिखाई देगा कि AM, BM, BMN तथा AMN किस्म के $(1/2)^2 = 1/4$ अर्थात पचीस प्रतिशत संतानें उत्पन्न होंगी। इसे तालिका-4 में दिखाया गया है।

तालिका-4 को देखने से पता चलता है कि कुल मिलाकर 16 भिन्न वर्गों की संतानें उत्पन्न हो सकती हैं; AM, AMN, BM तथा BMN में से हर एक चार किस्मों को जन्म देता है। दूसरे शब्दों में OM X ABMN के समागम से चार समानुपाती उत्पन्न होते हैं जो AM, AMN, BM तथा BMN होंगे।

इसी प्रकार विषम बाह्य रूपों के द्वारा प्रजनित, जैसे – AM X BM अथवा OMN X AMN – संतानों के विभिन्न बाह्य रूपों की अनुपात बारंबारता का संगणन किया जा सकता है अथवा किसी अन्य सम्मिश्रण, जिनके OAB तथा MN जीनों का स्वतंत्र वियोजन मेंडेल के नियमों के अनुसार होता है, का भी संगणन करना संभव है। मेंडेल के वियोजन के दूसरे नियम के अनुसार अपेक्षित बारंबारता तथा प्रत्यक्ष निरीक्षणों के दौरान प्राप्त बारंबारता में मान हर एक स्थिति में एक-से होते हैं। मेंडेल के वियोजन का दूसरा नियम अन्य जीनों तथा असाधारण जीनों पर भी लागू होता है। इन जीनों द्वारा Rh, P, लुथेरान, डफी, केल, लेविस और किड जैसे अन्य रक्त समूह के वर्गीकरण की पद्धतियां प्रारंभ की गयी हैं। इनमें से प्रत्येक पद्धति के नियंत्रक जीन एक विशिष्ट प्रतिजन बनाते हैं जो रक्त की लाल कोशिकाओं में उपस्थित रहता है। इन वर्गों की आनुवंशिकता को रीसस अथवा Rh रक्त समूह के उदाहरण से दिखाया जा सकता है। यह पद्धति मानवी रक्त में उपस्थित अथवा अनुपस्थित एक प्रतिजन पर आधारित की गयी है। इस Rh की खोज उस समय की गयी जब रीसस बंदरों का खून खरगोशों तथा

तालिका-4

पिता के आनुवंशिक रूप OM = OOMM
से उत्पन्न होने वाले युग्मक

मां के आनुवंशिक रूप ABMN से उत्पन्न युग्मक	OM	OM	OM	OM
AM	आनुवंशिक रूप AOMM बाह्य रूप (AM)	AOMM (AM)	AOMM (AM)	AOMM (AM)
AN	आनुवंशिक रूप AOMN बाह्य रूप (AMN)	AOMN (AMN)	AOMN (AMN)	AOMN (AMN)
BM	आनुवंशिक रूप BOMM बाह्य रूप (BM)	BOMM (BM)	BOMM (BM)	BOMM (BM)
BN	आनुवंशिक रूप BOMN बाह्य रूप (BMN)	BOMN (BMN)	BOMN (BMN)	BOMN (BMN)

गिनीपिगों के शरीर में डाला गया। इन प्रतिरक्षित जानवरों के सीरम में एक प्रतिपिंड पाया जाता है जो कुछ लोगों के रक्त की लाल कोशिकाओं में उपस्थित प्रतिजनक Rh से क्रिया करता है। यह Rh प्रतिजन एक ऐसे जीन द्वारा उत्पन्न किया जाता है जिसके दो युग्मविकल्पी रूप होते हैं! एक रूप प्रबल Rh है तो दूसरा अप्रबल (rh) है। Rh Rh तथा Rh rh से दर्शाये जाने वाले आनुवंशिक रूप Rh धनात्मक कहलाते हैं। इसका अर्थ यह है कि इन आनुवंशिक रूपों के रक्त की लाल कोशिकाओं में यह प्रतिजन उपस्थित है। परंतु rhrh आनुवंशिक रूप Rh कहलायेगा अर्थात इस रक्त में Rh प्रतिजन अनुपस्थित होगा।

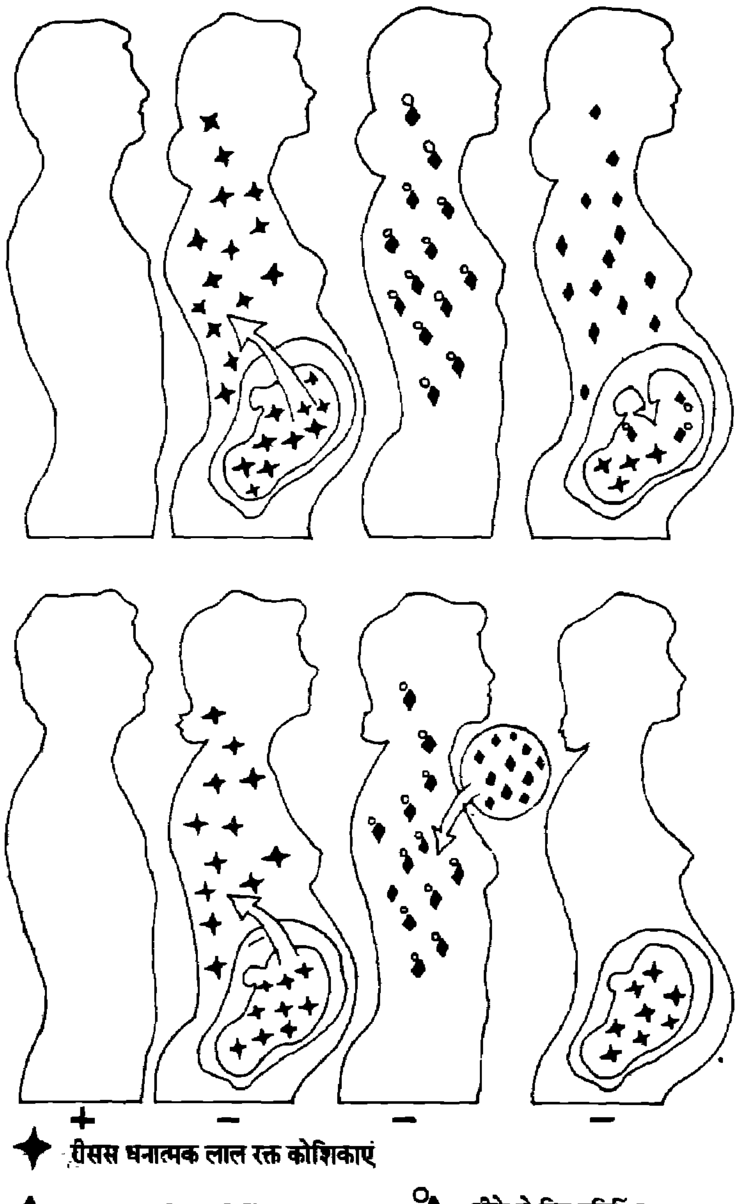
प्रतिजन Rh के कारण एक नयी रक्त-असंयोज्यता उत्पन्न होती है। यह एक नयी प्रकार की रक्तक्षीणता का कारण बन गया है। इस रोग को *इरिथ्रोब्लास्टोसिस फेटालिस* कहते हैं। यह यदा-कदा नवजात शिशुओं में उत्पन्न होता है। इस रोग से पीड़ित शिशु Rh + होते हैं तथा उनके पिता भी Rh + होते हैं। परंतु उनकी माताएं Rh- होती हैं। मां के गर्भाशय में विकसित होने वाले भ्रूण गर्भनाल द्वारा अपनी मां को Rh + प्रतिजन देकर उसे प्रतिरक्षित करते हैं। इस प्रकार प्रतिरक्षित होने वाली मां के रक्त में Rh विरोधी प्रतिपिंड निर्मित होते हैं। लगातार होनेवाली Rh + गर्भधारणा के कारण ये प्रतिपिंड काफी शक्तिशाली बनकर गर्भनाल के माध्यम से भ्रूण के रक्त में पहुंच जाते हैं। इस वजह से शिशु के रक्त की लाल कोशिकाओं

में गुच्छे बन जाते हैं। मां के रक्त में उपस्थित प्रतिजनों तथा शिशु के रक्त की लाल कोशिकाओं के बीच होने वाली क्रिया के कारण रक्तक्षीणता उत्पन्न होती है। यह स्थिति काफी गंभीर हो सकती है तथा इससे नवजात शिशु की मृत्यु अथवा भ्रूण का गर्भपात हो सकता है। चित्र-37 देखें।

मां तथा भ्रूण में पायी जाने वाली असंयोज्यताओं की संख्या काफी अधिक है। इस बड़े वर्ग में एक असंयोज्य घटक है– **Rh** घटक। इस प्रकार की विसंगतियां सहजता से ज्ञात नहीं की जा सकतीं क्योंकि गर्भधारण के कुछ समय बाद गर्भपात के कारण भ्रूण नष्ट हो जाता है। अत: इन बातों पर किसी का ध्यान नहीं जाता। A अथवा B रक्त समूह के भ्रूण यदि O समूह की मां के गर्भ में पलते हैं तो इनमें से 10 प्रतिशत शिशुओं का भ्रूणावस्था में ही नष्ट हो जाने का खतरा रहता है। ऐसा होने का कारण है मां तथा भ्रूण के प्रतिजन प्रतिपिंड में होने वाली परस्पर क्रिया। दूसरी ओर जहां ऐसी विसंगतियां विद्यमान नहीं है वहां O वर्ग के तथा अन्य समयुग्मज भ्रूणों की संख्या जन्म के समय बहुत कम होती है तथा इससे यह कहा जा सकता है कि उन संतानों की मृत्यु भ्रूणावस्था में ही हुई होगी। कुल मिलाकर छह प्रतिशत संषेचित डिंब शिशु के जन्म से पूर्व ही नष्ट हो जाते हैं। इसका कारण उस स्थान पर इस खास जीन का होना है। यदि यह सच है तो OAB, MN, Rh आदि विभिन्न रक्त समूहों के वे जीन जो मां तथा भ्रूण में उत्पन्न होने वाली विसंगतियों के लिए उत्तरदायी हैं इस भ्रूण-मृत्यु का कारण होते हैं। इस बात को स्वीकार करना आवश्यक है। प्रसव-पूर्व मृत्यु का एक और कारण है – गुणसूत्रों का विपथन। इस पर अगले अध्याय में विचार किया जायेगा।

मां तथा भ्रूण में विद्यमान विसंगति अथवा गुणसूत्रों के विपथन के कारण होने वाली अधिकांश प्रसव-पूर्व मृत्यु को अकालिक मृत्यु होने की वजह से महत्वपूर्ण नहीं माना जाता। परंतु मां तथा भ्रूण में विद्यमान विसंगतियों के कारण जन्म से कुछ ही समय पूर्व होने वाली मृत्यु अधिक खतरनाक होती है। गर्भपात द्वारा Rh शिशुओं का नष्ट हो जाना एक ऐसी दुखद घटना है जिसे पूर्व सावधानी से टाला जा सकता है। प्रथम समय की गर्भधारण में Rh मां तथा उसके शिशु में Rh विसंयोज्यता होने के बावजूद रक्तक्षीणता उत्पन्न होने का अथवा गर्भपात का कोई खतरा उपस्थित नहीं होता। परंतु ऐसा तभी होगा जब इस मां ने गर्भधारणा से पूर्व किसी Rh + रक्त को स्वीकार नहीं किया है। क्योंकि ऐसे रुधिर आधानों के कारण मां के रक्त में ऐसे प्रतिपिंड उत्पन्न हो सकते हैं जो मां के रक्त में काफी वर्षों तक बने रहेंगे। ऐसी स्थिति में इन प्रतिपिंडों की संख्या इतनी अधिक होगी कि इस स्त्री के प्रथम गर्भधारण के समय ये उस शिशु पर आक्रमण कर सकें। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी भी युवा स्त्री का रक्त Rh- हो तो उसे Rh + रक्त को स्वीकार नहीं करना चाहिए। ऐसे रक्त आधानों को हमेशा टालना जरूरी है, क्योंकि संतानोत्पत्ति के अतिरिक्त इससे अन्य खतरे भी हो सकते हैं। Rh- रक्त समूह के स्त्री-पुरुषों को Rh + रक्त बार-बार दिया गया तो उसके गंभीर दुष्प्रभाव हो सकते हैं। अत: Rh- पुरुष को भी Rh + रक्त दिया जाना उचित नहीं होगा।

रक्त का वर्गीकरण Rh + तथा Rh- जैसे दो वर्गों में किया जाना रक्त-आधान जैसी



चित्र 37 : Rh धनात्मक पिता तथा Rh ऋणात्मक माता के समागम से उत्पन्न Rh धनात्मक संतान जिसमें Rh धनात्मक रक्त होता है। Rh धनात्मक रक्त (+) तथा Rh ऋणात्मक रक्त (—) चिह्न से दर्शाया गया है। शिशु के Rh धनात्मक रक्त में उपस्थित कुछ पदार्थ अथवा प्रतिजन गर्भनाल अथवा जरायु से मां के रक्त में जाता है। मां का रक्त इस विरोधी पदार्थ पर आक्रमण करने हेतु अनुषंगी प्रतिपिंड उत्पन्न करता है । मां के रक्त में उत्पन्न हुए प्रतिपिंड शिशु के रक्त में प्रवेश करते हैं तथा शिशु की रक्त कोशिकाएं नष्ट करना प्रारंभ करते हैं। इससे अजन्मे शिशु में रक्त की कमी हो जाती है, जिससे उसकी मृत्यु भी हो सकती है।

चिकित्सा क्रियाओं के लिए पर्याप्त प्रतीत होता है। इसे एक जटिल स्थिति को अति सरल बनाकर प्रस्तुत करना ही कहा जायेगा। इस जटिलता का कारण Rh + तथा Rh- व्यक्तियों को पृथक रूप से पहचानने हेतु प्रयुक्त तथा खरगोशों को प्रतिरक्षित करने के लिए रीसस बंदरों के खून देने के बाद उत्पन्न होने वाले सीरम की तुलना में Rh- गर्भधारणा से मां के रक्त के सीरम में उत्पन्न विभेदक क्षमता अधिक होती है। यदि किसी ऐसी स्त्री के क्रियाशील सीरम का इस्तेमाल करें जिसने Rh अथवा इरिथ्रोब्लास्टेटिक से पीड़ित संतान उत्पन्न की हैं तो पता चलता है कि सीरम में केवल एक ही Rh प्रतिजन नहीं, कई विभिन्न प्रतिजन उपस्थित हैं जो विशिष्ट सीरम द्वारा पहचाने जाते हैं। इस तरह गर्भावस्था के दौरान अपने Rh + शिशुओं द्वारा प्रतिरक्षित Rh- स्त्री के रक्त के सीरम में ऐसे प्रतिपिंड होते हैं जो Rh + कोशिकाओं के अतिरिक्त कुछ Rh- व्यक्तियों की कोशिकाएं समाहित कर सकते हैं। इस प्रकार Rh + तथा Rh- वर्गों को पहचानने हेतु दो अतिरिक्त सीरम उपलब्ध हो गये हैं। प्रतिरक्षित प्रयोगार्थ उपयोग में लाये गये जानवरों के रक्त के सीरम में उपस्थित Rh’ विरोधी तथा Rh” विरोधी प्रतिपिंडों के अतिरिक्त दो प्रकार के सीरम का उपयोग किये जाने के कारण अब 2x2x2 = 8 विभिन्न किस्मों को पहचाना जा सकता है। इसे तालिका-5 में दिखाया गया है।

इस तालिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हर प्रतिसीरम द्वारा परीक्षित रक्त दो वर्गों में बंट जाता है। एक वर्ग उस सीरम से निश्चित प्रकार की धन-क्रिया करता है तथा दूसरा वर्ग ऋण-क्रिया करता है। इस प्रकार आठ सम्मिश्रण बन जाते हैं। Rh + तथा Rh- को दो अतिरिक्त प्रतिसीरम Rh’ विरोधी तथा Rh” विरोधी द्वारा 4 उपवर्गों में विभाजित किया जाता है। अतः Rh पद्धति में आठ वर्ग हो जाते हैं जो यह सूचित करते हैं कि Rh पद्धति को उत्पन्न करने वाले जीन के आठ पर्याय अथवा युग्मविकल्पी जीन होते हैं। इन 8 जीनों को विरासत

तालिका-5

विभिन्न व्यक्तियों के रक्त की लाल कोशिकाओं की विशिष्ट प्रतिसीरम Rh विरोधी, rh’ विरोधी तथा rh” विरोधी के साथ होने वाली समूहन क्रियाएं

Rh *विरोधी*	rh’ *विरोधी*	rh” *विरोधी*	
+	-	-	
+	+	-	Rh +
+	-	+	
+	+	+	
-	-	-	
-	+	-	
-	-	+	Rh -
-	+	+	

में प्राप्त करते समय मेंडेल के एकल (घटक) कारक संप्रेषण के नियम का पालन किया जाता है। कोई भी एक व्यक्ति किसी एक युग्मविकल्पी जीन के संदर्भ में सम युग्मज होता है तो दो के संदर्भ में विषम युग्मज।परंतु किसी भी मानव समाज में अनेक विषम युग्मज पाए जा सकते हैं।

यद्यपि हम लोगों ने ABO, MN तथा Rh ये तीन रक्त प्रणालियों का कुछ गहराई से अध्ययन किया है तथापि इनके अतिरिक्त रक्त प्रणालियां भी हैं जो स्वतंत्र रूप से आनुवंशिकतः प्राप्त की जा सकती हैं। तालिका-6 में इन्हें दर्शाया गया है। इनमें P के अलावा सभी उन व्यक्तियों के नाम से जानी जाती हैं जिनके शरीर में ये प्रतिजनक तथा प्रतिपिंड सर्वप्रथम पाये गये।

तालिका-6

रक्त प्रणाली	*युग्मविकल्पी जीनों के चिह्न*
P	P_1, P_2, P
केल	*K, k, kp*
लुथेरान	Lu^a, Lu^b
डफी	*Fya, Fyb*
किड	Jk^a, Jk^b
लेविस	*Le, le.*

प्रथम दो प्रणालियों को प्रारंभ करने वाले जीनों के तीन विकल्प होते हैं तो अन्य प्रणालियों के केवल दो। जीन के ऐसे युग्मविकल्पी किसी प्रतिजनक की उपस्थिति का पता लगाते हैं अथवा पर्यायी प्रतिजन की जोड़ी का पता लगाते हैं अथवा OAB, MN तथा Rh पद्धतियों में जिस तरह की जटिल स्थिति उत्पन्न होती है,ऐसी स्थितियों को नियंत्रित करते हैं। इन जीनों द्वारा उत्पन्न इन पद्धतियों का व्यावहारिक चिकित्सा क्षेत्र में क्या उपयोग है – यह तो आगे चलकर ही ज्ञात किया जा सकता है,परंतु इनका अध्ययन आज की आनुवंशिकता का एक सैद्धांतिक विषय बन चुका है। ये प्रतिजन उत्पन्न करने वाले जीन उस वर्ग में आते हैं जिनका वियोजन मेंडेल के नियमानुसार किया जाता है। अत: जिस प्रकार लिंग सहलग्न जीनों की सहायता से आनुवंशिक रूप तथा बाह्य रूपों के परस्पर संबंध निर्धारित किये जा सकते हैं उसी प्रकार इन जीनों का उपयोग भी किया जा सकता है। ऐसे जीन कई अलिंगी गुणसूत्र में स्थान निर्देशकों के रूप में कार्य करते हैं। इससे सहलग्नता का निरीक्षण करना तथा अन्योन्य गमन मानों को ज्ञात करना संभव होता है। मनुष्य के आनुवंशिक मानचित्र तैयार करते समय इनकी आवश्यकता होती है। आर.आर.रेस तथा आर.सेंगर की 'ब्लड ग्रुप्स इन मैन' की भूमिका लिखते समय सर रोनाल्ड फिशर ने लिखा है – "मनुष्य के 23 गुणसूत्रों में 10 पर उपयोगी

चिह्न लगाये जा चुके हैं। हम एक ऐसे युग में प्रवेश करने जा रहे हैं जहां मनुष्य के गुणसूत्रों का पर्याप्त अध्ययन करना संभव होगा।" अलिंगी गुणसूत्रों के मानचित्र तैयार किये जाने के बाद आनुवंशिक रोगों से मुक्ति पाने के उपाय खोजना संभव होगा। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से विरले लोग ही इन रोगों की चपेट में आते हैं, फिर भी इनके कारण उत्पन्न होने वाली समस्या काफी महत्वपूर्ण है।

8

आनुवंशिकता और रोग

शेक्सपीयर ने जब अपने भाई के बारे में लिखा था - "कान में लगी फफूंदी उसे नष्ट कर रही है।" तब उसका संकेत उस बात की ओर था जिसे हम लोग आज संक्रामक रोग कहते हैं। फिर तीन सौ साल बाद सन् 1846 में आयरलैंड में आलू की फसल नष्ट कर वहां अकाल की स्थिति उत्पन्न करने वाली आलू की अंगमारी[1] के बारे में सुप्रसिद्ध वनस्पतिशास्त्री से पूछने पर उन्होंने पौधों पर लगी फफूंद को रोग का परिणाम होने की बात कही। इसे रोग का कारण नहीं बताया। उनका यह उत्तर तो उलटी गंगा बहाने जैसा ही था। उनका यह विश्वास था कि पेड़-पौधों के रोग आनुवंशिक होते हैं। पेड़-पौधों, प्राणी तथा मनुष्य के रोगों के कारणों का पता न चलने पर इन रोगों को आनुवंशिक कहकर एक अज्ञात चीज को दूसरी अधिक अगम्य चीज से जोड़ देने का मोह टालना उस समय के विद्वानों के लिए संभव नहीं था। कई असाध्य रोगों को आनुवंशिक मान लेने का मोह उन्हें हो जाता था। वे लोग तपेदिक जैसे रोगों में होने वाली शारीरिक क्षति को आनुवंशिकता द्वारा नियंत्रित क्षति समझते थे क्योंकि कुछ ही परिवारों में इस रोग का फैलाव अधिक आसानी से होता था। परंतु आज हमें जो जानकारी उपलब्ध है उसकी बदौलत हम लोग परिवेश तथा आनुवंशिकता में होने वाली आपसी क्रियाओं के बारे में कुछ अधिक जानते हैं। रोग तथा विकलांगता दो प्रकार की होती है। इसके प्रथम वर्ग में बाहर से होने वाले संक्रमण (परिवेश) के कारण उत्पन्न रोग तथा विकलांगता शामिल है। आनुवंशिकता के कारण प्राप्त की गयी किसी जैविक असामान्यता से उत्पन्न रोगों का दूसरा वर्ग है। परंतु रोगों को इस प्रकार से परिवेशी तथा आनुवंशिक जैसे दो वर्गों में बांट देना वास्तविक स्थिति को अत्यधिक सरल रूप में प्रस्तुत करना कहलायेगा। जिन रोगों के कारणों का हमें कुछ पता नहीं है उनका अभी विचार न भी किया जाये तो ऐसी अनेक व्याधियां हैं जिन्हें परिवेशी या आनुवंशिक जैसे किसी एक वर्ग तक सीमित रखना उचित नहीं है। खंडित मनस्कता[2] तथा मनोविकार जैसे रोग तभी प्रकट होते हैं जब किसी व्यक्ति द्वारा अर्जित किये गये आनुवंशिक दोष प्रतिकूल स्थिति में उभर आते हैं। इससे भी महत्वपूर्ण बात है उस व्यक्ति की संपूर्ण आनुवंशिक रचना, जिसे उसका आनुवंशिक रूप कहा जाता है। यह बात हर रोग की तीव्रता के बारे में बहुत महत्वपूर्ण होती है। रोग परिवेशी होने पर भी आनुवंशिक दृष्टि से

---

1. अंगमारी – blight
2. खंडित मनस्कतासीजोफ्रेनिया) – schizophrenia

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर उसका प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है। मजबूत शारीरिक गठन के कैसेनोवा अथवा शॉपेनहॉवर जैसे व्यक्ति उपदंश जैसे रोग से पीड़ित होने पर भी सत्तर साल की आयु तक जीवित रहे, परंतु हेनरी VIII तथा नीत्शे जैसे लोगों की मृत्यु युवावस्था में ही हुई। स्त्री तथा पुरुषों की रोग प्रतिकारक शक्ति में भी काफी अंतर दिखाई देता है।

स्त्री को कमजोर कहा जाता है, परंतु स्त्री की अपेक्षा पुरुष ही अधिकांश रोगों की चपेट में आसानी से आ जाता है। उसे अनेक दोषों के कारण भी कष्ट उठाना पड़ता है। अर्थात इनमें उन दोषों को सम्मिलित नहीं किया गया है जो ग्रंथियों के कारण उत्पन्न होते हैं अथवा स्त्रियों को होने वाले विशिष्ट रोग हैं। स्त्री को मातृत्व का भार वहन करना पड़ता है, इसी कारण यह अंतर उत्पन्न हुआ है। स्त्री आनुवंशिक दृष्टि से पुरुष से अधिक ताकतवर होती है। उसकी आंतरिक रासायनिक प्रणाली अधिक कार्यक्षम होती है तथा आज की अधिकांश शारीरिक पीड़ाओं का सफल मुकाबला करने हेतु उसका शरीर विशेष रूप से बनाया गया है। हर एक जनक से एक X गुणसूत्र प्राप्त करना अपने आप में एक बड़ी लाभदायक स्थिति है। पुरुष अपनी माता से एक ही X गुणसूत्र प्राप्त करना है, पिता से प्राप्त होने वाला Y गुणसूत्र विशेष उपयोगी नहीं है। यह गुणसूत्र एक क्षीण गुणसूत्र होता है तथा इसमें उपस्थित जीनों की संख्या भी कम है। अतः पुरुष के X गुणसूत्र में घातक या हानिकारक जीन उपस्थित हों तो उसे बहुत अधिक खतरा होता है। उसकी बहन को इतना खतरा नहीं होता इसके बावजूद कि उसने भी वही X जीन प्राप्त किया होता है। कारण, यह जीन अप्रबल होता है तथा दूसरे X जीन का इस पर प्रभाव पड़ता है। पुरुष के क्षीण Y गुणसूत्र में ऐसा कोई जीन नहीं होता जो उसके एक X पर प्रभाव कर सके। X गुणसूत्र में कई अप्रबल जीन उपस्थित रहते हैं जो प्रायः त्रुटिपूर्ण होते हैं तथा इनकी वजह से उसे कई आनुवंशिक पीड़ाओं का शिकार होता पड़ता है। परंतु स्त्रियां इनसे बच जाती हैं। परंतु इस प्रकार के दोषयुक्त जीन केवल लिंग सहलग्न गुणसूत्रों में ही उपस्थित नहीं रहते जिनकी वजह से पुरुषों में कुछ विशिष्ट आनुवंशिक दोष निर्मित होते हैं। इस प्रकार के जीन अलिंगी गुणसूत्रों में भी पाये जाते हैं। इस कारण होने वाले आनुवंशिक रोग स्त्री तथा पुरुष दोनों में ही समान रूप से उत्पन्न होते हैं। यदा-कदा ऐसे दोषपूर्ण जीनों का गुणसूत्रों में पाया जाना कोई ऐसी बात नहीं है जिस पर आश्चर्य किया जाये। हम यह देख चुके हैं कि जीवन की विभिन्न प्रक्रियाओं का प्रारंभ तथा नियंत्रण जीनों द्वारा ही किया जाता है। प्रारंभ में हर व्यक्ति की कोशिकाओं में उपस्थित जीन उस व्यक्ति के ऊतकों में तथा विविध अंगों में पहुंच जाते हैं। इन्हीं अंगों के सम्मिलित योग से ही उस व्यक्ति का निर्माण होता है। यदि विकास तथा संवर्द्धन कार्य में लगे हुए हजारों जीनों में से कुछ का कार्य त्रुटिपूर्ण हो जाता है तो यह कोई अनोखी घटना नहीं है। इसी दोषपूर्ण कार्य के कारण आनुवंशिक रोग उत्पन्न होते हैं।

दोषपूर्ण जीनों की उत्पत्ति जिस प्रक्रिया द्वारा होती है उसे उत्परिवर्तन[1] (अर्थात हर जीन द्वारा अपनी सही-सही प्रतिकृति निर्माण करते समय दोषपूर्ण प्रतिकृति का निर्माण) कहते हैं।

---

1. उत्परिवर्तन – mutation

स्वप्रतिकृति का निर्माण करते समय जीनों द्वारा लाखों-करोड़ों समरूप कोशिकाएं निर्मित होती हैं। इनमें उपस्थित जीन भी एक समान होते हैं। ये प्रतिकृतियां स्थायी तथा टिकाऊ होती हैं। इनकी स्थिरता का कारण हम पांचवे अध्याय में जान चुके हैं। ये विशाल होते हैं तथा क्वांटम यांत्रिकी बंधों के कारण ये महाअणु स्थिर रहते हैं। परंतु यदा-कदा नया जीन मूल जीन से कुछ भिन्न होता है अथवा गुणसूत्रों में जीनों के मूल स्थान परिवर्तित हो जाते हैं। जीनों को एक शृंखला में बांधकर रखने वाले बंधों की शक्ति भी परिवर्तित हो सकती है यदि उन्हें एक्स-रे, पराबैंगनी विकिरण अथवा अन्य ऊर्जा स्रोतों से विकीरणित किया जाये। इसके फलस्वरूप कृत्रिम उत्परिवर्तन भी प्रेरित किये जा सकते हैं। परंतु कृत्रिम अथवा ऊर्जा प्रेरित प्रभाव वैसे ही अनियंत्रित होते हैं जैसे स्वयं प्रेरित उत्परिवर्तनों के परिणाम होते हैं। इन सभी स्वयंस्फूर्त अथवा अन्य किस्म की पुनरावृत्ति प्रक्रियाओं को उत्परिवर्तन कहा जाता है।

परंतु जब कोई उत्परिवर्तित गुणसूत्र अपनी प्रतिकृति बनाता है तब इस परिवर्तित जीन अथवा नयी जीन रचना की ही प्रतिकृति बनाता है। यह आगे होने वाले कोशिका विभाजन की पूर्व तैयारी होती है। अत: एक बार उत्परिवर्तन हो जाये तो उसी जीन का संप्रेषण किया जाता है जिस प्रकार मूल जीन पीढ़ी दर पीढ़ी आगे पहुंचता रहता है। सामान्य जीन लाखों-करोड़ों वर्षों की उत्क्रांति के बाद आज इस स्थिति में पहुंचा है कि वह जिस जीव के शरीर का घटक होता है उसकी जटिल प्रतिकृति सही-सही उत्पन्न कर सके तथा उस शरीर को बनाये रख सके। उत्परिवर्तित जीन को यदि उपयोगी बनाना है तो उसे आंतरिक तथा बाह्य परिवेश के अनुरूप बनना पड़ता है। परंतु किसी प्रभावित जीन के लिए यह संभव नहीं है कि किसी आकस्मिक उत्परिवर्तन के कारण वह अपनी अस्थायी अवस्था पुन: प्राप्त कर ले। इसीलिए प्राय: अधिकांश उत्परिवर्तन हानिकारक होते हैं तथा इनके कारण मनुष्य में तथा पेड़-पौधों और जानवरों में आनुवंशिक रोग उत्पन्न होते हैं।

परंतु कभी-कभी उत्परिवर्तनों के कारण उत्पन्न जीन मूल जीन से बेहतर होता है या उसकी अपेक्षा निकृष्ट नहीं होता। बेहतर जीनों के कारण जीवों के अधिक विकसित तथा नये रूप उत्पन्न होते हैं। इसे ही जैविक क्रम विकास या उत्क्रांति कहा जाता है। जो जीन मूल जीनों से निकृष्ट नहीं होते उनसे जीवों की विभिन्न किस्में उत्पन्न होती हैं। इसे बहुरूपिता[1] कहते हैं। इन किस्मों में सहअस्तित्व होता है। OAB जैसे रक्त समूहों को उत्पन्न करने वाले जीन इसी प्रकार के जीनों के उदाहरण हैं क्योंकि A रक्त समूह के निर्माण करने वाले जीन O रक्त समूह के निर्माण करने वाले जीनों से बेहतर होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसीलिए रक्त समूहों के जीन 'तटस्थ जीन'[2] होते हैं, ऐसी धारणा बन गयी। इन जीनों के संदर्भ में मानव में बहुरूपिता होने की बात कही जाने लगी। अधिक परिशुद्ध भाषा में बहुरूपिता की व्याख्या कुछ इस प्रकार की जा सकती है : "किसी भी क्षेत्र में किसी जाति के दो अथवा दो से अधिक रूप ऐसे अनुपात में पाये जाते हैं कि उनमें से सबसे दुर्लभ रूप का अनुपात बनाये रखना

---

1. बहुरूपिता – polymorphism
2. तटस्थ जीन – neutral genes

केवल बार-बार होने वाले उत्परिवर्तनों के कारण संभव नहीं है।"

इस बात से आश्चर्य होना स्वाभाविक है कि आजकल चल रहे अनुसंधानों की बदौलत यह पता चल चुका है कि जिन्हें हम 'तटस्थ जीन' कहते हैं वे वास्तव में पूर्णतः तटस्थ नहीं होते। अत्यधिक सूक्ष्म सांख्यिकीय परीक्षणों से पता चलता है कि B, AB अथवा O रक्त समूह की अपेक्षा A रक्त समूह के व्यक्तियों को पेट का कैंसर होने की अधिक संभावना रहती है। इसी तरह B रक्त समूह वालों को पेट में व्रण होने का खतरा अधिक होता है। यह अंतर केवल एक सांख्यिकीय अंतर है और अल्प होने के बावजूद काफी अर्थपूर्ण है। इसका महत्व केवल सांख्यिकीय है अर्थात जीवनांकिक[1] फर्क है, व्यक्तिगत नहीं, परंतु नैसर्गिक वरण का प्रभाव पड़ने के लिए यह फर्क भी पर्याप्त होता है।

जीनों की कल्पना पुरानी पड़ चुकी है। इसलिए बहुरूपिता के कारण एक नयी समस्या उत्पन्न हुई है। जो जीन मूल जीनों से निकृष्ट नहीं थे वे या तो बेहतर हो जायेंगे अथवा निकृष्ट होंगे। यह स्थिति में परिवर्तन होने के कारण होता है। दुर्भाग्यवश ऐसी अवस्था को जानना हमारे लिए इस कारण संभव नहीं होता क्योंकि परिवेश तथा आनुवंशिकता में होने वाली परस्पर क्रियाएं बहुत जटिल होती हैं। उदाहरणार्थ, यदि मानवी परिवेश का कोई भाग इतिहास अथवा विकास के बढ़ते चरणों के तले दबकर नष्ट हो जाता है तो उसका परिणाम जैविक किस्मों या जातियों पर क्या होगा अथवा होना चाहिए जो इस नष्ट परिवेश में विकास कर रही थी, इस बात से हम लोग पूर्णतः अनभिज्ञ हैं।

परंतु हानिकारक उत्परिवर्तनों के कुप्रभावों के बारे में हम लोग काफी कुछ जानते हैं। ये उत्परिवर्तन ही मनुष्य में तथा अन्य प्राणियों में अथवा पेड़-पौधों में होने वाले रोगों का कारण हैं। ये रोग केवल इसीलिए ही उत्पन्न नहीं होते कि मूल जीन के समान ये जीन कार्य नहीं करते, वे इसलिए भी उत्पन्न होते हैं कि जीनों का मूल स्वरूप बरकरार होते हुए भी गुणसूत्रों में विपथन[2] हो जाता है। जीनों के उत्परिवर्तन अथवा गुणसूत्रों के विपथन के कारण उत्पन्न होने वाले सभी आनुवंशिक रोगों को दो वर्गों में रखा जा सकता है :(क) इस वर्ग में उन सभी रोगों को शामिल किया गया है जो गुणसूत्रों की संख्या तथा संरचना में दिखाई देने वाली असामान्यता के कारण उत्पन्न होते हैं। (ख) यह वर्ग जीनों में उत्परिवर्तन होने के कारण उत्पन्न होनेवाले रोगों का है। दुनिया में जन्म लेने के बाद जीवित रहने वाले बच्चों में 6% ऐसे होते है जो (क) अथवा (ख) में से किसी रोग से पीड़ित रहते हैं। दोनों ही प्रकार के रोग काफी गंभीर किस्म के रोग हैं, परंतु जीनों के उत्परिवर्तन के कारण होने वाले (ख) किस्म के रोग अधिक खतरनाक होते हैं तथा शिशुओं की मौत के लिए ये अधिक उत्तरदायी हैं। इसका कारण यह है कि प्रचुर गुणसूत्री असामान्यता के साथ प्राणियों का जिंदा रहना प्रायः असंभव होता है। इसीलिए ऐसी स्थिति हो तो जीव प्रसूतिपूर्व ही नष्ट हो जाते हैं। इस कारण से भ्रूणावस्था में होने वाली मृत्यु दर ज्ञात नहीं है; मानवीय गर्भधारण की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकती। परंतु मवेशियों,

1. जीवनांकिक – actuarial
2. विपथन – aberration

खरगोशों, चूहों तथा भेड़ों में इस तरह की मौतों का प्रतिशत 30 से 40 होता है। इस बात से मनुष्य के लिए भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। गुणसूत्री असामान्यता के कारण होने वाली मृत्युओं की वजह से मृत्यु दर में पर्याप्त वृद्धि होती है ऐसी एक धारणा है। मृत्यु दर में वृद्धि का दूसरा कारण है मां तथा भ्रूण में विद्यमान विसंगतियां। इस बारे में सांतवें अध्याय में विचार किया जा चुका है।

गुणसूत्री असामान्यता होने के बावजूद कुछ बच्चे इन गुणसूत्रीय असामान्यताओं के साथ जन्म लेते हैं। इस प्रकार की विषमताएं केवल लिंग-गुणसूत्रों तथा एक सबसे छोटे आकार के कायिक गुणसूत्र तक ही सीमित रहती हैं। हम यह देख चुके हैं कि सामान्य स्त्रियों में लिंग-गुणसूत्रों की XX जोड़ी तथा पुरुषों में XY जोड़ी पायी जाती है। परंतु कुछ अनियमित अवस्थाएं ऐसी भी होती हैं जिनमें X तथा Y गुणसूत्रों की XO, XXX, XYY, XXY आदि असामान्य स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं। इनकी तुलना XX तथा XY जैसी सामान्य स्थितियों से करने पर इन नयी व्यवस्थाओं से क्या प्राप्त होगा, इसे ज्ञात करना संभव होगा। जब Y अनुपस्थित रहता है तो उत्पन्न व्यक्ति शरीर रचना[1] की दृष्टि से स्त्री दिखाई देगा परंतु लैंगिक दृष्टि से वह एक अपरिपक्व तथा बंध्या व्यक्ति होगा। XYY व्यक्तियों में एक अतिरिक्त Y गुणसूत्र होने की वजह से हिंसात्मक अपराध करने की प्रवृत्ति होगी। XXY का प्रत्यक्ष स्वरूप एक पुरुष का होगा क्योंकि उसमें एक Y उपस्थित है, परंतु उसके वृषण बहुत छोटे तथा स्तन स्त्री जैसे होंगे। इन सभी असामान्य व्यक्तियों की बुद्धि सामान्य से कम होती है। इन दोषों का कोई भी इलाज नहीं है। ऐसी कोई भी जैव इंजीनियरी तकनीक आज तक विकसित नहीं की गयी है जिनकी सहायता से XO जैसी अंतर्लिंगी[2] व्यक्तियों में X गुणसूत्र जोड़कर उन्हें संपूर्ण स्त्री बनाना संभव हो। इसी प्रकार XXY जैसे स्त्रियोचित पुरुष से X अथवा XYY जैसे हिंसात्मक अपराधी वृत्ति के पुरुष से Y गुणसूत्र को हटाकर उसमें सुधार करने का कोई इलाज नहीं खोजा गया है।

एक अन्य गुणसूत्री असामान्यता जो प्रसव-पूर्व नष्ट नहीं होती वह है 46 गुणसूत्रों की बजाय 47 गुणसूत्रों की उपस्थिति। 47वां गुणसूत्र छोटे गुणसूत्रों में से एक होता है। अर्द्धसूत्रण द्वारा जब डिंब में 46 गुणसूत्र विभाजित होकर 23 रह जाते हैं तब एक त्रुटिपूर्ण क्रिया के कारण 21वें जोड़े के दोनों गुणसूत्रों को एक साथ डिंब में प्रवेश मिलता है। इसके परिणामस्वरूप शिशु में 'डाऊंस सिंड्रोम' (संरक्षण) उत्पन्न होता है। इसमें शिशु मंगोलों के समान दिखाई देता है। इन शिशुओं में बुद्धि जड़ता के साथ कुछ शारीरिक परिवर्तन भी दिखाई देते हैं। ऐसे बच्चों के जन्म के समय माताएं रजोनिवृत्ति के करीब होती हैं।

एक ही जीन के उत्परिवर्तन के कारण होने वाले आनुवंशिक रोग इन सभी रोगों से अधिक महत्वपूर्ण हैं। मेंडेल के सरल वितरण के नियम के अनुसार यह जीन संतानों में प्रकट होता है। इसे निम्नलिखित उदाहरण की सहायता से अधिक अच्छी तरह समझा जा सकेगा। (Aa)

---

1. शरीर रचना की दृष्टि से – anatomically
2. अंतर्लिंगी – inter-sex

जैसे विषम युग्मज समुदाय का विचार किया जाये जिसमें किसी प्रकार का रोग नहीं है। यदि अप्रबल जीन (a) में उत्परिवर्तन होता है जो कुछ ही व्यक्तियों तक सीमित हो तो उत्परिवर्तित जीनधारी व्यक्ति का आनुवंशिक रूप (Aa') होगा तथा (Aa) और (Aa') का बाह्य रूप समान होगा। अब यदि (Aa') आनुवंशिक रूपों के दो व्यक्ति समागम से प्रजनन करते हैं तो इनकी एक चौथाई संतानें दोहरी अप्रभावी समयुग्मज (a'a') होंगी तथा इस उत्परिवर्तित जीन a' द्वारा उत्पन्न होने वाली व्याधि उनमें प्रकट होगी। शेष संतानें A जैसे प्रभावी जीन होने की वजह से AA जैसा सामान्य आनुवंशिक रूप प्राप्त करेंगी अथवा उनका आनुवंशिक रूप Aa' होगा तथा वे a' जैसे पथभ्रष्ट जीन का वहन करेंगे।

इस बात पर अधिक प्रकाश डालने हेतु एक विशिष्ट आनुवंशिक रोग का उदाहरण लिया जाये। इस रोग को शैशवकालीन जड़ता[1] कहा जाता है। इस रोग से पीड़ित बच्चों के मां बाप सामान्य होते हैं तथा वे इस बात को नहीं जानते कि वे सामान्य जीन a की बजाय उसके उत्परिवर्तित रूप a' का वहन कर रहे हैं तथा यही अप्रभावी जीन a' इस रोग का कारण है। इस अज्ञान के कारण वे प्रसन्न दिखाई देते हैं। उनके शरीर में उपस्थित प्रभावी जीन A उस पथभ्रष्ट जीन a' को निष्प्रभ करता है। इसीलिए ये लोग सामान्य बने रहते हैं। परंतु इनके शरीर में निष्प्रभ किया हुआ जीन इनकी संतानों में पुन: प्रकट होता है। इनकी संतानों में एक चौथाई दोहरे अप्रभावी a'a' समयुग्मज होंगे। शेष बच्चों में दो तिहाई Aa' होंगे अथवा वे a' जीन के वाहक होंगे और एक तिहाई AA अथवा सामान्य होंगे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि Aa' वाला विषम युग्मज त्रुटिपूर्ण संतानें पैदा नहीं करेगा, परंतु उसकी संतानों में आधी a' जीन की वाहक होंगी। इसी तरह की स्थिति एक अन्य रोग में भी उत्पन्न होती है – यह रोग है किशोरकालीन[2] जड़ता। यह रोग भी उत्परिवर्तित अप्रभावी जीन के कारण ही होता है। इस रोग के दोनों जीनों का वहन करनेवाले व्यक्ति जन्म के समय सामान्य दिखाई देते हैं परंतु जब वे चार से सात वर्ष के बीच की आयु प्राप्त कर लेते हैं तो उनको दृष्टि धीरे-धीरे कमजोर होती जाती है तथा अंतत: वे अंधे हो जाते हैं। इसके साथ उनकी बुद्धि तथा शारीरिक शक्ति में भी कमी होने लगती है और किशोरावस्था या उससे पहले ही उनकी मृत्यु हो जाती है।

उपर्युक्त रोगों के लिए उत्तरदायी दोनों जीन अप्रभावी, परंतु प्राणघातक होते हैं। अन्य सभी प्राणघातक जीन अप्रभावी ही होते हैं। इसे समझना कठिन नहीं है। प्रबल उत्परिवर्तित जीन का प्रभाव प्रथम पीढ़ी की संतानों में ही दिखाई देता है। यदि यह जीन प्राणघातक है तो ऐसी सभी संतानें जिनमें वह जीन उपस्थित होगा, पैदा होने के तुरंत बाद नष्ट हो जायेंगी तथा उनकी संख्या में वृद्धि होने की कोई संभावना नहीं होगी। परंतु एक अप्रभावी जीन विषम युग्मज के रूप में कई पीढ़ियों की संतानों के शरीर में उपस्थित रहेगा। केवल सम युग्मज संतानें ही इस रोग से पीड़ित होंगी। एक उत्परिवर्तित जीन जिसे T चिह्न से दर्शाया जाता है, इस नियम के

---

1. शैशवकालीन जड़ता – infantile amauratic idiocy
2. किशोरकालीन – jiuvenile

लिए एक अपवाद है। इस जीन के कारण इसका वहन करने वालों के शरीर में असामान्य हीमोग्लोबिन तैयार होता है। हीमोग्लोबिन शरीर के ऊत्तकों तथा कोशिकाओं तक फेफड़ों से प्राप्त की गयी आक्सीजन की पूर्ति का काम करता है। परंतु इस जीन द्वारा उत्पन्न हीमोग्लोबिन एक विशिष्ट प्रकार की घातक रक्तक्षीणता (एनीमिया) उत्पन्न करता है। इसे कूली की रक्तक्षीणता[1] कहते हैं। TT जैसी सम युग्मज स्थिति के कारण उत्पन्न रक्तक्षीणता के घातक होने की संभावना होती है, परंतु अकेला होने पर भी T जीन घातक हो सकता है तथा Tt विषम युग्मजों में एक अन्य प्रकार की रक्तक्षीणता उत्पन्न होती है। इसे थैलेसेमिया[2] कहते हैं। इस आनुवंशिक रक्तक्षीणता का पता सर्वप्रथम भूमध्यसागरीय क्षेत्रों में चला जहां सदियों से मलेरिया का प्रकोप होता रहा है। मलेरिया-प्रभावित क्षेत्रों में इस पथभ्रष्ट उत्परिवर्तित जीन T का उत्पन्न होना विकास क्रिया के दौरान मलेरिया का प्रतिकार करने का एक साधन निर्माण करने जैसा ही कार्य है क्योंकि मलेरिया-प्रभावित क्षेत्रों में थैलेसेमिया से पीड़ित रहने के लाभ हैं। विषम युग्मज (Tt) में सम युग्मज (tt) की अपेक्षा विषाणु तृतीयक मलेरिया का प्रकोप होने की संभावना क्षीण रहती है। मलेरिया का जीवाणु रक्त की लाल कोशिकाओं में ही पाया जाता है तथा हीमोग्लोबिन खाकर ही वह जिंदा रहता है तथा उसका संवर्द्धन भी हीमोग्लोबिन में ही होता है। अतः इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

एक अन्य प्रकार की रक्तक्षीणता जिसे हंसिया रोग (सिकल सैल एनीमिया) कहते हैं, भी मध्य अफ्रीका के मलेरिया प्रभावित क्षेत्रों में पायी जाती है। इससे इस बात की पुष्टि हो जाती है कि मलेरिया तथा रक्तक्षीणता में परस्पर संबंध हैं। हंसिया रोग एक अन्य प्रकार के अप्रभावी परंतु उत्परिवर्तित जीन के कारण होता है। यह जीन एक असामान्य किस्म के हीमोग्लोबिन का निर्माण करता है। इस प्रकार का हीमोग्लोबिन सामान्य मात्रा से आधी आक्सीजन फेफड़ों से शरीर में पहुंचा सकता है। प्रभावी सम युग्मज AA सामान्य होते हैं, परंतु अप्रभावी सम युग्मज aa हंसिया रोग से पीड़ित होते हैं। विषम युग्मज Aa में रक्तक्षीणता का प्रभाव आधा हो जाता है। परंतु इस दुर्बलता का भी एक लाभ है। ये व्यक्ति सामान्य AA सम युग्मजों की अपेक्षा बेहतर तरीके से मलेरिया का प्रतिकार कर सकते हैं तथा ये व्यक्ति जिंदा रहते हैं। प्राकृतिक विकास के दौरान मलेरिया का सामना करने के लिए, लगता है, हीमोग्लोबिन के अणु में विशेष रूप से यह परिवर्तन हुआ है।

हंसिया रोग जिन उत्परिवर्तित जीनों के कारण उत्पन्न होता है वे जीन (a) हाल्डेन के कथन की पुष्टि करते हैं। हाल्डेन ने कहा है कि संक्रामक रोग का प्रतिरोध जटिल स्थिति के संदर्भ में ही उपयुक्त होता है तथा दूसरी स्थिति में हानिकारक हो सकता है। कुछ समय पूर्व मलेरिया-प्रभावित क्षेत्रों में रहने वाले लोग आज स्वच्छता तथा कीटनाशकों की बदौलत, अधिक सुरक्षित परिवेश में रहते हैं तथा उन्हें मलेरिया से प्रायः मुक्ति मिल चुकी है। परंतु आज भी वे उस 'a' जीन के वाहक बने हुए हैं। यह जीन मलेरिया उत्पन्न कर हानि पहुंचाने का काम

1. कूली की रक्त क्षीणता – colley's anaemia
2. थैलेसेमिया – thalassaemia

नहीं करते, परंतु रक्तक्षीणता उत्पन्न कर अपना हिस्सा वसूल कर लेते हैं। रोग उत्पन्न करने का काम करने में कोई गलती नहीं करते। अत: एक ऐसी संभावना दिखाई देती है कि जिन जीनों की वर्तमान भूमिका के बारे में हम अनभिज्ञ हैं वे जीन शायद पुरानी रोग-प्रतिकारक व्यवस्था के अवेशष हैं। ये उस समय ऐसी व्यवस्था के लिए उपयोगी थे, परंतु आज के संदर्भ में वे अप्रासांगिक हो चुके हैं।

उपर्युक्त प्रकार की जड़ता अथवा रक्तक्षीणता के अतिरिक्त अन्य किस्मों की मूढ़ता, कई रोगों, विकारों तथा असमान्यताओं के आनुवंशिक होने की बात अब ज्ञात हो चुकी है। इन रोगों में हटिंगटन का कोरिया तथा सीइजोफ्रेनिया जैसे रोग, रक्त संचरण की त्रुटियां, कुछ तरह के कैंसर तथा वृद्धावस्था में होने वाली कुछ व्याधियां शामिल हैं। परंतु अभी तक यह बात समझ में नहीं आयी है कि प्रथभ्रष्ट जीन a' की ऐसी कौन सी कार्यपद्धति है जिसके कारण ये रोग उत्पन्न होते हैं। परंतु सर आर्थिबाल्ड गैरोड के अनुसार 'चयापचय'[1] की प्रक्रिया में विद्यमान जन्मजात दोषों' के कारण ही ये उत्पन्न होते हैं। ये दोष इसलिए जन्मजात कहलाते हैं क्योंकि उत्परिवर्तित जीन अब उस व्यक्ति की चयापचय प्रक्रिया उस तरह नियंत्रित नहीं कर सकता जिस प्रकार मूल जीन यह कार्य किया करता था। यद्यपि जीनों का मूल कार्य अपनी प्रतिकृति निर्माण करना ही है तथापि वे कोशिकाओं में चल रही संश्लेषण की प्रक्रियाओं में भी महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। इन प्रक्रियाओं के दौरान विशिष्ट किस्म के चयापचयज[2] उत्पन्न होते हैं तथा एंजाइमों जैसे विशेष प्रोटीन भी उत्पन्न होते हैं। इस बारे में हम लोग अध्याय 5 में पढ़ चुके हैं। इस बात के प्रमाण भी प्राप्त कर लिए गये हैं कि ये विशिष्ट जीन प्रोटीनों के संश्लेषण से जुड़े हुए हैं। ऐसे प्रमाण जुटाने हेतु भिन्न व्यक्तियों के शरीर में उपस्थित या उत्पन्न होने वाले प्रोटीनों की संरचना में क्या अंतर है, इसका अध्ययन किया जाता है; क्योंकि एक ही जीन के भिन्न युग्म विकल्पियों द्वारा इन प्रोटीनों का संश्लेषण किया जाता है। इन जीनों में एक जीन उत्परिवर्तित जीन होता है। मूल जीन तथा उत्परिवर्तित जीन चयापचय की प्रक्रियाओं को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, इसका तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात इस बात का पता चलता है कि चयापचयजों के संश्लेषण अथवा विघटन क्रियाओं के कौन से पृथक चरण का नियंत्रण कौन सा जीन करता है। सूक्ष्म जीवाणुओं में यदि किसी उत्परिवर्तित जीन द्वारा मूल सामान्य जीन का स्थान ग्रहण किया जाता है तो आर्जिनाइन जैसे एमीनो अम्ल के संश्लेषण की एक कड़ी गायब हो जाती है। दूसरे उत्परिवर्तित जीन को मूल जीन के स्थान पर रखे जाने से दूसरी कड़ी भी गायब की जा सकती है। संश्लेषण के दौरान क्रमबद्ध तरीके से होने वाली विभिन्न क्रियाएं उत्परिवर्तित जीनों द्वारा किस प्रकार नियंत्रित होती हैं इसे इस प्रकार दर्शाया जा सकता है : "p" → "a" → "b" → "c" → "s", यहां प्रारंभिक पदार्थ से प्रथम क्रिया द्वारा पदार्थ a बनता है। परंतु यदि इस क्रिया के दौरान मूल जीन के स्थान पर उत्परिवर्तित जीन उपस्थित होगा तो यह क्रिया नहीं होगी तथा उत्परिवर्तित जीन b की उपस्थिति में a से

1. चयापचय – metabolism
2. चयापचयज – metabolites

bt उत्पन्न नहीं होगा इत्यादि। यदि किसी उत्परिवर्तित जीन की उपस्थिति में "e" से "s" बनने में बाधा उत्पन्न होती है तो "s" का संश्लेषण नहीं हो पायेगा इसके बावजूद कि इसके पूर्व की सभी क्रियाएं ठीक से संपन्न हो चुकी हैं।

इसी प्रकार, विकसित प्राणियों की चयापचय प्रक्रिया की विभिन्न कड़ियां विशिष्ट जीनों द्वारा नियंत्रित की जाती हैं। मनुष्य की चयापचय प्रक्रिया में फेनिल एलानिन जैसे मानवोपयोगी एमिनो अम्ल से विभिन्न उत्पाद a,b,c,d प्राप्त करने के लिए जीनों की मध्यस्थता से क्रियाएं होती हैं। यहां 'एक जीन-एक प्रक्रिया' का सिद्धांत लागू होता है। इस परिवर्तन के अगले चरण 'a' में टायरोसीन उत्पन्न होता है। यदि टायरोसिन उत्पन्न करने वाला जीन अपना कार्य ठीक से नहीं करता तो खून में अस्वांगीकृत फेनिल एलानिन जमा हो जाता है तथा मूत्र के साथ बड़ी मात्रा में उत्सर्जित होता है। इस कारण फेनिल किटोन्यूरिया (PKU) नामक रोग हो जाता है। इस रोग से मानसिक दुर्बलता उत्पन्न होती है। यदि किसी शिशु के जीवन के प्रारंभिक वर्षों में फेनिल एलानिन खून में जमा हो जायेगा तो उसके मस्तिष्क को गंभीर हानि पहुंच सकती है। इससे वह शिशु मंदबुद्धि रह जायेगा। इसी संश्लेषण के क्रम की किसी अगली कड़ी में यदि बाधा पड़ जाये तो (जैसे "s" की कड़ी) तो मूत्र में एक अन्य पदार्थ एकत्रित होना प्रारंभ होता है जिसके कारण मूत्र का रंग काला हो जाता है। इस विकार को एल्केप्टोनूरिया कहते हैं।

चयापचय प्रक्रिया के विभिन्न प्रक्रिया पथों को अवरुद्ध करने का काम उत्परिवर्तित जीन किस प्रकार करते हैं, यह अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। परंतु यह विश्वास किया जाता है कि उस प्रक्रिया में उत्प्रेरक के रूप में कार्य करने वाले एंजाइमों के विफल होने के कारण ही इस तरह के वंशागत प्रभाव दिखाई देते हैं। व्यापक संदर्भ में ऐसा कहना उचित होगा कि चयापचय प्रक्रिया को नियंत्रित करने के लिए जीनों द्वारा विशिष्ट एंजाइम बनाये जाते हैं। हर एंजाइम का कार्य किस प्रकार होना चाहिए, इस बात का निर्णय भी जीनों द्वारा ही किया जाता है।

फेनिलकिटोन्यूरिया तथा एल्केप्टोन्यूरिया ही ऐसे रोग नहीं हैं जो जीनों के दोषपूर्ण कार्यों से उत्पन्न होते हैं। इन रोगों में उत्पन्न चयापच्चय प्रक्रिया के दोष जन्मजात होते हैं। इसी प्रकार उत्पन्न होने वाले अन्य रोग भी ज्ञात हैं जिनमें किसी दोषपूर्ण उत्परिवर्तित जीन द्वारा किसी विशिष्ट एंजाइम की प्रकृति या स्वरूप में परिवर्तन-क्रिया प्रारंभ की जाती है। ऐसे आनुवंशिक परिणाम इसलिए उत्पन्न होते हैं कि चयापचय के किसी विशिष्ट प्रक्रिया-पथ के लिए आवश्यक एंजाइम का संश्लेषण करने में ये जीन सामान्य जीनों के समान कार्य नहीं करते। इस एंजाइम की अनुपस्थिति के कारण होने वाले परिणाम हानिकारक, घातक अथवा हानिरहित होंगे, यह इस बात पर निर्भर करता है कि यह एंजाइम किस जैव रासायनिक क्रिया में उत्प्रेरक का काम करता है और वह चयापचय के संदर्भ में कितनी महत्वपूर्ण है। मनुष्य के शरीर में एक अनोखा उत्परिवर्तन होता है जिस कारण एक ऐसा एंजाइम नहीं बन पाता जो दुग्ध शर्करा अथवा ग्लैक्टोज में उपस्थित लैक्टोज का पाचन करता है। यह रोग भी *फेनिल किटोन्यूरिया* जैसा

ही अप्रभावी जीनों द्वारा उत्पन्न होने वाला एक अन्य आनुवंशिक रोग है। जो शिशु इस रोग के लिए सम युग्मज होते हैं वे ग्लैक्टोज का पाचन नहीं कर सकते। इस प्रकार इस उत्परिवर्तित जीन के कारण दूध एक जहर बन जाता है, क्योंकि दूध में उपस्थित ग्लैक्टोज ऊतकों में जमा होने लगता है। इससे यकृत के आकार में वृद्धि होना, मोतियाबिंद होना अथवा वजन में कमी आ जाना जैसे विकार उत्पन्न हो जाते हैं। दूध के अतिरिक्त अन्य खाद्य पदार्थों में प्रायः ग्लैक्टोज नहीं पाया जाता, इसलिए इस उत्परिवर्तन के हानिकारक प्रभावों से बचने का आसान उपाय है दूध से परहेज रखना। PKU जैसे उत्परिवर्तन पर नियंत्रण पाना अधिक कठिन है।

ऐसा लग सकता है कि दूध पाचन की असमर्थता पर काबू पाना PKU पर नियंत्रण के समान आसान है। हमें बस यह करना है कि.शिशु को बचपन से ही फेनिलएलानिन की कम मात्रा वाला आहार दें। रासायनिक प्रक्रिया द्वारा फेनिलएलानिन-रहित दूध की प्रोटीन प्राप्त करना अब संभव है। पीड़ित बच्चों को इस प्रकार की प्रोटीन दी जाये तो इसका सेवन करने वाले शिशु अन्य पीड़ित बच्चों की अपेक्षा बेहतर तरीके से विकसित होंगे। परंतु इस प्रकार के इलाज के बाद भी इन बच्चों को किसी न किसी प्रकार की हानि होती रहती है। इसका अर्थ यह है कि रक्त में फेनिलएलानिन की कितनी सुरक्षित मात्रा हो सकती है, यह ज्ञात करना बहुत कठिन है। यह मात्रा एक क्रांतिक मात्रा[1] होती है; अर्थात फेनिलएलानिन की मात्रा इससे जरा भी अधिक हो जाये तो मस्तिष्क को हानि पहुंच सकती है तथा बहुत कम हो जाये तो प्रोटीन की कमी का रोग क्वाशिओरकोर[2] हो जाता है। यह स्वयं मस्तिष्क को हानि पहुंचाता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए सही मात्रा कितनी होगी, इसे ज्ञात नहीं किया जा सकता। 'किसी को बैंगन पथ्य, किसी का बैंगन बैरी' वाली कहावत यहां खरी उतरती है। महत्वपूर्ण बात तो यह ज्ञात करना है कि फेनिलएलानिन की कितनी मात्रा शिशु के लिए उचित रहेगी।

अवरुद्ध चयापचय प्रक्रिया को पुनः प्रारंभ करने हेतु उस विशिष्ट एंजाइम का संश्लेषण करना ही इस रोग का एकमेव इलाज है। लगभग दो दशकों से इन रोगों के लिए इसी तरह के उपाय किये जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी है। रसायनशास्त्रियों को प्रोटीनों का संश्लेषण करने में सफलता प्राप्त कर लेने के बाद अब उन्हें यह विश्वास हो चुका है कि वे एंजाइमों का संश्लेषण भी सफलतापूर्वक कर सकेंगे। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ था कि एंजाइम विज्ञान अर्थात् विभिन्न एंजाइमों के निर्माण का विज्ञान, आयुर्विज्ञान तथा औषधि विज्ञान को ठोस आधार प्रदान करेगा। प्रख्यात रसायन विज्ञानी लाइनस पॉलिंग ने भविष्यवाणी करते हुए कहा था — "वह दिन अब दूर नहीं जब मनुष्य एंजाइमों की कार्यविधि के बारे में पर्याप्त जानकारी हासिल कर लेगा तथा उसका ज्ञान इस दिशा में पर्याप्त सीमा तक विकसित होगा। तब इन आनुवंशिक रोगों में से अधिकांश के इलाजों के लिए कृत्रिम रूप से संश्लेषित एंजाइमों का उपयोग किया जायेगा। ये एंजाइम जैव रासायनिक क्रियाओं में उत्प्रेरकों का काम करेंगे। ये क्रियाएं शरीर में उपस्थित उत्परिवर्तित जीनों द्वारा प्रेरित नहीं की जा सकतीं या जिनमें ये जीन

1. क्रांतिक मात्रा – critical amount
2. क्वाशिओरकोर – kwashiorkor

कुछ सहायता नहीं करते।" आज इंसुलिन का उपयोग आमतौर पर मधुमेह के रोगियों के लिए इसी तरह किया जाता है। परंतु आज जिस इंसुलिन का उपयोग किया जाता है वह प्रायः सूअरों अथवा गायों से प्राप्त किया जाता है। अतः इसका उपयोग करने पर एलर्जी अथवा प्रतिपिंडों द्वारा प्रतिक्रिया होने का खतरा बना रहता है। रक्त द्वारा प्रोटीन कारक VIII को उत्पन्न न किये जाने की वजह से उत्पन्न होने वाला हीमोफिलिया नामक रोग भी आज इसी तरह के इलाज से ठीक किया जाता है। हीमोफिलिया से पीड़ित रोगियों को मानव रक्त के प्लाज्मा से बनाये गये सांद्रीकृत घटकों से प्राप्त किया गया प्रोटीन कारक-VIII दिया जाता है। इस प्रकार, यह कारक तैयार करने के लिए 20,000 रक्त दाताओं के रक्त का सांद्रण किया जाता है। अतः, इस प्रकार निर्मित कारक-VIII में वाइरसों का संदूषण होने की प्रबल संभावना होती है। इन सभी पदार्थों में यकृतशोथ उत्पन्न करनेवाले विषाणु (वाइरस) उपस्थित होते हैं। ये पदार्थ एड्स भी उत्पन्न कर सकते हैं। यह इलाज करते समय इस्तेमाल किये जाने वाला कारक-VIII यदि एड्स के विषाणुओं से संदूषित हो तो ऐसी स्थिति होगी कि ताड़ से गिरे और खजूर में अटके!

जैसा कि अध्याय-13 में बताया गया है, अब यह संभव है कि इंसुलिन तथा कारक-VIII को बनाने के लिए जैव इंजिनियरी तकनीकों का उपयोग किया जा सकेगा। ये पदार्थ आज निर्मित किये जाने वाले पदार्थों में पाये जाने वाले दूषित पदार्थों से मुक्त होंगे। परंतु अन्य वंशागत रोगों का इलाज आज भी हमारे दृष्टिपथ में नहीं है। इस तरह के कम से कम 10 प्राणघातक रोगों का पता चल चुका है। इनमें टे सैक का रोग, फाब्री, क्रैब तथा गाऊचर के रोग वंशागत रूप से प्राप्त किये गये एंजाइमों में त्रुटि होने के कारण उत्पन्न होते हैं, परंतु जो एंजाइम शरीर में उत्पन्न नहीं किये जाते उनकी पूर्ति यदि शरीर के बाहर संश्लेषित एंजाइमों द्वारा की जाती है तो जो परिणाम प्राप्त किये जाते हैं वे संतोषप्रद नहीं होते। टे सैक के रोग का ही उदाहरण लेते हैं। इस रोग के दौरान बच्चों के शरीर में लिपिड नामक वसायुक्त पदार्थ एकत्रित होता रहता है। यह पदार्थ शरीर के ऊतकों में तथा रक्त में जमा होता है। इसका पर्यवसान बच्चों की मांसपेशियों में कमजोरी उत्पन्न होने में तथा मस्तिष्क का लगातार मंदन होने में होता है। इस प्रकार एकत्रित लिपिडों की मात्रा घोलकर घटाने का काम करने वाला एंजाइम संश्लेषित किया जा चुका है, परंतु टीक लगाकर इसे शरीर में डालने पर भी वांछित परिणाम दिखाई नहीं देते। यह एंजाइम रुधिर-मस्तिष्क अवरोध को पार नहीं कर सकता। मस्तिष्क की रक्त-वाहिनियों द्वारा ऐसे कुछ पदार्थों को मस्तिष्क में प्रवेश करने से रोक दिया जाता है जो मस्तिष्क की चयापचय क्रियाओं में बाधा उत्पन्न करते हैं। अतः लिपिडों को संगृहित करने वाले रोगों के लिए जो उपाय इस समय प्रचलित हैं वे उन व्याधियों तक ही सीमित हैं जिनमें मस्तिष्क की कोशिकाएं इस प्रकार के रोगों से प्रभावित नहीं होतीं। परंतु इस प्रकार की आनुवंशिक व्याधियों का भी कोई सफल आसान इलाज उपलब्ध नहीं है। यद्यपि उत्परिवर्तित जीनों द्वारा जिन प्रोटीनों का संश्लेषण नहीं किया जा सकता उनकी संरचना ज्ञात करने के सफल प्रयास करना भी अपने आप में एक महान उपलब्धि है। परंतु उनके संश्लेषण से ही समस्या हल नहीं हो जाती। इस संश्लेषित पदार्थ को शरीर में उस स्थान पर पहुंचाना भी आवश्यक

है जहां इन सभी क्रियाओं के होने की संभावना है। इस 'सैद्धांतिक संभावना' को व्यावहारिक रूप देने के लिए वैज्ञानिकों तथा तकनीशीयनों की सेना खड़ी करनी होगी। सर मैकफलेंन बर्नेट ने इस ओर सभी का ध्यान दिलाया है और कहा है – "मेरी राय में, किसी भी सरकार को ऐसे अनुसंधान का भार उठाने की आवश्यकता महसूस नहीं होती तथा कोई भी वैज्ञानिक इस प्रकार के तकनीकी निर्देशन का दायित्व संभालने हेतु प्रेरित नहीं होता।" इसका कारण यह है कि कई प्रख्यात चिकित्सक एक नैतिक समस्या का सामना करते-करते दुविधा में पड़ गये हैं। आज जिस स्थिति से उन्हें जूझना है वह है इन बच्चों का इलाज करना जो गंभीर आनुवंशिक रोग से पीड़ित हैं। इनका इलाज भी उन्हीं बच्चों के समान किया जाना चाहिए जिन्हें मतिहीन होने के कारण जीवित नहीं रहने दिया जाता। जो हिप्पोक्रैटिक कसम खाकर कार्य प्रारंभ करते हैं वह उन्हें ऐसा काम करने से रोकती है क्योंकि इस कसम के अनुसार उन्हें किसी को भी कोई घातक दवा नहीं देनी चाहिए, इसके बावजूद कि वह व्यक्ति ऐसी दवा की आपसे मांग कर रहा हो। हिप्पोक्रैटिक परंपराओं में तर्क तथा समझदारी का युग प्रारंभ होने में अभी काफी समय लगेगा।

9

आनुवंशिकता और कल्टिजेन

आनुवंशिकता विज्ञान की एक नूतन शाखा है, परंतु फसलों तथा पालतू पशुओं के उत्पादन में जिन अनुभवमूलक पद्धतियों का उपयोग किया जाता रहा है वह व्यावहारिक आनुवंशिकी पाषाण युग जितनी पुरानी है। फसलों तथा पालतू पशुओं को सामूहिक रूप से 'कल्टिजेन' कहते हैं। नियंत्रित तरीकों से इनका प्रजनन करने से पूर्व आनुवंशिकता जैसी जटिल घटना का संपूर्ण अनुमान मनुष्य को नहीं था। फिर भी उसने इस दिशा में अपने काम को जारी रखा। उसने कुछ कामचलाऊ नियम बना लिए जिनके अनुसार वह उनका प्रजनन नियंत्रित करता रहा। इस काम के लिए उसने अपना प्राचीन ज्ञान भी इस्तेमाल किया। वह यह जानता था कि पैदा होने वाले बच्चे अपने मां-बाप के समान होते हैं, जैसा जीव वैसा शिशु, परंतु संतानों में दिखाई देने वाली यह समानता सर्वांगसमता अथवा एकरूपता नहीं होती। एक जैसी संतानों में भी पर्याप्त भिन्नता होती है। कुछ नियम बहुत बड़े या मानव के लिए अधिक उपयोगी होते हैं। आनुवंशिकता का एक मौलिक गुण यह है कि समान जीव भी एकदम एक समान नहीं होते। उनमें कुछ गौण अंतर होते हैं। इस फर्क का उपयोग प्रजनन के लिए प्रागैतिहासिक काल से किया जा रहा है। इसीलिए जानवरों तथा पेड़-पौधों की प्रजनन पद्धतियां सैद्धांतिक आनुवंशिकी की तुलना में बहुत समय पूर्व से ही प्रचलित थीं। खगोल विज्ञान में भी ऐसा ही हुआ है। न्यूटन के खगोलीय यांत्रिकी के नियम प्रकाशित किये जाने से बहुत पहले कई लोगों ने अपने अनुभवमूलक ज्ञान के आधार पर ग्रहणों का समय बता दिया था। उसी तरह मेंडेल के नियमों की खोज से हजारों वर्ष पूर्व से पशु तथा पादप प्रजनक अपना काम सफलतापूर्वक करते रहे हैं। कृत्रिम प्रजनन का प्रारंभ कृषि तथा पशुपालन के साथ ही हुआ होगा। ईसा से 4000 वर्ष पूर्व घोड़ों की उन्नत नस्ल के प्रजनन के विषय में लोग जानते थे तथा इस तरह के घोड़ों की वंशावली भी होती थी। इस बात के प्रमाण पुराने दस्तावेजों से प्राप्त किये गये हैं। बेबीलान में पायी गयी एक पट्टिका में 6000 वर्ष पूर्व के घोड़ों की वंशावली दी गयी है तथा उनमें पाये जाने वाले संभावित गुणों का उल्लेख भी किया गया है। पुराने समय के कुछ नक्काशी के नमूनों में खजूर के पेड़ों का पर-परागण[1] दिखाया गया है। मानव सभ्यता के प्रारंभ से ही व्यावहारिक अथवा विशेष स्वाद के लिए जातियों के सुधार की पद्धतियां उपयोग में लायी जाती रही हैं।

---

1. पर परागण – cross pollination

अनुभवमूलक प्रजनन पद्धतियां नवीन जातियां उत्पन्न करने के लिए तीन चीजों पर निर्भर करती हैं। प्रथम, शुद्ध वंश के प्रजनन के दौरान अकस्मात किसी नये गुण अथवा अभिलक्षण का प्रकट होना। इसे हम लोग आज उत्परिवर्तन कहते हैं। इसका एक उदाहरण 'रेक्स' नामक खरगोश की एक नयी प्रजाति का उत्पादन है। दो साधारण खरगोशों के समागम से एक ऐसी संतान पैदा हुई जिसके बाल छोटे तथा अन्य खरगोशों की अपेक्षा अधिक मुलायम थे। जिन खरगोशों की वह संतान थी वे तथा उनके पूर्वज भी साधारण किस्म के खरगोश ही थे। इन नये खरगोशों से संतान पैदा करने पर 'रैक्स' नामक नयी प्रजाति बन गयी। उनकी खालों का उपयोग फर-कोटों तथा कालरों के लिए किया जाता है। इसी तरह, मटर की सामान्य कड़ी फलियों से ही एकदम मुलायम तथा खाने के लिए बेहतर फलियों वाले मटर का विकास हुआ।

दूसरी पद्धति दो किस्मों के भिन्न गुणों को मिलाने की है। मान लीजिए हमारे पास एक काला खरगोश है जिसके बाल रेक्स प्रजाति के खरगोश के बालों जैसे मुलायम हैं तथा दूसरा खरगोश सफेद है। इन दो अभिलक्षणों को मिलाने हेतु हम उनके संकरण से संतानें उत्पन्न करेंगे। प्रथम पीढ़ी की संतानों में रेक्स या सफेद खरगोश जैसा कोई भी नहीं होगा। परंतु दूसरी पीढ़ी की कुछ संतानों में इन दोनों गुणों का सम्मिश्रण दिखाई देता है। इसी पद्धति का उपयोग गेहूं के प्रजनन के लिए बड़े पैमाने पर किया गया है। अल्बर्टा के. सांडर्स ने इसी पद्धति का उपयोग कर एक नयी किस्म उत्पन्न की है जिसमें रूसी गेहूं की पाला सहने की क्षमता तथा अंग्रेजी गेहूं की अधिक उत्पादनशीलता का संयुक्त गुण है।

तीसरी पद्धति है – कलमों द्वारा संवर्द्धन। इसी पद्धति से सेब जैसे पेड़ों का संवर्द्धन किया जाता है। बीजों से उत्पन्न किये गये पेड़ों में हर पेड़ अपने जनकों से भिन्न होता है। यदि आप एक हजार बीजों से पौधे उगाएं तो ये पौधे आगे चलकर अपने मूल वृक्ष के समान अच्छे फल नहीं देते। परंतु इन हजार पौधों में एक पौधा ऐसा भी हो सकता है जो जीनों के एक नये सम्मिश्रण के कारण संवर्द्धन के योग्य होता है। लगभग सौ वर्ष पूर्व शराब-व्यवसायी कॉक्स ने बीज से सेब का एक पौधा उगाया जिसमें आगे चलकर मनमोहक सुगंधि वाले फल लगे। इन फलों को कॉक्स के नारंगी सेब (कॉक्स x पिपिन) कहा जाता है। न्यूजीलैंड तथा आस्ट्रेलिया में सेब के इसी वृक्ष की कलमों से उत्पन्न पेड़ आज फल दे रहे हैं।

इन बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कल्टिजेनों को उत्पन्न करने वाले प्रजनकों की अनुभवमूलक पद्धतियां अकस्मात उत्पन्न हुई अपनी जाति से भिन्न, परंतु रेक्स जैसी अनुकूल प्रजाति पर अथवा एक जीन द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले गुणों को एकत्रित करने पर निर्भर करती हैं। परंतु मनुष्य के लिए आर्थिक दृष्टि से लाभदायक गुणों में एक ही जीन द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले गुणों की संख्या बहुत कम है। इनमें अधिक पैदावार तथा अधिक मात्रा में (भार की दृष्टि से) फसल देने वाले गुण प्रमुख हैं। इसी कारण मानवोपयोगी वनस्पति तथा पालतू पशुओं के लिए मामूली विधियों का उपयोग कर इन्हें बार-बार प्रजनित किया जाता है और यह कार्य तब तक जारी रखा जाता है जब तक इसमें सफलता नहीं प्राप्त होती। इसीलिए संकर मक्का तथा मेक्सिकी गेहूं की किस्में विकसित करने में इन्हीं पद्धतियों का उपयोग किया

गया है। बहुजीनी अभिलक्षणों के उपयोग के लिए अभी आनुवंशिकता की कोई व्यावहारिक विधि विकसित नहीं हुई है।

आइए, अब इस बात पर विचार करें कि यदि किसी प्रजनक को मक्का की एक ऐसी जाति का विकास करना है जिसके आनुवंशिक रूप में सभी उत्कृष्ट गुण पैदा करने वाले जीन हों तो क्या स्थिति होगी। प्रजनन विज्ञानियों ने मक्का के सभी दस गुणसूत्रों में उपस्थित जीनों के स्थान दर्शाने वाले गुणसूत्रीय तथा कोशिकीय मानचित्र तैयार करने में सफलता प्राप्त कर ली है। परंतु किसी विशिष्ट गुणसूत्र में एक विशिष्ट जीन का स्थान क्या है, यह जान लेने से उस जीन का जैविक महत्व क्या है, इसे ज्ञात करना संभव नहीं होता। परंतु यदि इन मानचित्रों में हम उन जीनों के स्थान भी निर्धारित कर दें जो उत्कृष्ट गुण निर्माण करते हैं तब भी हमारी यह जानकारी उस आदर्श आनुवंशिक रूप का निर्माण करने की दृष्टि से (जिसमें सभी उत्कृष्ट गुण उपस्थित होंगे) किसी महत्व की नहीं होगी क्योंकि ये जीन कई जातियों में बिखरे हुए हैं तथा इन्हें एक साथ लाने का कोई आसान तरीका उपलब्ध नहीं है। इस हेतु इन किस्मों का संकरण करना ही एकमेव उपाय है। इस तरीके से उत्पन्न होने वाले आनुवंशिक रूपों की संख्या इतनी विशाल होगी कि उसकी तुलना मनुष्य के आनुवंशिक ढांचों से ही की जा सकती है। इस पर पांचवें अध्याय में चर्चा हो चुकी है। एक जीन A तथा उसके युग्मविकल्पी a के कारण उत्पन्न होने वाले आनुवंशिक रूपों की संख्या चार होगी। ये रूप हैं AA, Aa aA[1] तथा aa । यदि दो जीनों से प्रारंभ करें तो उनके द्वारा उत्पन्न होनेवाले काल्पनिक रूपों की संख्या $4x4 = 4^2$ होगी। तीन जीनों से $4x4x4 = 4^3$ किस्में उत्पन्न होंगी। ऐसा ही क्रम जीनों की संख्या में वृद्धि होने पर चलता रहेगा। मान लीजिए कि मक्का के हर गुणसूत्र में उपस्थित वृद्धिकारी जीनों[2] की संख्या केवल तीन है तो ऐसे जीनों की कुल संख्या तीस होगी तथा इनसे प्राप्त किये जाने वाले आनुवंशिक रूपों की संख्या 4^{30} होगी। यह संख्या इतनी विशाल है कि यह अरबों (10^{18}) में होगी। यदि मक्का का कोई पौधा इन 30 वृद्धिकारी जीनों की उपस्थिति से विषम युग्मज है तो 4^{30} अथवा 10^{18} पौधे उगाने के बाद ही 30 वृद्धिकारी जीनों का सम युग्मज पौधा प्राप्त हो सकेगा। यदि यह भी मान लिया जाये कि इन सभी पौधे को उगाने के लिए हमारे पास पर्याप्त भूमि है तो उस खेत का क्षेत्रफल पृथ्वी के क्षेत्रफल से 2000 गुना अधिक होगा! तो भी इस पौधे को दूसरे पौधों से पृथक रूप में पहचानना संभव नहीं होगा क्योंकि इन सभी पौधों में उतने ही लाभकारी जीन उपस्थित हैं। कुछ में अप्रभावी युग्मविकल्पी होने के कारण वे विषम युग्मज होते हैं। अनेक आनुवंशिक रूपों के बाह्य रूप एक-से होंगे तथा इनमें किसी प्रकार का फर्क नहीं दिखाई देगा और यदि किसी चमत्कार के कारण आदर्श आनुवंशिक रूप उत्पन्न भी होता है तो उसे उन करोड़ों अन्य रूपों में पृथक रूप से पहचानना संभव नहीं होगा। अतः इस बात से कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि सभी वृद्धिकारी जीनों से बनने वाला आदर्श आनुवंशिक रूप अभी तक उत्पन्न नहीं किया जा सका है। जैव

---

1. Aa तथा aA के आनुवंशिक रूप समान हैं परंतु समुच्चय भिन्न हैं
2. वृद्धिकारी जीन – growth promoting gene

इंजीनियरी द्वारा ऐसा रूप प्राप्त किये जाने की संभावनों के बारे में जो प्रचार तथा हंगामा हो रहा है वह व्यर्थ है। सभी उत्कृष्ट जीनों का एक साथ पाया जाना विज्ञान कथाकारों की कल्पना तथा मनोरंजक फंतासी है। अतः आज भी प्रजनन की सफलता प्रजनक की उच्च स्तरीय क्षमता पर निर्भर करती है जिससे वह विभिन्न किस्मों में विद्यमान सूक्ष्म अंतरों को पहचानकर बेहतर गुणों का चुनाव कर सके जैसे शतरंज का खिलाड़ी कुछ अच्छी चालों का चुनाव करता है ताकि सभी उपलब्ध पर्यायों में से वह उपयुक्त पर्याय को चुन सके। उस प्रवीण शतरंज के खिलाड़ी के समान प्रजनक इस बात का कोई स्पष्टीकरण नहीं दे सकता कि उसने यह वरण (चुनाव) किस सैद्धांतिक आधार पर किया है।

कोई अनुभवी प्रजनक किसी गाय में अथवा गुलाब में कुछ ऐसे गुण देख लेता है जो किसी सैद्धांतिक प्रजनन-विज्ञानी की समझ के परे होते हैं। इस प्रकार गुणों की परख करने के लिए वर्षों का दीर्घ अध्ययन आवश्यक होता है। परंतु कुछ किसानों में यह क्षमता उत्पन्न ही नहीं होती। कुछ लोगों को इस विषय में विशेष महारत प्राप्त होती है। लीसेस्टरशायर का एक किसान, बेकवैल, ऐसा ही कुशल किसान था। उसने अठारहवीं शताब्दी में ब्रिटेन की पशु-प्रजनन पद्धतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन किये। उस समय आनुवंशिकी नामक विज्ञान अस्तित्व में नहीं था। आज के पौध-प्रजनकों में लाइसेंको ऐसा ही एक व्यावहारिक पादप प्रजनक था जिसने मेंडेल के नियमों का खंडन करते हुए शीतकालीन गेहूं की उन्नत किस्में सफलतापूर्वक तैयार कीं अथवा आभास हुआ कि वह सफल हुआ है। इस बारे में अध्याय बारह में सविस्तार चर्चा की जायेगी।

प्रजनन करते समय व्यावहारिक प्रजनक वरण (चुनाव) आदि के बारे में जो निर्णय लेते हैं वे आज भी अधिकांश प्रकरणों में अनुभवमूलक ही होते हैं। परंतु आनुवंशिकी के सिद्धांतों की सहायता से कुछ हठवादी प्रजनकों की एक प्राचीन समस्या का समाधान खोज लिया गया है। अंतःप्रजनन[1] वरदान है या वह कुछ बाधाएं उत्पन्न करता है,इसका निर्णय करने में कठिनाई हो रही थी। अब पशु तथा प्राणियों के प्रजनन विषयक हमारी जानकारी स्पष्ट हो चुकी है। विशेषतः अंतःप्रजनन तथा बहिःप्रजनन[2] की सिद्धांत विषयक जानकारी इससे प्राप्त हो चुकी है। इन्हीं दो विधियों से जीनों की अदला बदली होकर नये आनुवंशिक रूप प्राप्त होते हैं।

यह हम सभी भली-भांति जानते हैं कि अंतःप्रजनन एक ऐसी विधि है जिसमें निकट संबंधियों के समागम से संतति पैदा की जाती है। बहिःप्रजनन में संतति पैदा करने वालों में ऐसा कोई संबंध नहीं होता। परंतु अंतःप्रजनन तथा बहिःप्रजनन की कई कोटियां होती हैं। भाई और बहन का समागम अत्यधिक निकट का अंतःप्रजनन है। चचेरे या ममेरे भाई-बहनों का समागम निकट का अंतःप्रजनन कहलाता है। प्राचीनतम समय से प्रचलित कारण के अनुसार अंतःप्रजनन से उत्पन्न संतानों में निकृष्ट गुण दिखाई देते हैं। अतः सभी सभ्य देशों में अंतःप्रजनन प्रतिबंधित है। इस प्रकार की धारणा का एक जैविक आधार है। इस प्रकार उत्पन्न

1. अंतःप्रजनन – in-breeding
2. बहिःप्रजनन – out-breeding

संतानों में बहिप्रजनित संतानों की अपेक्षा ओज की कमी होती है। परंतु विभिन्न किस्मों के जीवों में इस प्रकार ओज में होने वाली कमी तथा जीवन क्षमता में होने वाला ह्रास बहुत भिन्न होता है। जई, मटर तथा सेमवर्गीय पौधों में स्व-निषेचन होता है। अतः वे 'अत्यधिक अंतप्रजनित हैं। इसके विपरीत, मक्का जैसी वनस्पतियों के संकरित पौधों का ओज या पैदावार अंतप्रजनित पौधों से अधिक होती है। प्रयोगशालाओं में चूहों की कई पीढ़ियों तक सहोदरों के अंतप्रजनन द्वारा संतानें उत्पन्न करने के बाद भी इन संतानों के ओज में कमी नहीं होती। मानवों में भी मिस्र तथा पेरू के कुछ राजघरानों में बहन तथा भाई में शादियां होती रही हैं, परंतु इसके कारण किसी प्रकार के कोई अवांछित परिणाम प्राप्त नहीं हुआ है। प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि कुछ छोटे समुदायों में अंतप्रजनन की अधिक सभावनाएं होने के कारण शहरों की अपेक्षा मतिमंद संतानों के पैदा होने की बारंबारता अधिक होती है। आज फार्म पशुओं की अच्छी नस्लें अंतप्रजनन द्वारा ही तैयार की गयी हैं। सूअरों, मवेशियों तथा घोड़ों के उत्कृष्ट गुणों वाले झुंड भी अंतप्रजनन से ही बने हैं। अंतप्रजनन संतानों के गुणों को किस प्रकार प्रभावित करता है ? इसे ज्ञात करने के जो प्रमाण उपलब्ध हैं वे बहुत ही संदिग्ध हैं तथा लोगों की इस विषय में जो धारणाएं हैं वे भी भ्रांतिपूर्ण हैं। इस शताब्दी के प्रारंभ में मेंडेल के नियमों को एक बार पुनः खोजा गया तथा इसी की बदौलत अंतप्रजनन तथा बहिप्रजनन का तुलनात्मक मूल्यांकन किया गया।

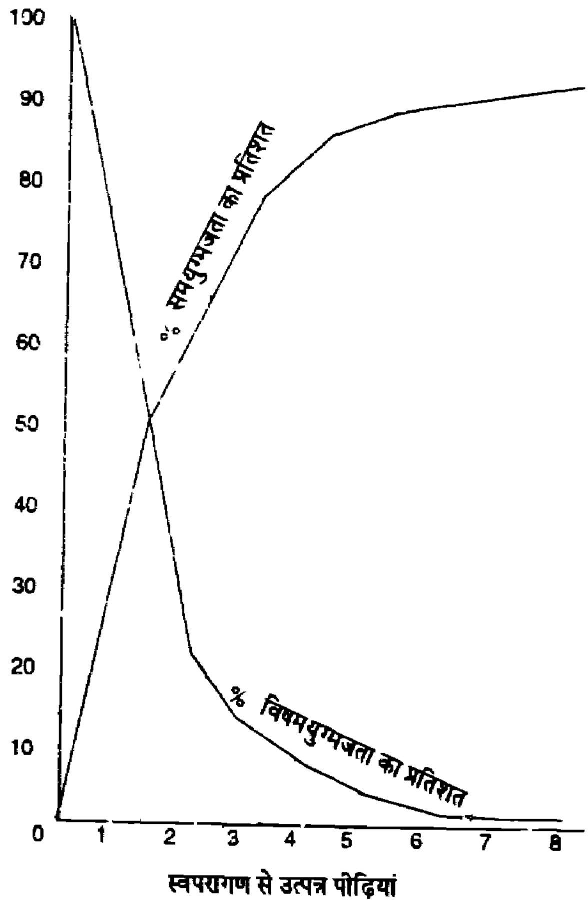
मेंडेल के नियमों के आधार पर यह दिखाया जा सकता है कि किसी समूह में उपस्थित विषम युग्मजों अथवा संकरों को किसी समुदाय से हटा देने का काम अंतप्रजनन द्वारा किया जाता है तथा इन संकरों के स्थान पर सम युग्मजों की प्रतिस्थापना भी इसी पद्धति से की जाती है। जैसा कि तीसरे अध्याय में बताया जा चुका है, ऐसे समागम से उत्पन्न मेंडेलीय अनुपात निम्नानुसार होगा :

1 (AA)	2 (Aa)	(aa)
प्रभावी सम युग्मज	विषम युग्मज अथवा संकर	अप्रभावी सम युग्मज

इस प्रकार प्रथम पीढ़ी के अंतप्रजनन से उत्पन्न आधी संतानें सम युग्मज (AA अथवा aa) होती हैं तथा शेष संकर विषम युग्मज (Aa) होती हैं।

अब प्रभावी सम युग्मज AA तथा अप्रभावी aa अंतप्रजनन द्वारा जो संतानें उत्पन्न करेंगे वे उन्हीं के आनुवंशिक रूपों (AA) तथा (aa) को लेकर ही जन्म लेंगी। परंतु विषम युग्मज (Aa) द्वारा उत्पन्न संतानों का अनुपात इस प्रकार होगा : 1 (AA) : 2 (Aa) = 1(aa) ।अंतप्रजनन की दूसरी पीढ़ी में संकरों की संख्या पहली की पीढ़ी से आधी हो जायेगी और यह क्रम चलता रहेगा। पीढ़ियों के बाद अंतप्रजनन के कारण संकरों की संख्या $1/2^n$ होगी तथा सम युग्मज (AA) तथा (aa) दोनों की संख्या $1\text{-}1/2^n$ होगी। इन अनुपातों को 100 से गुणा करने पर उनका प्रतिशत मान ज्ञात हो जायेगा। यदि प्रथम पीढ़ी में संकरों का प्रतिशत 50 है तो दूसरी पीढ़ी में यह $100/2^2 = 25$ होगा तथा तीसरी पीढ़ी में 12.5% ही

बचा रहेगा। दस पीढ़ियों के अंतःप्रजनन के कारण 0.1% संकर ही बचे रहेंगे। अतःसंकर प्रायः लुप्त हो जायेंगे: $100/2^{10} = 100/1024 = 0.1\%$। अब इस समूह में केवल दो ही विशुद्ध सम युग्मज (AA) तथा (aa) शेष रहेंगे। चित्र-38 का अवलोकन करें। ऐसा होने पर अप्रभावी जीन a जिसे संकरों में प्रभावी जीन A द्वारा प्रायः निष्प्रभ कर दिया जाता था, अब अधिकाधिक प्रकट होने लगेगा। यदि यह अप्रभावी जीन (a) जड़ता जैसे आनुवंशिक रोगों को उत्पन्न करने वाला जीन है तो (aa) जैसे सम युग्मज अप्रभावी जीनों के कारण त्रुटिपूर्ण संतानों के उत्पन्न होने की बारंबारता में वृद्धि होगी। ऐसी स्थितियों में अंतःप्रजनन हानिकारक सिद्ध होगा। परंतु यदि प्रभावी जीन (a) लाभदायक है अथवा वह किसी प्रकार की हानि उत्पन्न नहीं करता तो अंतःप्रजनन भी लाभदायक तथा हानिरहित होगा। अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि किसी समूह में कोई असाधारण अप्रभावी जीन उपस्थित है तो अंतःप्रजनन द्वारा उन दोनों जीनों को एक साथ लाने का काम किया जाता है। इस कारण इन दो जीनों द्वारा



चित्र 38 : सतत स्वपरागण के परिणामों को दर्शाने वाला आरेख (सम तथा विषम युग्मजता पर होनेवाले)।

प्रकट किये जाने वाले अच्छे या बुरे गुण भी दिखाई देने लगते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि जिस अप्रभावी जीन के बारे में हम चर्चा कर रहे हैं वह एक दुर्लभ जीन होना चाहिए। यदि यह समुदाय में पाया जाने वाला एक सामान्य जीन हो तो दो व्यक्ति जो एक-दूसरे से संबंधित नहीं हैं तथा जिनमें इस जीन का प्रभाव नहीं दिखाई दे रहा है, संकर हो सकते हैं तथा इस जीन का वहन कर सकते हैं। नीली आंखें उत्पन्न करने वाला जीन इसका एक उदाहरण है। यह जीन भूरी आंखें उत्पन्न करने वाले जीन से अधिक प्रचुर मात्रा में समुदाय में उपस्थित रहता है। ऐसी स्थिति में बहिःप्रजनन भी इस जीन को प्रकट होने से नहीं रोक सकता। जब किसी समुदाय में कोई जीन दुर्लभ होता है तब किसी संकर से संबंधित न रहने वाले किसी व्यक्ति के संकर होने की बजाय विशुद्ध प्रभावी सम युग्मज होने की संभावना अधिक रहती है। इन स्थितियों में सभी संतानें अपने विशुद्ध जनक से एक प्रभावी जीन प्राप्त करेंगी। संक्षेप में, किसी समुदाय में अप्रभावी जीन दुर्लभ होता है तब अंतःप्रजनन प्रायः ऐसे दो जीनों को एकत्र होने का अवसर प्रदान करता है तथा उन्हें प्रकट होने का अवसर प्राप्त होता है। अतः अंतःप्रजनन का आनुवंशिक परिणाम संकर संतानों की अपेक्षा सम युग्मजों की उत्पत्ति अधिक संख्या में होने में होता है।

पौधों की कई जातियों में स्वनिषेचन से ही जनन होता है। यह अंतःप्रजनन का उदाहरण है। अंतःप्रजनित संतानों के संकरण से उत्पन्न होने वाली प्रथम पीढ़ी में संकर ओज प्रकट होता है। यह संकर ओज अंतःप्रजनन के कारण ओज में होनेवाली क्षति की पूर्ति है। एक ही जाति अथवा वंश में अंतःप्रजनन के दौरान जो क्षति होती है उसके अनुसार संकर ओज का मान कम या अधिक हो सकता है, परंतु बहिःप्रजनन द्वारा की जानेवाली ओज की पूर्ति इसलिए नहीं होती कि दो भिन्न किस्मों के 'खून' के मिल जाने से कोई अनोखा परिणाम उत्पन्न हुआ है। ओज के लिए एक स्पष्ट आनुवंशिक आधार है, परंतु यह कुछ जटिल है। पौधों में यह विशाल जड़ें, सुविकसित पत्तियां जिनमें हरे रंग के पदार्थ 'क्लोरोफिल' की मात्रा अधिक होती है, सुपुष्ट तना आदि से प्रकट होता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि 'ओज' का एक जटिल आनुवंशिक आधार है जो कई प्रभावी जीनों पर निर्भर करता है। इन प्रभावी ओजदायक जीनों में दो को हम A तथा B तथा उनके अप्रभावी पर्यायों को a तथा b कहेंगे। यदि दो विशुद्ध आनुवंशिक रूप (AA, bb) से दर्शाये जाते हैं और दो अन्य विशुद्ध किस्में (aa BB) से तो दोनों में कम शक्ति होगी क्योंकि उनमें A तथा B में से एक ही प्रभावी जीन उपस्थित होता है। यदि इन दो के संकरण से हम (Aa Bb) संकर (जिसमें एक जनक से A तथा दूसरे से B प्राप्त किया है तथा इसमें अप्रभावी जीन a तथा b भी उपस्थित है) प्राप्त करते हैं तो ये दोनों अप्रभावी होने के कारण A तथा B की उपस्थिति में संतानों का विकास प्रभावित नहीं करते। अतः संकर पौधा मूल जनकों से अधिक मजबूत होता है। इस प्रकार दो भिन्न जातियों में अथवा वंशों में संकरण के कारण ओज में जो वृद्धि होती है उसे ही इससे पूर्व हमने 'संकर ओज' कहा है।

परंतु यदि हम (AA BB) जैसी दोनों प्रभावी जीन की प्रजाति से (aa bb) जैसी प्रजाति

का संकरण करें तो प्राप्त होने वाला संकर अपने जनकों से अधिक मजबूत नहीं होगा जिनमें प्रभावी जीन उपस्थित होते हैं। संतानों में यदि अपने दोनों जनकों की तुलना में अधिक प्रभावी जीन उपस्थित हों तो तभी वे अधिक मजबूत होंगी। यदि जनक (AA bb) तथा (aa BB) हों तथा संतानें (Aa Bb) हों तो उनमें प्रभावी जीनों की संख्या अधिक होती है तथा वे अधिक मजबूत होती हैं। संकर ओज केवल आनुवंशिकता के कारण उत्पन्न नहीं होता। यदि संकर में प्रभावी युग्मविकल्पियों की संख्या अधिक होगी तभी संकर ओज उत्पन्न होता है। संकर ओज का आधार है संकर के जनकों में अप्रभावी जीनों की उपस्थिति।

जीवों के नैसर्गिक समुदायों में उत्परिवर्तन की वजह से क्षीण तथा हानिकारक जीन एकत्रित हो जाते हैं। अधिकांश घटनाओं में इस तरह होने वाले उत्परिवर्तन इन जीनों के वाहकों के लिए हानिकारक होते हैं। नैसर्गिक वरण द्वारा हानिकारक तथा अर्द्धप्रभावी उत्परिवर्तित जीनों को हटा देने का काम शीघ्रतापूर्वक किया जाता है। परंतु अप्रभावी हानिकारक जीनों का भविष्य उस विशिष्ट जीव की प्रजनन जैविकी पर निर्भर करता है। जहां स्वनिषेचन अथवा निकट के संबंधियों के समागम से या अंतःप्रजनन से संतानोत्पत्ति होती है वहां अप्रभावी जीनों के कारण उत्पन्न दोष एकत्रित होते हैं तथा नैसर्गिक वरण से ये दोष उत्पत्ति के तुरंत बाद खत्म कर दिये जाते हैं। गेहूं तथा कई वनस्पतियों में अंतःप्रजनन ही संतानोत्पत्ति का एकमेव मार्ग है। ऐसे जीवों में अंतःप्रजनन इसलिए हानिकारक नहीं माना जाता कि अंतःप्रजनन से वे इतने विशुद्ध हो चुके हैं कि आगे होने वाले अंतःप्रजनन से उनके ओज में कोई परिवर्तन नहीं होगा। ऐसी घटनाओं में बहिःप्रजनन से संकर ओज प्रकट नहीं होता। इसी कारण रेस के घोड़ों की उत्कृष्ट नस्लों तथा अन्य पालतू पशुओं में अंतःप्रजनन का कोई विशेष कुप्रभाव नहीं होता। अंतः प्रजनन की प्रक्रिया से भी ये प्रायः शुद्ध वंश के हो गये हैं। चूंकि इन वंशों के प्राणियों में विशिष्ट प्रकार से प्राप्त किये गये जीनों का समूह उपस्थित होता है इसलिए बाहर के वंशों के प्राणियों का प्रजनन के लिए उपयोग करना प्रजनक के लिए लाभदायक नहीं होता। दूसरे शब्दों में जहां सगोत्र समागम एक असाधारण घटना है तथा बहिःप्रजनन ही प्रचलति पद्धति है वहां नैसर्गिक वरण के दौरान प्रभावी युग्मविकल्पियों द्वारा हानिकारक अप्रभावी जीनों को सुरक्षा प्रदान की जाती है तथा इन्हें समुदायों में एकत्रित होने का अवसर प्राप्त हो जाता है। इन स्थितियों में अंतःप्रजनन हानिकारक होगा क्योंकि इससे सुरक्षित अप्रभावी जीनों को एकत्रित किया जायेगा तथा उन्हें प्रकट होने का अवसर प्राप्त हो सकेगा।

इस प्रकार,हमें यह ज्ञात हो चुका है कि अंतःप्रजनन तथा बहिःप्रजनन से लाभ अथवा हानि हो सकती है,परंतु इसका निर्णय उस समय की स्थिति पर निर्भर करता है। प्रायः अंतःप्रजनन शुद्ध वंश की निर्मिति में वृद्धि करता है तो बहिःप्रजनन से संकरित संतानों की संख्या में वृद्धि होती है। अंतःप्रजनन के दौरान बाहरी जातियों के कारण उत्पन्न होने वाले लाभकारी उत्परिवर्तनों के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि पीढ़ी दर पीढ़ी अंतःप्रजनन ही हो रहा हो तो ऐसा होना और भी अधिक सही होगा। इस प्रकार, अप्रभावी उत्परिवर्तन प्राकृतिक वरण से प्रभावित होंगे (अंतःप्रजनन के कारण) तथा इसी के साथ-साथ समय-समय पर लाभदायी

उत्परिवर्तनों को किसी बाहरी प्रजाति से प्राप्त करना (बहिःप्रजनन) संभव होगा। संक्षेप में, अंतःप्रजनित या शुद्ध वंश से चयन कर तथा संकरण के पश्चात प्राप्त की जाने वाली संकरित किस्मों से प्रजनक जीनों को इस तरह एकत्रित कर सकता है कि वे मानव की पसंद के हों तथा उपयोगी हों।

पहले हम लोग गेहूं, जई, जौ, कपास और सेम की जातियों के पौधें तथा टमाटर जैसी स्वनिषेचित जातियों के लिए 1900 से प्रचलित विशुद्ध वंश अथवा अंतःप्रजनन पद्धतियों पर विचार करें। इस पद्धति में जमीन में पैदा होने वाली आनुवंशिक दृष्टि से भिन्न जातियों की बड़ी संख्या से कुछ बेहतर दिखाई देने वाली कई किस्मों का चयन किया जाता है। इन चयनित पौधों से उत्पन्न संतानों को पृथक रूप से विकसित किया जाता है तथा कई वर्षों तक निरीक्षण कर उनका मूल्यांकन किया जाता है। जब केवल निरीक्षणों द्वारा चयन करना असंभव दिखाई देता है तो सावधानीपूर्वक माप कर तथा व्यापक परीक्षणों के पश्चात चयनित किस्मों की उत्कृष्टता का पता लग जाता है। इसी पद्धति से इन पौधों की अधिकांश पुरानी किस्में तैयार की गयीं। परंतु इस प्रकार चयन करते समय एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है जब प्राप्त होने वाले लाभ प्रयास की तुलना में बहुत कम दिखाई देते हैं। इस स्थिति में बेहतर परिणामों के लिए सावधानीपूर्वक चयनित विशुद्ध वंश से अथवा अंतःप्रजनित जनकों से योजनाबद्ध संकरण द्वारा सुधार करवाना आवश्यक हो जाता है। इस संकरण का उद्देश्य दो अथवा अधिक भिन्न किस्मों में उपस्थित वांछित जीनों को एकत्रित कर एक ऐसी किस्म बनाना है जो पैतृक जाति से बेहतर गुणों का शुद्ध वंश निर्माण करेगी। कई पीढ़ियों तक किये गये संकरण के कारण उत्पन्न आनुवंशिक रूपों की बड़ी संख्या इसके लिए बाधा बन जाती है। 30 वृद्धिकारी जीनों द्वारा उत्पन्न असंख्य आनुवंशिक रूपों पर हम पहले विचार कर चुके हैं। इतनी बड़ी संख्या में प्राप्त होने वाले संकर आनुवंशिक रूपों का उपयोग करने के लिए भी विशिष्ट तकनीकों की आवश्यकता होती है। इन आनुवंशिक रूपों की संख्या नियंत्रित करने के लिए प्रायः दो तकनीकों का उपयोग किया जाता है। एक को वंशावली पद्धति[1] तथा दूसरी को स्थूल प्रजनन पद्धति[2] कहते हैं।

वंशावली प्रजनन का प्रारंभ दो आनुवंशिक रूपों के संकरण से होता है। इन आनुवंशिक रूपों में एक या दो वांछित अभिलक्षण ऐसे होते हैं जो केवल एक में ही दिखाई देते हैं, दूसरे में नहीं। यदि इन दो जनकों द्वारा सभी वांछित गुण प्रदान नहीं किये जाते तो एक तीसरे जनक को सम्मिलित किया जाता है तथा पूर्व के जनकों से उत्पन्न संतान का इससे संकरण किया जाता है। (F_1 पीढ़ी) बेहतर संतानों का चयन उत्तरोत्तर उत्पन्न होने वाली पीढ़ियों से किया जाता है तथा जनक संतान संबंधों का रिकार्ड रखा जाता है। F_2 पीढ़ी (F_1 पीढ़ी के दो व्यक्तियों से उत्पन्न पीढ़ी) वंशावली उपक्रम के अध्ययन के लिए प्रथम अवसर प्रदान करती है। इस पीढ़ी के दौरान प्रमुख अवांछित जीनों का वहन करनेवाले व्यक्तियों को हटाने का काम प्रमुख रूप

1. वंशावली पद्धति – pedigree procedure
2. स्थूल प्रजनन – bulk breeding method

से किया जाता है। इसकी बाद की पीढ़ियों में संकरित किस्मों के स्थान पर विशुद्ध वंश का उत्पन्न होना प्रारंभ हो जाता है। यहां प्राकृतिक रूप से स्वपरागण होता है तथा विभिन्न F_2 पौधों से उत्पन्न वंश अपने विशिष्ट गुण प्रकट करना प्रारंभ करते हैं। प्रायः हर एक उत्कृष्ट वंश से एक या दो उत्कृष्ट पौधों का चुनाव किया जाता है। F_5 पीढ़ी के उत्पन्न होने तक शुद्ध वंश का अर्थात सम युग्मजता का पर्याप्त विस्तार हो जाता है तथा चयन के लिए दो वंशों में विद्यमान फर्क को ही प्रमुख आधार बनाया जाता है। वंशावली विषयक एकत्रित की गयी जानकारी ऐसा करने में सहायक होती है। इस स्थिति के बाद हर चयनित वंश की बड़े पैमाने पर पैदावार प्राप्त की जाती है ताकि इनसे बीजों की अधिक मात्रा मिल सके। इन बीजों का उपयोग वंश के मात्रात्मक गुणों का मूल्यांकन करने में किया जाता है। इस मूल्यांकन के दौरान जिन प्लाटों में इन्हें बोया जाता है वहां की स्थितियां व्यापारिक पैदावार करते समय की स्थितियों जैसी रखी जाती है। जब इस प्रकार से चयनित जातियों की संख्या पर नियंत्रण रखना संभव हो जाता है अर्थात सांतवीं या आठवीं अर्थात F_7 या F_8 तक, तब गुणवत्ता तथा अन्य विशेषताओं का मूल्यांकन प्रारंभ किया जाता है। मूल्यांकन द्वारा अंतिम चयन करने का काम तीन चरणों में पूरा किया जाता है – (क) कई वर्षों तक किये गये निरीक्षणों के आधार पर उन त्रुटियों को पहचानना जो पूर्व में कभी प्रकट नहीं हुई हैं। (ख) वास्तविक पैदावार तथा (ग) गुणवत्ता का परीक्षण करना। पाँच वर्षों तक पांच स्थानों पर निरीक्षण करने के पश्चात अनेक प्रजनक नयी किस्म को व्यापारिक उपयोग के लिए जारी करते हैं।

स्थूल प्रजनन पद्धति वंशावली पद्धति से भिन्न होती है। इन दोनों पद्धतियों में संकरण के बाद उत्पन्न पीढ़ियों की व्यवस्था करने के लिए भिन्न-भिन्न पद्धतियों का उपयोग किया जाता है; यही इन दोनों में विद्यमान प्रमुख अंतर है। F_2 पीढ़ी को व्यापारिक पैमाने पर एक बड़े प्लाट में बोया जाता है तथा इस प्रकार तैयार फसल को काटकर जो बीज प्राप्त होते हैं उन्हें इसी तरह के प्लाट में पुनः बोकर अगली पीढ़ी के पौधे तैयार किये जाते हैं। वंश विषयक कोई जानकारी नहीं रखी जाती! इस प्रकार बड़ी मात्रा में संवर्द्धन करते समय प्राकृतिक वरण के कारण कमजोर पौधे नष्ट हो जाते हैं। दो प्रकार की अन्य कृत्रिम पद्धतियों से चयन किया जाता है – (1) जिन पौधों में अवांछित प्रमुख जीन होते हैं उन्हें नष्ट कर दिया जाता है तथा (2) सामूहिक पद्धतियों का उपयोग करना, जैसे जब कुछ ही पौधों में फसल पक गयी हो तब फसल को काट लेना जिससे कम से कम समय में पकने वाली जाति को पृथक कर उसका चयन करना संभव हो सके। आवरणों का उपयोग कर बड़े बीज भी प्राप्त किये जाते हैं। इसके बाद एक पौधे का चुनाव किया जाता है तथा उसका मूल्यांकन वंशावली पद्धति जैसी ही पद्धति से किया जाता है। इस पद्धति से प्रजनक को यह लाभ होता है कि वह कम लागत में अधिक पौधों की देखभाल कर सकता है।

किसी उत्कृष्ट किस्म में और भी अधिक गुणात्मक सुधार करने के लिए उसमें प्रायः ऐसे गुण उत्पन्न किये जाते हैं जो मूलतः उस किस्म में नहीं होते। यह लक्ष्य प्राप्त करने हेतु पितृ संकरण की तकनीक को उपयोगी पाया गया है। इसका वर्णन तीसरे अध्याय में किया जा

चुका है। उन्नत गुणों वाले किसी पौधे को किसी दाता वर्ग के पौधे से संकरित करने के पश्चात जिसमें वांछित गुण होते हैं, उत्पन्न संतानों तथा उच्च गुणों के आनुवंशिक रूप का समागम किया जाता है। इस तरह पांच अथवा छह बार के पितृ संकरण से वांछित गुणों का संप्रेषण हो जाता है तथा पौधा अपने मूल गुण भी दर्शाता है। अंतिम पितृ संकरण की पीढ़ी में स्वपरागण[1] करने से तथा इनका चयन करने से एक ऐसी किस्म प्राप्त की जाती है जो संप्रेषित जीनों का विशुद्ध वंश उत्पन्न करती है। पितृ संकरण में इस काम हेतु कम समय लगता है तथा भविष्य में होने वाले इनके परिणामों के बारे में अंदाज लगाना भी संभव होता है। इन लाभों के कारण यह एक ऐसी पद्धति बन गयी है जिसका उपयोग गेहूं, जौ, जई, सेमवर्गीय पौधे, पटसन, अल्फा तथा अन्य फसलों में गुणात्मक सुधार करने में किया जाता है।

परंतु कुछ पौधों या किस्मों के पौधों के विशुद्ध वंशक्रम संकरित पौधों से निकृष्ट गुण दर्शाते हैं। इनका अंतप्रजनन कितना निकट का है इस बात से उनके गुणों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसका एक अच्छा उदाहरण मक्का है। मक्का का संकरण मुक्त रूप से होता है तथा इसका पौधा अत्यधिक विषम युग्मज होता है। 1908 तक इसका कोई विशुद्ध वंश नहीं था। इसी वर्ष जी.एफ. शल ने विशुद्ध वंश के मक्के का विकास किया। यह सफलता उसे स्वपरागण के कारण प्राप्त हुई। परंतु स्वपरागण से उत्पन्न पौधों का ओज हरेक पीढ़ी के लिए इस्तेमाल की गयी स्वपरागण अथवा अंतप्रजनन पद्धति के कारण घटता गया। इसे चित्र -39 में दिखाया गया है। विभिन्न किस्मों में संकरण करने के पश्चात उत्पन्न पौधों के बल में वृद्धि होती है, इसे शूल ने प्रदर्शित किया। 1917 में डोनाल्ड एल. जोन्स द्वारा यही सूचना एक परिवर्तित रूप में प्रस्तुत की गयी। इस परिवर्तित पद्धति को द्वि-संकरण[2] कहा जाता है। एक-दूसरे से संबंधित न रहने वाले दो पौधों के संकरण से पौधे उत्पन्न किये जाते हैं। ये मूल पौधे भी एक बार की संकरित पीढ़ी के पौधे ही होते हैं। इसे स्पष्ट रूप से समझने के लिए, ऐसा मान लीजिए कि अंतप्रजनित A तथा B किस्म के पौधों के संकर से एक संकरित पौधा AB उत्पन्न होता है। इसी प्रकार C तथा D से उत्पन्न पौधा CD होगा। AB तथा CD से प्राप्त संकर द्वि-संकरित पौधा होगा जो एक ही संकर पौधे में चार स्वतंत्र रूप से अंतप्रजनित किस्मों के गुण प्रदर्शित करेगा। (देखें चित्र-40)।

इस तरह के संकरण से प्रति एकड़ पैदावार में अत्यधिक वृद्धि होने के अतिरिक्त इस पौधे में रोगों का प्रतिरोध करने की क्षमता, पर्यावरण के लिए अनुकूल बना लेने का गुण तथा विशिष्ट काम के लिए आवश्यक विशिष्ट गुण जैसे अभिलक्षण भी उत्पन्न हुए। इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि अमेरिका के मक्का उत्पादन क्षेत्र में संकर मक्का द्वारा क्रांति हुई है तथा दुनिया के अन्य भागों में भी ऐसा ही होने के आसार हैं। परिणामस्वरूप बीज उत्पादन क्षेत्र में अधिकाधिक (तकनीकी) विशेषज्ञता प्राप्त की गयी है। अब किसान को हर वर्ष किसी विशेषज्ञ बीज उत्पादक से संकर बीज खरीदने पड़ते हैं। अब मौसम, जमीन तथा

1. स्वपरागण – selfing
2. द्वि-सकरण – double cross



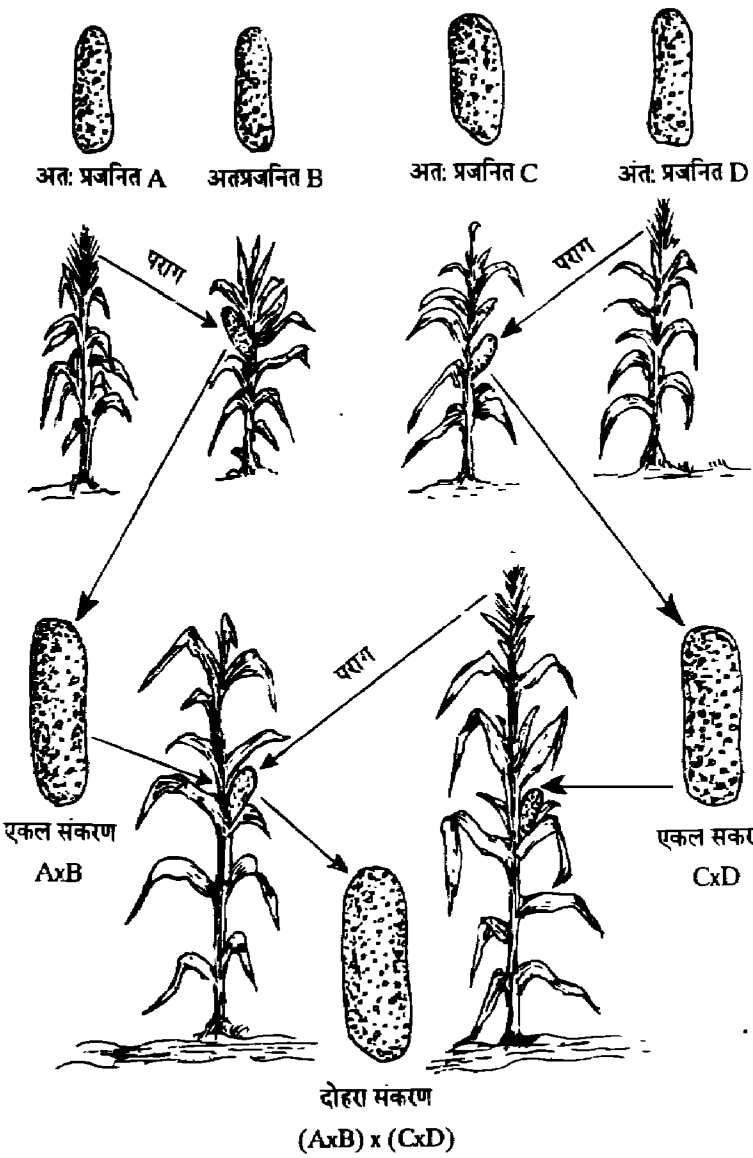
चित्र 39 : अत: प्रजनन के कारण होने वाली ओज में कमी ।

रोगों की स्थिति को ध्यान में रखकर बीज उत्पादन करने हेतु एक अत्यधिक संगठित उद्योग अमेरिका में स्थापित किया गया है ।

दूसरी लाभदायक फसलों के लिए भी संकर मक्का की तकनीक इस्तेमाल की जाने लगी है । इस तरह ज्वार, प्याज तथा चुकुंदर की कई संकर किस्में उगायी जा रही हैं । संकर मुर्गियां भी उत्पन्न की जा चुकी हैं । कुछ अंतप्रजनित मुर्गियों को पैदा करने के बाद इनका परस्पर संकरण किया जाता है तथा इसके फलस्वरूप शीघ्र बढ़ने वाला तथा समांग पक्षी प्राप्त होता है । ज्वार, प्याज, चकुंदर तथा मक्का में संकरण हेतु 'नर बंध्यता'[1] पद्धति का सहारा लिया जाता है । प्रत्येक जाति के लिए एक ऐसे वंश का विकास किया गया है जिसमें उपस्थित जीन के कारण पराग नहीं बनता । यदि इस वंश के पौधे पराग-प्रचुर वंश के पौधों के साथ बोये जाते हैं तो इन पराग-प्रचुर पौधों के कारण उनका परागण होता है (देखें चित्र- 41) । ज्वार तथा मक्का में दूसरी फसल के बीज ही फसल के रूप में वांछित हैं । संकरण के समय इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि पराग-प्रचुर जनकों में ऐसा जीन भी उपस्थित हो जो संकरण के बाद उत्पन्न होने वाली संतानों को अपनी जनन क्षमता पुनर्जीवित करने के लिए सहायक हो । इसके फलस्वरूप ये अपना बीज स्वयं उत्पन्न कर सकेंगे । पुरुष-बंध्यता पद्धति संकरण के लिए इतनी सफल सिद्ध हुई है कि गेहूं जैसी अंतप्रजनित फसल के लिए भी उसे प्रायोगिक तौर पर आजमाया जा रहा है ।

सारांश में, कोई भी प्रजनक अंतप्रजनित पौधों के चयन से अथवा उससे प्राप्त किये गये संकरित पौधों से अपने लिए उपयुक्त जीनों के विभिन्न मिश्रण उत्पन्न कर सकता है ।

1. नरबंध्यता – male sterlity

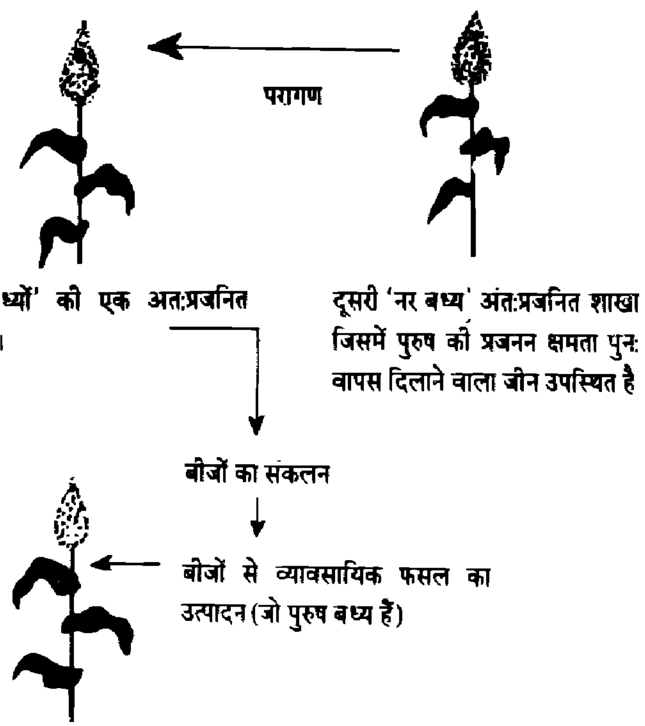


चित्र 40 : दोहरा संकरण उत्पन्न करने की पद्धति दर्शाने वाला चित्र ।

अंतप्रजनित शृंखलाओं में कई किस्मों के पौधे उत्पन्न हो सकते हैं । इनमें से कुछ प्रमुख पौधे हैं :

1. एकल संकरण A x B = AB
2. त्रि-संकरण (A x B) x C = (AB)C
3. द्वि-संकरण (A x B) x (C x D) = (AB) (CD)

उपर्युक्त पद्धतियों में से किसी एक का चयन करते हुए व्यावहारिक प्रजनकों ने वस्तुत: एक



चित्र 41 · सकर ज्वार तथा अन्य फसलों की 'नर बध्य' संकरित जातियों की पैदावार करने की सैद्धांतिक पद्धति।

असाधारण कार्य किया है। प्रतिवर्ष आधा टन मक्खन देने वाली गायें, प्रतिदिन एक अंडा देने वाली मुर्गी, रंगीन फूल देने वाले मटर के पौधे, अद्वितीय रूप से सुंदर गुलाब की मनमोहक किस्में; शिकार के लिए उपयोगी विशाल कुत्ते, अथवा स्त्रियों को प्रिय छोटे आकार के कुत्ते। आधे मिनट में आधे मील की दूरी तय करने वाले तथा अपने वजन के कारण प्रचंड भार खींचने वाले घोड़े आदि उत्पन्न किये जा चुके हैं। परंतु यह सब धीरज के साथ दीर्घ समय तक काम करने का ही फल है। जैव इंजीनियरी में किसी प्रकार का कोई राजसी तथा संक्षिप्त उपाय नहीं है जिससे कल्टिजेनों को तैयार किया जा सके।

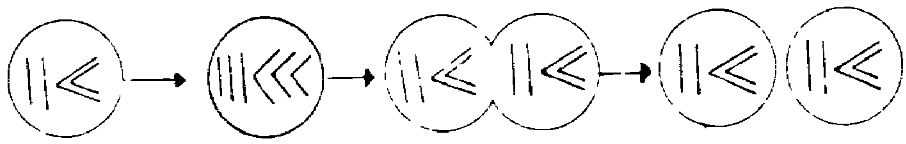
10

आनुवंशिकता और कल्टिजेन (क्रमशः)

जीवन की भारी जटिलताओं का विरोधाभास यह भी है कि कोई भी जैविक सामान्यीकरण अथवा नियम निरपवाद नहीं है। ये अपवाद ही नयी जीव वैज्ञानिक खोजों के स्रोत होते हैं। इसीलिए ब्रिटेन के आनुवंशिकी वैज्ञानिक विलियम बेटसन ने एक गंभीर चेतावनी के रूप में कहा था – "अपने अपवादों को बहुमूल्य समझो।" ऐसा ही एक बहुमूल्य अपवाद आनुवंशिकता के एक मौलिक नियम में देखा गया है। इस नियम के अनुसार किसी कायिक कोशिका में उपस्थित गुणसूत्र जोड़ियों में रहने चाहिए। हम इस बात को प्रथम अध्याय में देख चुके हैं कि जब एक सामान्य कोशिका समसूत्रण द्वारा दो अनुजात कोशिकाओं में विभाजित होती है तब विभाजन से पूर्व हर गुणसूत्र स्वयं की प्रतिकृति बना लेता हैं। इस प्रकार अपनी प्रतिकृतियां बना लेने के बाद पुराने जीन नये जीनों से पृथक होकर पैतृक कोशिकाओं की दूसरी ओर चले जाते हैं जो विभाजित होने के लिए तैयार हैं। इस प्रकार दोनों अनुजात कोशिकाओं में उपस्थित गुणसूत्रों की संख्या समान होती है और वे समतुल्य होते हैं तथा इनकी संख्या पैतृक कोशिकाओं में उपस्थित गुणसूत्रों के समान होती है। परंतु यदा-कदा जीनों की प्रतिकृतियां बन जाने के बाद कोशिका का विभाजन नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में कोशिका में दो गुणसूत्रों के स्थान पर चार गुणसूत्र उपस्थित होंगे। दूसरे शब्दों में यह कोशिका द्विगुणित अथवा द्विसूत्रधारी होने की बजाय एक परम कोशिका[1] बन जाती है तथा उसके केंद्रक में एक ही किस्म के दो गुणसूत्रों की दो जोड़ियां अथवा इसी प्रकार के चार गुणसूत्र उपस्थित रहते हैं। वस्तुतः इनसे दो सामान्य कोशिकाएं उत्पन्न होनी चाहिए थीं जिनमें गुणसूत्र की एक ही जोड़ी उपस्थित होती जिसे द्विगुणित कोशिका कहते हैं (देखें चित्र-42)। इस किस्म की परम कोशिका को चतुर्गुणित (4n) कोशिका कहते हैं। सामान्य कोशिका द्विगुणित अथवा 2n होती है। अतः विभाजन विफल होने के कारण बनने वाली कोशिका चतुर्गुणित कोशिका बन जाती है। गुणसूत्रों की प्रतिकृतियां बन जाने के बाद विभाजन नहीं हो पाता। इस प्रकार की चतुर्गुणित कोशिका कुछ समय के पश्चात स्वयं विभाजित होती है। इससे उत्पन्न अनुजात कोशिकाओं में अपनी जनक कोशिका के समान चार गुणसूत्र उपस्थित होंगे। इसके बाद इन अनुजात कोशिकाओं के विभाजन से इसी प्रकार की असंख्य कोशिकाएं उत्पन्न होंगी। एक

---

1. परम कोशिका – super cell

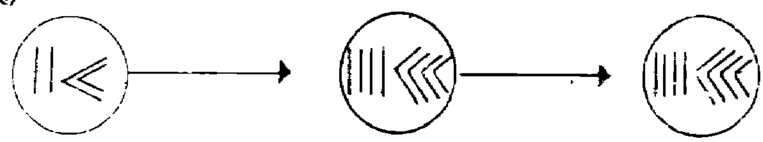


1
मूल कोशिका (सरलीकरण हेतु इसमे उपस्थित केवल दो समजात गुणसूत्रों की जोड़ियों को दर्शाया गया है)

2
हर एक गुणसूत्र मे लबाई केवल दो भागों में बटता है

3
गुणसूत्रों के आधे भाग आमने-सामने चले जाते हैं तथा उनके बीच एक दीवार बन जाती है। अब कोशिका का विभाजन प्रारंभ होता है

4.
आधे गुणसूत्र पूर्णगुणसूत्रों में विकसित होते हैं तथा इनका दो सपूर्ण गुणसूत्रों में विकास होता है। ये मूल गुणसूत्र की प्रतिकृति होते हैं



1
मूल कोशिका में उपस्थित केवल दो ही गुणसूत्रों को सरलीकरण हेतु दर्शाया गया है

2.
हर एक गुणसूत्र लंबाई के बल दो भागों में बट जाता है

3.
कोशिका विभाजन थम जाता है तथा द्विगुणित कोशिका एक चतुर्गुणित परम-कोशिका मे परिवर्तित हो जाती है। इसमें सामान्य कोशिका में उपस्थित दो गुणसूत्रों के स्थान पर चार समजात गुणसूत्र उपस्थित रहते हैं

चित्र 42

बार आकस्मिक रूप से गुणसूत्रों की संख्या बढ़ जाती है तो हर विभाजन के बाद वह दुगुनी ही बनी रहेगी।

कल्पना कीजिए कि बढ़ने वाले पौधे की किसी कोशिका में गुणसूत्रों की संख्या दुगुनी हो गयी है तथा इस कोशिका के विभाजन से एक फूल उत्पन्न होता है। इस फूल की सभी अविभाजित[1] कोशिकाएं चतुर्गुणित कोशिकाएं होंगी। इस फूल से युग्मक बनने से पूर्व सामान्यतः होने वाली अर्धसूत्रण क्रिया होगी और युग्मकों में गुणसूत्रों के दो सेट होंगे (द्विगुणित)। सामान्य में केवल एक (अगुणित) सेट होता है क्योंकि मूल कोशिका में चार गुणसूत्रों के दो सेट उपस्थित हैं। यदि इस फूल में स्वसंषेचन होता है तो दो द्विगुणित युग्मकों से एक निषेचित डिंब उत्पन्न होगा। चूंकि इसमें हर एक किस्म के चार गुणसूत्र होंगे (प्रत्येक

1. अविभाजित – unreduced

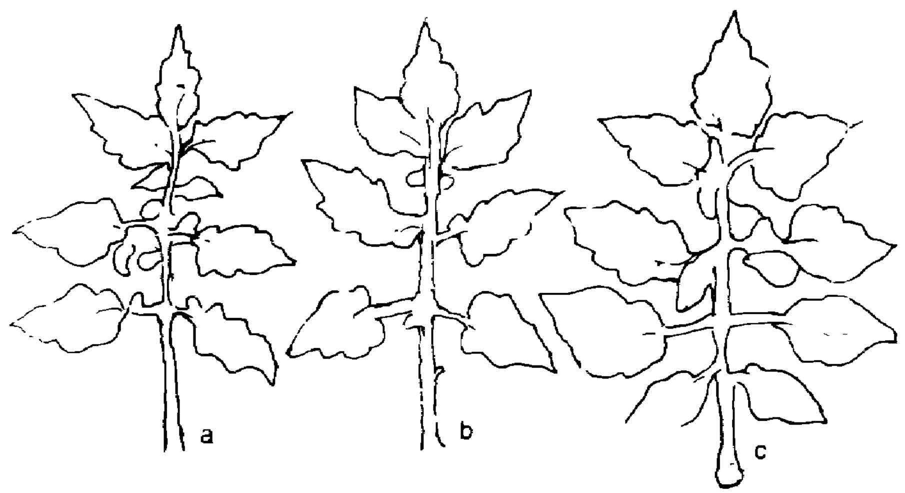
युग्मक से प्राप्त किये गये दो गुणसूत्र) यह पौधा एक चतुर्गुणित[1] पौधे के रूप में विकसित होगा। इस प्रकार एक चतुर्गुणित वंश उत्पन्न हो सकता है। जिस प्रकार किसी द्विगुणित पौधे से एक चतुर्गुणित पौधा उत्पन्न हो सकता है उसी प्रकार इस चतुर्गुणित पौधे से गुणसूत्रों के आठ सेट उत्पन्न हो सकते हैं तथा इस प्रकार एक अष्टगुणित पौधा उत्पन्न होगा। आगे होने वाली दोहरीकरण क्रिया से एक 16n वंश उत्पन्न होना संभव है। 16 दोहरीकरण की प्रायः अंतिम सीमा है।

कोशिका विभाजन की क्रिया रुक जाने से होने वाले दोहरीकरण के अतिरिक्त कोशिकाओं में उपस्थित गुणसूत्रों की संख्या दुगुनी होने का एक और तरीका है। यदि एक सामान्य द्विगुणित पौधा किसी चतुर्गुणित पौधे से संकर होता है तो द्विगुणित पौधे का (1n) युग्मक चतुर्गुणित पौधे के (2n) युग्मक से जो संताने उत्पन्न करेगा वे (3n) त्रिगुणित[2] संतानें होंगी। इन त्रिगुणित (3n) संतानों के दोहरीकरण से एक षट्‌गुणित[3] वंश का निर्माण होगा। विकल्प के रूप में ऐसा वंश एक 2 युग्मक (4n से बना) और एक 4n युग्मक (8n से बना) से संयुक्त युग्मक बनाने से भी उत्पन्न होगा। इस प्रकार हर एक किस्म के 3,4,6,8 गुणसूत्रों के सेट अस्तित्व में हो सकते हैं। इन सभी पौधों को जिनमें गुणसूत्रों के दो से अधिक सेट होते है, बहुगुणित[4] पौधे कहते हैं।

प्राणी जगत में बहुगुणित जीव विरले ही पाये जाते हैं। परंतु वनस्पति जगत में ये विरले नहीं होते। गेहूं, जई, सेब, नाशपाती, आलुबुखारा, चेरी, स्ट्रॉबेरी, टमाटर, रसभरी आदि संवर्द्धित पेड़-पौधे बहुगुणित होते हैं। गेहूं का उदाहरण लेते हैं। गेहूं का मूल पौधा एक द्विगुणित पौधा है तथा उसमें गुणसूत्रों की सात जोड़ियां हैं, अर्थात गुणसूत्रों की संख्या 14 है। एक चतुर्गुणित पौधा भी विद्यमान है जिसमें 28 गुणसूत्र उपस्थित हैं। मूल द्विगुणित (2n) पौधे के दोहरीकरण से यह पौधा उत्पन्न हुआ है। साधारण गेहूं षट्‌गुणित होता है (6n) तथा उसमें 42 गुणसूत्र होते हैं। टमाटर की भी दो अतिरिक्त किस्में हैं। सामान्य पौधा द्विगुणित होता है तथा दूसरा चतुर्गुणित होता है। चित्र-43 में एक द्विगुणित पौधे के साथ त्रिगुणित तथा चतुर्गुणित पौधे दिखाये गये हैं। इनकी तुलना करने हेतु ऐसा किया गया है।

बहुगुणितता के दो परिणाम होते हैं – (a) इससे पौधे का आकार बड़ा हो सकता है तथा इसके बल में वृद्धि हो सकती है, (b) इससे जननक्षमता में कमी आती है। आकार में होने वाली वृद्धि सार्वभौमिक वृद्धि नहीं होती, यद्यपि बहुगुणित कोशिकाओं का आकार अन्य द्विगुणित कोशिकाओं से बड़ा होता है। परंतु बहुगुणियों में जननक्षमता अनिवार्य रूप से कम होती है। इस तरह त्रिगुणित हमेशा बंध्या होते हैं। चतुर्गुणित तथा षट्‌गुणित पौधे उनके द्विगुणित संबंधियों से कम पैदावार देते हैं। त्रिगुणित पौधों में जननक्षमता का अभाव रहने का

1. चतुर्गुणित – tatraploid
2. त्रिगुणित – triploid
3. षट्‌गुणित – hexaploid
4. बहुगुणित – polyploids



चित्र 43 द्विगुणित (a) त्रिगुणित (b) तथा चतुर्गुणित (c) टमाटर के पौधों के विशिष्ट पर्ण ।

कारण यह है कि उनके केंद्रक मे उपस्थित गुणसूत्रों की संख्या विषम होने की वजह से कोशिका विभाजन से उत्पन्न होने वाले युग्मकों में गुणसूत्रों की संख्या समान नहीं हो सकती । अत: इस प्रकार उत्पन्न युग्मकों का समेकन नहीं होता और पौधे से संतानोत्पत्ति नहीं होती । परंतु प्रजनन क्षमता का अभाव लाभदायक होगा या हानिकारक यह बात फसल कौन सी है तथा उसका संवर्द्धन किस प्रकार किया जाता है, इस पर निर्भर करता है । खाने योग्य फलों में बीजों का अभाव एक बेहतर गुण माना जाता है । केले की सामान्य किस्में त्रिगुणित होती हैं । यदि शोभाकारी वृक्षों या सजावटी पेड़ों में बीज उत्पन्न न हों तो फूल लगने में देरी हो जाती है । परंतु गेहूं जैसे खाद्यान्न के लिए बीज न बनना अथवा जननक्षमता में कमी आना कभी भी पसंद नहीं किया जा सकता ।

प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होने वाले बहुगुणित पौधे स्वत:स्फूर्त रूप से पैदा होते हैं, परंतु उन्हें कृत्रिम रूप से भी पैदा किया जा सकता है । इसके लिए कोल्चीसीन जैसे बाह्य कारकों की आवश्यकता होती है । मिस्र के बादशाहों के समय से कोल्चीसीन, गाऊट के रोग के लिए एक औषधि के रूप में इस्तेमाल होता रहा था । 1937 के प्रारंभ में ओ.जे. आइग्स्ती ने इसका उपयोग गुणसूत्रों के दोहरीकरण के लिए किया । कोल्चीसीन की सहायता से आइग्स्ती द्वारा निर्मित बहुगुणितों को उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त करने की वजह से कुछ ऐसी धारणा बनी कि बहुगुणितों के निर्माण से प्रौध-प्रजनन का एक अत्यंत उन्नत मार्ग प्रशस्त होगा । दुर्भाग्यवश ऐसा न हो सका । परंतु पादप प्रजनकों के एक पुराने रहस्य को समझना इस कारण संभव हो सका । बहुगुणितता के तथ्यों को आज हम लोग समझते हैं तथा प्रजनन में गुणसूत्रों की संख्या की विशेषता क्या है इसे भी जानते हैं । परंतु ऐसी जानकारी प्राप्त कर लेने से पूर्व हेमवती आर्किड और नर्गिस जैसे आंशिक रूप से बहुगुणित फूलों की फसलों में होने वाले आकस्मिक सुधार किसी रहस्य जैसे प्रतीत होते । इस प्रकार आकस्मिक रूप से उत्पन्न हुए चतुर्गुणित,

त्रिगुणित अथवा बहुगुणित पौधों को एक सौ साल में उगाये जाने वाले छोटे द्विगुणित पौधों के स्थान पर स्थापित करने के प्रयास शोभा वृक्षों के प्रजनकों द्वारा किये गये क्योंकि इन नये वृक्षों से बड़े फूल प्राप्त होते थे। बहुगुणितता के बारे में ज्ञात तथ्यों से वे अनभिज्ञ थे तथा त्रिगुणित, चतुर्गुणित अथवा बहुगुणितों जैसे करीबी संबंधियों के प्रजनन-आचरण की भिन्नताओं को समझना उनके लिए संभव न था। गुणसूत्रों की संख्या शीघ्रतापूर्वक निर्धारित करने के लिए कुछ पद्धतियां विकसित करने के बाद तथा उसके पश्चात बहुगुणितों की प्रजनन संबंधी समस्याओं का निराकरण हो जाने से इस रहस्य का पता चल गया है तथा पादप प्रजनन में बहुगुणितों की भूमिका का मूल्यांकन अब अधिक गंभीरतापूर्वक किया जा रहा है। अब यह बात भी समझ में आ गयी है कि गेहूं, जई, कपास तंबाकू, कॉफी आदि कई महत्वपूर्ण फसलों के प्राकृतिक विकासक्रम में बहुगुणितता का महत्वपूर्ण योगदान है, परंतु किसी भी प्रजनक की दृष्टि से बहुगुणितता सभी रोगों का रामबाण इलाज नहीं है।

हाल ही में कोल्चीसीन का उपयोग कर एक नया बहुगुणित पौधा उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की गयी है। इसे 'ट्रिटिकेल' कहते हैं। यह गेहूं तथा रई (एक प्रकार का खाद्यान्न) का संकरण है। अन्य सभी कृत्रिम रूप से उत्पन्न की गयी बहुगुणित किस्में आनुवंशिक असंतुलन के कारण सर्वथा निकृष्ट स्तर की थीं। आइग्स्ती की खोज के बाद बनाये गये सैकड़ों बहुगुणितों में केवल कुछ ही ऐसे हैं जो आज भी उपयोगी दिखाई देते हैं। अधिकांश उत्परिवर्तनों के समान प्राकृतिक या कृत्रिम रूप से बनाये गये अधिकांश बहुगुणित हानिकारक प्रत्यागमन हैं। हमारे जीवन का यह एक कटु सत्य है कि जितने विविध तरीकों से चीजें उत्पन्न होती हैं उनमें से हमारे काम की अथवा हमारे लिए लाभदायक चीजों की संख्या अत्यल्प है। एक लाटरी का सही नंबर निकालने के लाखों तरीके हो सकते हैं, परंतु उनमें केवल एक ही ऐसा होता है जो आपके लिए लाभ का होगा। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि आपका नंबर अभी तक नहीं निकला है। यही बात पेड़-पौधों तथा प्राणियों के बारे में भी लागू होती है। उनके आनुवांशिक रूपों में परिवर्तन करने के लिए लाखों तरीकों की कल्पना की जा सकती है और यदि इन सभी काल्पनिक तरीकों का व्यावहारिक उपयोग कर सकते हों तो भी इनमें से बहुत कम ऐसे होंगे जो इन जातियों में किसी प्रकार का सुधार कर सकेंगे। परंतु इस तरह इन विभिन्न तरीकों का उपयोग किये जाने की संभावना नगण्य है। इन सभी संभाव्य तरीकों में लाभदायक तरीके इतने कम हैं कि उनके उपयोग से कल्टिजेनों की आनुवंशिकता में परिवर्तन करने हेतु जिन अपरिष्कृत पद्धतियों का उपयोग हम करते है उनमें कुछ सुधार होने की संभावना बहुत क्षीण है। इसलिए आइग्स्ती द्वारा कोल्चीसीन की सहायता से प्रारंभ किये गये सुधारों का नशा कुछ वर्षों के अंतराल के बाद धीरे-धीरे खत्म हो जाना अनिवार्य था। इससे परिवर्तन तथा उत्परिवर्तन की मूल सीमायें एक बार पुनः स्पष्ट हो गयीं। इससे यह पता चला कि यदि कोल्चीसीन तथा बहुगुणितता उत्पन्न करने वाले पदार्थों का उपयोग करते समय पर्याप्त सावधानी नहीं बरती गयी तो प्राप्त होने वाले पौधे निकृष्ट गुणों के होंगे और कृत्रिम पद्धति से पौधों की गुणवत्ता में सुधार करने की कोई संभावना नहीं होगी तथा ऐसी आशा करना व्यर्थ होगा।

यद्यपि बहुगुणितता के कारण बेहतर किस्में उत्पन्न किये जाने के कम उदाहरण मिलते हैं,

तथापि संकरण के साथ संयुक्त रूप से इसका उपयोग किया जाये तो बेहतर जातियां उत्पन्न करना संभव होता है। ऐसी जातियां उत्पन्न करने में सफलता भी प्राप्त की गयी है। वस्तुत: प्राकृतिक बहुगुणितता की सफलता का एक विशेष कारण है। संकरण तथा अनुक्रमण[1] द्वारा संबंधित जातियों से जीनों के नये सम्मिश्रण बनाने की प्रकृति की क्षमता ही इस बात के लिए उत्तरदायी है। इसी तरह से सामान्य गेहूं से गेहूं कि वर्तमान जातियां विकसित हुई हैं। हम इससे पहले ही जान चुके हैं कि सामान्य गेहूं एक षट्गुणित पौधा होता है तथा उसमें उपस्थित गुणसूत्रों की संख्या 42 है। इस 42 गुणसूत्री गेहूं की पांच जातियां अभी-अभी विकसित की गयी हैं। ये पांचों ही अत्यधिक उपयोगी पायी जाती हैं। 28 गुणसूत्री गेहूं तथा एक द्विगुणित जंगली घास के संकरण से उत्पन्न पौधों में दोहरीकरण से ये जातियां उत्पन्न की गयी हैं। परंतु यह मनुष्य द्वारा कोई योजना बनाकर किया गया संकरण नहीं है। यह प्रकृति में हुआ एक संकरण है क्योंकि गेहूं के साथ संकरण करने वाले पौधे को अभी-अभी पहचाना गया है तथा यह ज्ञात हो चुका है कि यह ऐजिलाप्स-ऐ-स्केरोसा जाति के एक अन्य वंश का पौधा है। इस प्रकार की जंगली घास बाल्कन देशों से अफगानिस्तान तक के सभी प्रदेशों में पायी जाती है तथा गेहूं के खेतों में उगती है। इसीलिए यह एशिया माइनर के चतुर्गुणित गेहूं के खेतों में भी दिखाई देती थी। अत: 28 गुणसूत्रीय संवर्द्धित गेहूं के साथ संकरण द्वारा एक नये किस्म का षट्गुणित गेहूं का पौधा उत्पन्न करना इसके लिए एक सहजसाध्य काम था। एक बार इस प्रकार का गेहूं उत्पन्न हो जाने के बाद मनुष्य ने इसे खेती के लिए अपनाया क्योंकि यह चतुर्गुणित गेहूं से श्रेष्ठ था। रोटी बनाने के लिए विशेष उपयोगी गेहूं का विकास इस प्रकार हुआ। मनुष्य द्वारा चतुर्गुणित गेहूं तथा खर-पतवार घास को एक साथ रहने का मौका दिया गया और बाद मे प्राकृतिक संकरण तथा बहुगुणितता ने शेष कार्य पूरा किया। मनुष्य द्वारा इससे उत्पन्न किस्मों का चयन किया गया।

इस षट्गुणित गेहूं के पौधे को एक खाद्यान्न के रूप में प्रस्थापित किये जाने के काम में मनुष्य की भूमिका केवल एक चयनकर्ता की रही है, परंतु प्रजनन विज्ञानी नयी जातियां निर्माण करने के कार्य में अधिक महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। यह सब इस शताब्दी के प्रारंभ से ही किया जाने लगा जब प्रजनन विज्ञान की नींव रखी गयी। यूरोप तथा अमेरिका का प्रारंभिक कृत्रिम प्रजनन उपक्रम केवल कृत्रिम संकरण तथा चयन से ही संबंधित था तथा इसका उद्देश्य विद्यमान जातियों के अच्छे गुणों को, जैसे आसानी से पिसे जाने वाले, मजबूत तने के तथा अधिक उपज देने वाले गुणों को एकत्रित करना था। परंतु अब अधिक उपज देने वाली उत्कृष्ट गेहूं की जातियां विकसित की जा चुकी हैं। इसलिए ऐसी जातियों को विकसित करने पर बल दिया जा रहा है जो रोग प्रतिकारक हों तथा विशेष रूप से किट्ट[2] का सफल प्रतिकार कर सकें। तनों में लगने वाला किट्ट (रतुआ) रोग फफूंदी के कारण होता है जिसे *पक्सीनिया ग्रैमिनिस* कहते हैं। यह फफूंदी दूर-दूर तक फैल जाती है तथा इसमें परिस्थिति के अनुसार अपने आप

1. अनुक्रमण – introgression.
2. किट्ट – rust

को बदल लेने की क्षमता भी होती है। अनावृष्टि तथा बाढ़ जैसी विपदाओं के अलावा यही रोग किसानों के लिए सर्वाधिक खतरा पैदा करता है। इस प्रकार के प्रजनन उपक्रमों का महत्व रॉकेफेलर प्रतिष्ठान तथा मेक्सिको की सरकार के संयुक्त तत्वावधान में गेहूं की पैदावार बढ़ाने हेतु मेक्सिको में प्रारंभ किये गये कार्यक्रमों से स्पष्ट हो जाता है। 1943 में जब इस उपक्रम का प्रारंभ हुआ तब मेक्सिको अपनी गेहूं की आवश्यकताएं गेहूं आयात कर पूरी करता था। अब हर मेक्सिकी नागरिक की गेहूं की औसत जरूरत पहले से दुगुनी हो गयी है। जनसंख्या में दो करोड़ की वृद्धि हो गयी है तथा मेक्सिको से गेहूं का निर्यात भी होता है। सर्वप्रथम तने में उत्पन्न होने वाले रतुआ रोग का प्रतिकार करने वाली जातियों के विकास पर बल दिया गया (केन्या में विकसित इस तरह की रतुआरोधी जातियों का उपयोग भी किया गया) तथा बाद में मेक्सिकी तथा बौनी जातियों के संकरण से अधिक उपज देने वाली जातियां विकसित की गयीं। सबसे पहले जापान में इस प्रकार की बौनी जातियों का विकास हुआ और बाद में पूर्वी वाशिंगटन में।

जलसिंचित क्षेत्रों में तथा उर्वरकों के उपयोग के कारण गेहूं के पौधों की ऊंचाई बढ़ जाती है। इसीलिए बौनी जातियां विकसित की गयीं। यदि गेहूं के पौधों की ऊंचाई अधिक हो तथा उसके तने कुछ कमजोर हों तो पानी तथा हवा के तीव्र बहाव में नीचे गिरकर वे अन्य पौधों के साथ उलझ जाते हैं। पड़ोसी पौधों के साथ इस तरह गिरकर उलझना 'फसल गिरना'[1] कहलाता है। जिस फसल को पानी तथा उर्वरकों की पर्याप्त मात्रा दी जाती है उनकी ऊंचाई अधिक होना एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। अधिक उपज प्राप्त करने हेतु पानी और उर्वरक देना आवश्यक होता है इसलिए फसल गिरने का एकमात्र प्रतिबंधक इलाज है बौनी जातियों की खेती करना। प्रारंभ में बौनी जाति के बीज बोने से जो पौधे उत्पन्न होंगे वे अधिक ऊंचे नहीं होंगे और फसल गिरने की घटनाएं भी सीमित हो जायेंगी। बौने पौधों की अधिक शाखाएं होती हैं तथा इतने अधिक फूल लगते हैं जिनके फलस्वरूप हर पौधे से अधिक उपज होती है। रॉकफैलर तथा मेक्सिकी गेहूं के प्रजनकों द्वारा जिस हरित क्रांति का प्रारंभ किया गया उस क्रांति का आधार मेक्सिकी गेहूं का बौना पौधा है। नार्मन बोरलॉग इस क्रांति के प्रणेता थे। गेहूं की अधिक पैदावार देने वाली जातियों पर खोज के लिए उन्हें 1970 का नोबेल शांति पुरस्कार प्रदान किया गया।

इसके बावजूद अनेक उष्णकटिबंधीय तथा उपोष्ण देशीय क्षेत्रों में आज भी गेहूं की पैदावार तने के किट्ट रोग के कारण सीमित हो जाती है। इसके अलावा रई के समान प्रतिकूल परिवेशी स्थितियों में यह अच्छी उपज नहीं देता तथा शीत हवा अथवा हल्की जमीन में तथा अधिक अम्लता में विकसित होने के लिए खुद को परिवर्तित भी नहीं कर सकता। यदि गेहूं का अधिक उपज देने का गुण रई के प्रत्येक ऋतु में जीवित रहने की क्षमता से मिलाकर कोई नयी जाति का खाद्यान्न विकसित किया जाये तो वह इन दोनों से अधिक लाभदायक होगा। गत 15 वर्षों से मेक्सिको के गेहूं-प्रजनक बोरलॉग के मार्गदर्शन में तथा मिनेसोटा विश्वविद्यालय के

---

1. फसल गिरना – lodging

सहयोग से इसी विशिष्ट जाति के निर्माण में प्रयास जारी हैं। उन्होंने रई तथा गेहूं के कृत्रिम संकरण करने में सफलता प्राप्त कर ली है। यह संकरण करते समय इस बात का उपयोग कर लिया गया है कि रई तथा गेहूं में उपस्थित मूल गुणसूत्र समूह[1] या जीवद्रव्य में सात गुणसूत्र उपस्थित रहते हैं। खेती योग्य रई का पौधा गेहूं की मूल जाति के समान ही द्विगुणित पौधा होता है तथा इसमें सात गुणसूत्रों की जोड़ियां अथवा कुल मिलाकर चौदह गुणसूत्र उपस्थित रहते हैं। यदि किसी चतुर्गुणित या 28 गुणसूत्र वाले पौधे को इस रई के द्विगुणित पौधे से संकरित किया जाता है तो जो पौधा उत्पन्न होगा वह षट्गुणिन पौधा होगा तथा उसमें 42 गुणसूत्र उपस्थित रहेंगे। परंतु यदि इस षट्गुणित पौधे का संकरण इससे किया गया तो प्रजनित पौधा एक अष्टगुणित पौधा होगा तथा इसमें 56 गुणसूत्र होंगे। अभी तक यह देखा गया है कि षट्गुणित पौधे इन अष्टगुणित पौधों से अधिक स्थायी होते हैं।

1876 में प्रथम बार रई तथा गेहूं के संकरण के लिए कुछ प्रयोग किये गये थे। परंतु इनसे प्राप्त किये गये पौधे संपूर्ण रूप से बंध्या थे। रई से प्राप्त एक अगुणित युग्मक तथा चतुर्गुणित गेहूं से प्राप्त किये गये दूसरे द्विगुणित युग्मक के समेकन से प्राप्त त्रिगुणित पौधे का बंध्या होना स्वाभाविक ही था। इस बारे में हम पढ़ चुके हैं कि एक त्रिगुणित पौधा (3n) हमेशा बंध्या ही रहेगा। 1937 में आइग्स्ती ने कोल्चीसीन की उपचार पद्धति विकसित की। इसके पश्चात बंध्यता कोई ऐसा दोष न रहा जिसे दूर नहीं किया जा सकता। इसे अंततः कोल्चीसीन के उपचार से ही दूर किया गया। उस उपचार से त्रिगुणित पौधों को षट्गुणित पौधों में बदल दिया गया (चित्र-44 देखिए)।

परंतु कोल्चीसीन से उपचार करना ही पर्याप्त नहीं होता। कोल्चीसीन से उपचार करने से पूर्व 'भ्रूण' को उचित रूप से संवर्द्धित किया जाता है। ऐसा करते समय भ्रूण को बीज से परागण के 20-21 दिनों के बाद पृथक कर उसे आगर के जेल में रखा जाता है। इस जेल में अकार्बनिक लवण,अन्य पौष्टिक तत्व तथा कभी-कभी पौध वृद्धि हार्मोन मिला दिये जाते हैं। इस संवर्द्धित भ्रूण को तब तक अंधेरे में रखा जाता है जब तक उसमें जड़ें न फूटने लगें। बाद में इसे प्रकाश में विकसित होने दिया जाता है तथा सर्वकाल प्रकाश की तीव्रता एक-सी रखी जाती है। शाखाएं फूटने के बाद पौधे को जमीन में लगा दिया जाता है तथा शाखाओं की संख्या में वृद्धि होने पर इस पौधे का उपचार कोल्चीसीन द्वारा किया जाता है (चित्र-45 का अवलोकन करें)। इसी तरह रई तथा गेहूं का संकरित पौधा उत्पन्न हुआ था। इसका नाम ट्रिटिकेल है तथा जीनों के आंतरिक संकर[2] में यह पौधा उत्पन्न हुआ है तथा इसमें दोनों जनकों के गुण होते हैं (देखें चित्र-46)।

ट्रिटिकेल प्रजनन कार्यक्रम 1959 में प्रारंभ किया गया, परंतु 1973 में प्रथम बार आनुवंशिक दृष्टि से जीने योग्य पौधा उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त हुई। इसके सबसे महत्वपूर्ण चरण का पूरा होना भी एक आकस्मिक घटना ही थी। इसकी पूर्ति किसी योजनाबद्ध

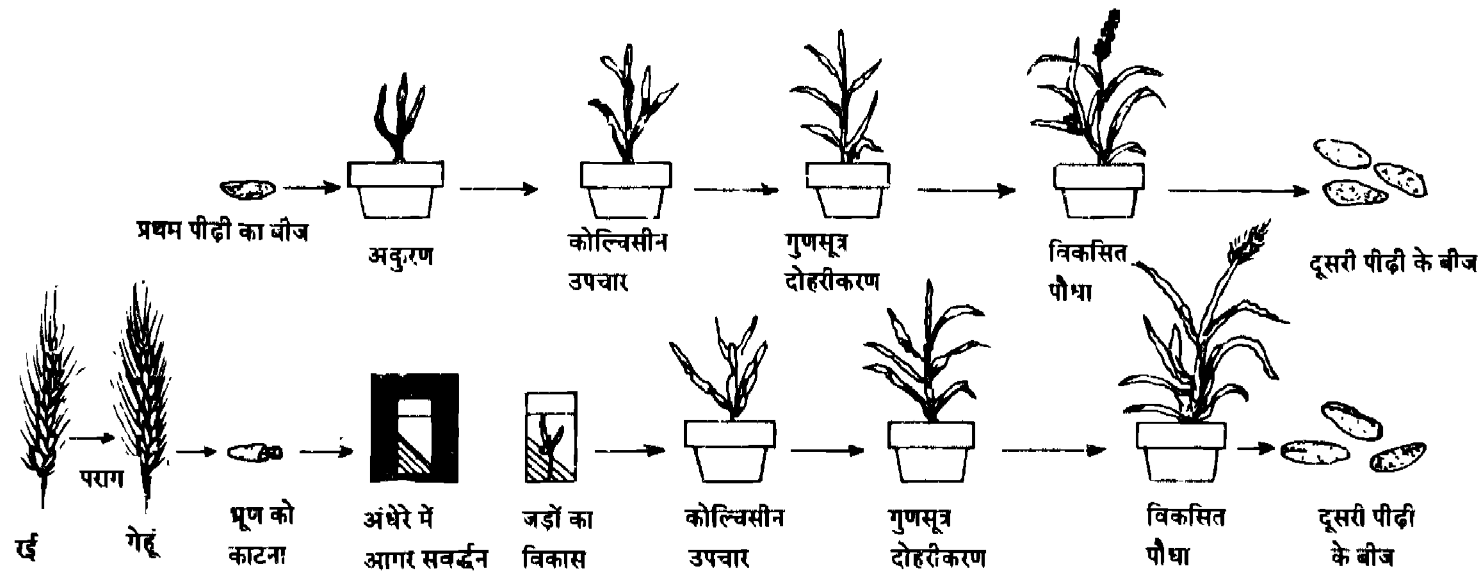
---

1. गुणसूत्र समूह – genome
2. जीनों का आंतरिक संकर – intergenic hybrid

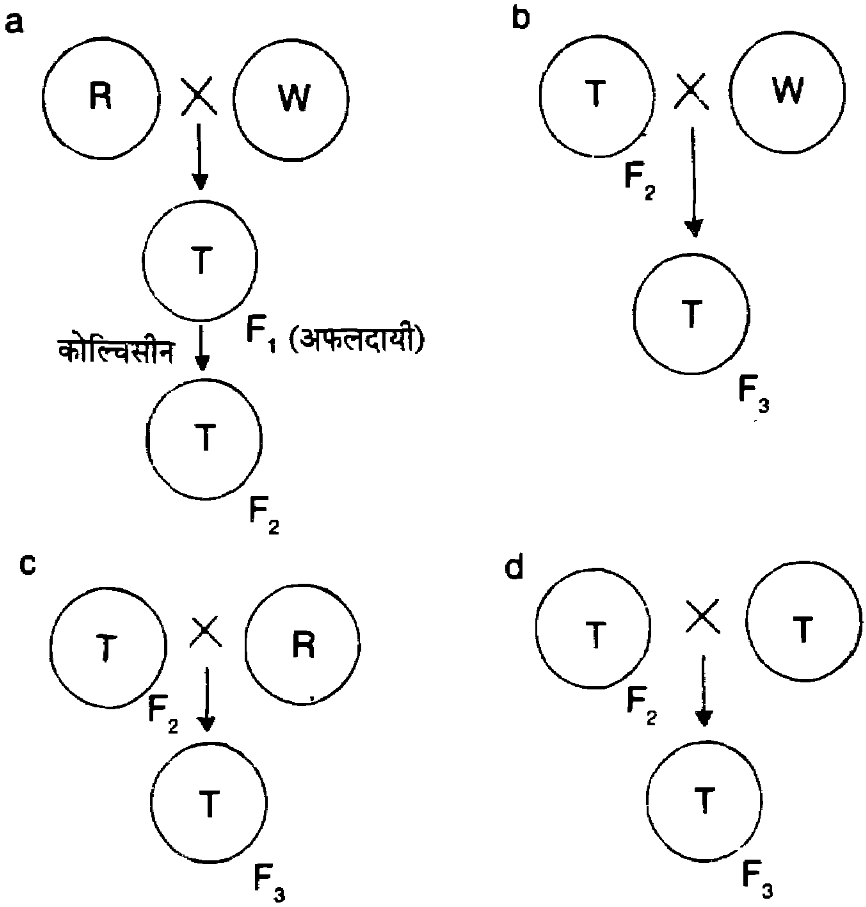


चित्र 44 : संकर की उत्पत्ति – गेहूं को (ट्रिटिकम वंश) तथा रई (सिकेल वंश) का संकर करने से एक नये किस्म की जाति पैदा की गयी है जिसमें कई तरह से पर्याप्त रूप से भिन्न अभिलक्षण उत्पन्न करना संभव है । रई के फूल से प्राप्त पराग (नर जनक) को गेहूं की वर्तिग्राही पर (मादा जनक) डालने से संकरण होता है । गेहूं के पराग उत्पन्न करने वाले भागों को पहले हटा दिया जाता है जिससे स्वपरागण नहीं हो पाता । ट्रिटिकेल के बीज गेहूं के बीज से बड़े होते हैं तथा रई के बीज से मोटे होते हैं ।

तरीके से नहीं की गयी । इस बारे में बोरलॉग ने जो इस उपक्रम के मार्गदर्शक थे, कहा है – "आनुवंशिक इंजीनियरों के अहंकार पर अंकुश लगाने के लिए प्रकृति द्वारा आगे रखा गया यह एक लंबा तथा महत्वपूर्ण कदम है ।" 1967 में मार्च माह की एक सुबह 'एक साहसिक, पथभ्रष्ट परागकण गेहूं के बाजू के प्रजनन के श्वेत से एक जननक्षम तथा मूल्यवान जैविक पदार्थ का भार वहन करते हुए रात के अंधेरे में रास्ते को पार कर वहां के एक दुखी, ऊंचे, बंध्या परंतु संभोगोत्सुक ट्रिटिकेल के पौधे पर जा गिरा तथा उसे उसने संषेचित किया ।' संयोगवश



चित्र 45 : प्रथम पीढ़ी के ट्रिटिकेल बीज बंध्य होते हैं; उनमें अंकुरण हो सकता है। ऊपर के क्रम में कोल्चिसीन एल्कोलाइड के उपचार से बंध्यता को किस प्रकार खत्म किया जाता है, इसे दर्शाया गया है। यदि इस पदार्थ को बढ़ने वाले अंकुर के सिरे पर लगा दिया जाता है तो उसका समसूत्रण थम जाता है तथा उपस्थित गुणसूत्रों का दोहरीकरण होता है। ये दोहरे गुणसूत्र फलदायी फूल उत्पन्न करते हैं जो बाद में तने पर फूलते हैं। इससे उत्पन्न बीज भी फलदायी होते हैं। कुछ राई-गेहू की संकरित जातियों के बीज अंकुरित नहीं होते। अतः भ्रूणावस्था में उपचार किया जाना आवश्यक हो जाता है ताकि प्रथम पीढ़ी के बीज उत्पन्न हों। इस तकनीक को नीचे के क्रम में दर्शाया गया है। इसमें बीजों से भ्रूण को (14 से 20 दिन के बाद) पृथक करना होता है तथा आगर माध्यम में उसका संवर्द्धन करना आवश्यक होता है। इस संवर्द्धक माध्यम को अंधेरे में रखा जाता है तथा भ्रूण के अंकुरण के पश्चात इसे सतत प्रकाश में रखा जाता है। इसके बाद अंकुरित पौधे को पास के गमले में रखकर कोल्चिसीन का उपचार किया जाता है।



चित्र 46 : ट्रिटिकेल (T) की पैदावार : इसका प्रारंभ (a) गेहू (W) तथा रई (R) के संकरण से होता है। प्रथम पीढ़ी का ट्रिटिकेल पौधा (F1) कोल्चिसीन के उपचार से फलदायी बनाया जाता है। इससे उत्पन्न बीज दूसरी पीढ़ी (F2) होती है। इस पीढ़ी से पितृसंकरण द्वारा जनकों को उत्पन्न किया जा सकता है अथवा संपूर्णतः भिन्न किस्म के गेहूं से अथवा (b, c) रई से संकरण किया जा सकता है। ट्रिटिकेल—ट्रिटिकेल सकरण (d) भी किया जाता है। गेहूं तथा रई के संकरण से प्राप्त होने वाला ट्रिटिकेल प्रारंभिक ट्रिटिकेल होता है अथवा दो ट्रिटिकेल जो गेहूं तथा रई की उन्हीं जातियों के संकरण से उत्पन्न हुए हैं, का संकरण कर प्राप्त किया गया ट्रिटिकेल भी प्रारंभिक ट्रिटिकेल कहलाता है। द्वितीयक ट्रिटिकेल दो भिन्न ट्रिटिकेलों के संकरण से अथवा किसी ट्रिटिकेल को ऐसे गेहूं अथवा रई से संकरित करने पर प्राप्त होता है जो मूल जनक नहीं होते।

हुए इस संषेचन की बदौलत एक साल बाद (दो पीढ़ियों के बाद) अनेक असाधारण आशाजनक पौधों का एक स्वतंत्र समूह निर्मित हुआ। इनकी वंशागत संरचना से उस अनिनीमान पथभ्रष्ट गेहूं के परागकण का महत्व प्रकट हुआ। उसकी ट्रिटिकेल संतति अनेक दोषों से मुक्त थी।

बौनी जाति के इस पौधे में बंध्यता का दोष हटा दिया गया था जिसके कारण ट्रिटिकल का विकास कई दशकों तक नहीं हो पाया था।

बंध्य ट्रिटिकेल का पौधा एक षट्गुणित संकर था जिसे X-308 कहा जाता था। जिस पराग से वह संषेचित हुआ था वह पराग संभवत: बौने मेक्सिकी गेहूं का पराग था। X-308 तथा उस अज्ञात बौने गेहूं की संतानों को अब आर्माडिल्लो कहते हैं। अधिक उचित चयन करने के पश्चात कई संपूर्णत: जननक्षम जातियां तैयार की गयी हैं तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इस प्रकार उनका मानकीकरण किया गया है। गेहूं की अपेक्षा इनके दो लाभ हैं। समान स्थितियों में इनकी पैदावार गेहूं से अधिक होती है। किसी प्रायोगिक कृषि क्षेत्र में ट्रिटिकेल की पैदावार 8.3 तथा 7.2 टन प्रति हेक्टेयर थी। गेहूं की तुलना में इसमें प्रोटीनों की मात्रा अधिक रहती है, परंतु गेहूं के समान यह मात्रा भी संवर्द्धन के दौरान उत्पन्न स्थिति के अनुसार परिवर्तित होती है। इन श्रेष्ठताओं के कारण ट्रिटिकेल प्रथम मानव निर्मित खाद्यान्न है जो हमारे पूर्वजों द्वारा चयनित परंपरागत खाद्यान्नों से स्पर्धा कर सकता है। इसका उत्पादन हमारी पुरानी कृषि परंपराओं से भिन्न है क्योंकि हम किसी जंगली जाति को मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं बना रहे हैं। हम एक संपूर्ण नयी जाति का विकास कर रहे हैं। यह मानना होगा कि आने वाले दशकों में ट्रिटिकेल एक महत्वपूर्ण खाद्यान्न बन जायेगा।

11

समुदाय-आनुवंशिकता

अभी तक हमने मेंडेल के नियमों का उपयोग जनकों तथा उनकी संतानों में दिखाई देने वाली समानता अथवा असमानता की खोज हेतु किया है। एक सरल प्रयोग द्वारा एक ऊंचे तथा एक बौने पौधे के संकरण से उत्पन्न पौधों में ऊंचे तथा बौने पौधों का अनुपात हमने ज्ञात किया। ये पौधे बीजों से उत्पन्न किये गये थे। यह अभ्यास व्यक्तिगत आनुवंशिकता के दायरे में आता है। समूह की आनुवंशिकता का संबंध व्यक्तिगत प्रजनन से नहीं है, परंतु व्यक्तियों के समूहों में मेंडेलवाद के कारण उत्पन्न होने वाले सांख्यिकीय प्रभावों से होता है। इससे आनुवंशिकता की घटना का एक सामूहिक अध्ययन किया जाता है।

जब आनुवंशिकता का अध्ययन किसी व्यक्ति से संबंधित न होकर किसी समूह को आधार मानकर किया जाता है तो अनेक भिन्नताएं तत्काल दिखाई पड़ती हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण अंतर यह है कि व्यक्तियों की उत्पत्ति तथा नाश होता है, परंतु समुदाय सदैव स्थिर रहता है। इसीलिए किसी समुदाय की आनुवंशिकता पीढ़ी दर पीढ़ी बदलती है अथवा नही और यदि इसमें परित्र्तन होता है तो इस परिवर्तन की गति क्या होती है, इसे ज्ञात करना उपयुक्त होता है। इसीलिए समुदाय आनुवंशिकता का संबंध जैविक क्रम विकास से होता है। यह किसी जाति के अभिलक्षणों में होने वाली संचयी परिवर्तन की प्रक्रिया है।

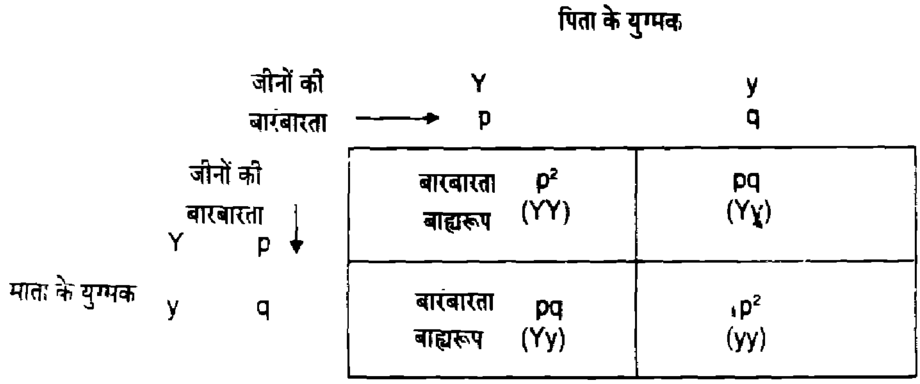
जैसा कि हम प्रथम अध्याय में देख चुके हैं, जैविक संरचना में होने वाला यह संचयी परिवर्तन जिसे विकास या उत्क्रांति कहते हैं, किस कारण होता है। इसे ज्ञात करने में डार्विन की प्राकृतिक वरण की परिकल्पना जिससे आगे चलकर 'योग्यतम की उत्तरजीविता' उत्पन्न होती है, पर्याप्त नहीं थी क्योंकि कोई जीव उत्पन्न होने के बाद ही अपना जीवन प्रारंभ करता है। उत्क्रांति के लिए कोई सैद्धांतिक कारण खोजना आवश्यक था जो इस बात पर कुछ प्रकाश डालता कि योग्यतम किस तरह पैदा हुआ था। जे.बी.एस. हाल्डेन, आर.ए. फिशर और सेवल राइट जैसे गणितीय जीवशास्त्रियों ने यही काम किया। उन्होंने मेंडेल के नियमों का उपयोग सामुदायिक समागमों के लिए करते हुए एक गणितीय सिद्धांत तैयार किया। यह प्रयास मैक्सवेल तथा बोल्टजमन द्वारा अणुओं के समूहों की गति का अध्ययन करने के बाद बनाये गये गैसों के गत्यात्मक सिद्धांत को प्रस्तुत करने के प्रयास के समान ही था। न्यूटन के नियमों के अनुसार पृथक अणुओं की गति ज्ञात कर यह सिद्धांत नहीं बनाया गया था। इसी प्रकार गणितीय जीवशास्त्रियों ने समूहों की उत्क्रांति के विषय में कई गणितीय सिद्धांत स्थापित किये

हैं। किसी समुदाय द्वारा अपनी आनुवंशिक रचना सुरक्षित रखने में किन-किन शर्तों का पालन अनिवार्य तथा पर्याप्त है, इसे हार्डी-वाइनबर्ग के नियम द्वारा दर्शाया गया है। इसी नियम से प्रारंभ किया जाये। यदि किसी समूह में क्रमिक जैव विकास नहीं होता तो इसे एक सीमाकारी घटना मानना होगा; यहां समुदाय आनुवंशिक नियंत्रण में रहता है, ऐसा कहना होगा।

हार्डी-वाइनबर्ग नियम से कुछ निष्कर्ष निकालने हेतु किसी एक विषम युग्मज ऊंचे पौधे Yy का दूसरे विषम युग्मज Yy पौधे के साथ समागम का उदाहरण लेते हैं। इसका वर्णन तीसरे अध्याय में दिया जा चुका है। YY, Yy तथा yy आनुवंशिक रूपों की संभावित अथवा बारंबारता का अनुपात 1/4, 2/4, 1/4 होगा; तथा इन सभी का योगफल 1 होगा। यह देखा जा सकता है कि Y तथा y विकल्पों की संभाविता अथवा बारंबारता 1/2 है। यहां चार किस्मों के युग्मविकल्पी उपस्थित हैं जिनमें दो Y तथा दो y हैं तथा इनसे उत्पन्न होने वाले तीन आनुवंशिक रूपों YY, Yy तथा yy की संभाविता तथा बारंबारता का मान $(1/2)^2$, 2(1/2). (1/2) तथा $(1/2)^2$ होगा। एक व्यापक सिद्धांत का यह एक विशिष्ट उदाहरण है। इस उदाहरण में जीनों की बारंबारता का मान एक-सा है; परंतु यह मान भिन्न होने पर भी इस सिद्धांत का पालन किया जाता है। ऐसा मानिए कि Y का मान 1/2 की बजाय P है तथा y का q है तो आनुवंशिक रूपों YY, Yy तथा yy की बारंबारता का मान p^2, 2 pq तथा q^2 होगा। इनका योगफल $p^2 + 2pq + q^2 = (p+q)^2 = 1$ होगा। यह अपेक्षाकृत ही है। यही हार्डी-वाइनबर्ग का प्रसिद्ध नियम है जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है।

इस प्रमेय को समझने हेतु या सिद्ध करने हेतु N व्यक्तियों के एक समूह से प्रारंभ करते हैं। मान लीजिए कि इस समूह में केवल दो युग्मविकल्पी जीन Y तथा y उपस्थित हैं। ऐसा समूह तीन आनुवंशिक रूपों का मिश्रण होगा तथा ये आनुवंशिक रूप YY, Yy तथा yy होंगे। YY प्रबल व्यक्तियों की संख्या D से Yy विषम युग्मजों की H से तथा अप्रबल yy की R से दर्शायी जाये तो $D + H + R = N$ होगा; जो समुदाय की कुल संख्या होगी। YY से उत्पन्न होने वाले युग्मकों में केवल Y तथा yy से उत्पन्न युग्मकों में आधे Y तथा शेष आधे y होंगे। ये सभी 2N युग्मक उस समुदाय का सामूहिक जीन कोष निर्माण करते हैं। इस कोष के 2N युग्मकों में (2D + H) Y जीनों का वहन करेंगे तथा (2R + H) में y जीन उपस्थित होगा। अतः Y जीन की बारंबारता अथवा संभाविता p का मान 2D + H/N होगा तथा दूसरे युग्मविकल्पी y की बारंबारता अथवा संभाविता का मान 2R + H/N होगा जो q से दर्शाया जाता है। अब तीनों आनुवंशिक रूपों की बारंबारता अगली पीढ़ी में क्या होगी इसे ज्ञात किया जा सकता है। इस हेतु अध्याय तीन में दी गयी चारखाना पद्धति का उपयोग किया जायेगा।

यह बात समझना आसान है कि इस समुदाय के व्यक्तियों में होने वाले याहच्छिक समागम तथा इस प्रकार इन सहवासी व्यक्तियों द्वारा प्रजनित युग्मकों के याहच्छिक समेकन का पर्यवसान इस कोश में उपस्थित युग्मकों के संपूर्ण याहच्छित समेकन के बराबर होगा। यदि युग्मविकल्पी Y की बारंबारता p है तथा y की q और यदि $p + q = 1$ है जो YY आनुवंशिक



चित्र 47

रूप की p^2, Yy की $pq + qp$ तथा yy की q^2 होगी । चित्र-47 का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट दिखाई देगा। अगली पीढ़ी में इन तीनों आनुवंशिक रूपों YY, Yy तथा yy की बारंबारता याहच्छिक समागम के कारण p^2, $2pq$ q^2 होगी ।

अगली पीढ़ी में युग्मविकल्पी जीन Y की बारंबारता प्रबल YY की बारंबारता तथा विषम युग्मज Yy की बारंबारता की आधी का योगफल होगी । अतः उसका मान $p^2 + 1/2 (2pq) = p(p+q) = p$ होगा, क्योंकि $p+q=1$ होता है। इसी प्रकार अप्रबल युग्मविकल्पी जीन y की बारंबारता $1/2(2pq) + q^2 = q(p+q) = q$ होगी। yy की बारंबारता q^2 होगी, YY की P^2 तथा Yy की 2pq होगी । इसका अर्थ यह है कि समुदाय में याहच्छिक समागम के कारण साम्यावस्था प्राप्त हो जाती है । साम्यावस्था का अर्थ यह है कि समुदाय में उपस्थित आनुवंशिक रूपों के अनुपात में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक कुछ परिवर्तन नहीं होता । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीनों की बारंबारता में परिवर्तन नहीं होता । साम्यावस्था अन्य कई कारणों से भी प्राप्त हो सकती है, परंतु याहच्छिक समागम के कारण उत्पन्न होने वाली साम्यावस्था सबसे सरल है । इसे हार्डी-वाइनबर्ग का परिरक्षण नियम कहते हैं । 1908 में दो गणितज्ञों – जी.एच. हार्डी तथा डब्ल्यू. वाइनबर्ग ने इस नियम की स्वतंत्रतापूर्वक खोज की ।

हार्डी-वाइनबर्ग नियम वस्तुतः काफी तर्कसंगत है क्योंकि प्रारंभ में किसी समूह में साम्यावस्था के लिए आवश्यक अनुपात न भी हो तो याहच्छिक समागम से उत्पन्न प्रथम पीढ़ी में वह प्राप्त कर लिया जाता है । ऐसा मान लीजिए कि तीन आनुवंशिक रूपों (d, h, r) का प्रारंभिक आनुपात 0.1, 0.3 तथा 0.6 है। अतः जीनों का अनुपात क्रमशः $p = 0.1 + 1/2(0.3) = 0.25$ तथा $q = 0.6 + 1/2(0.3) = 0.75$ होगा । आगामी पीढ़ी में आनुवंशिक रूपों का अनुपात $p^2 = 0.0625$, $2pq = 0.375$ तथा $q^2 = 0.5625$ होगा । यही अनुपात

आगे आने वाली सभी पीढ़ियों में तब तक बना रहेगा जब तक याहच्छिक समागम जारी रहता है। वस्तुतः यदि सभी समूहों में जीनों की बारंबारता का मान समान हो तो उनके प्रारंभिक आनुवंशिक रूपों के अनुपात कुछ भी क्यों न हों याहच्छिक समागम के बाद वे एक-सी साम्यावस्था प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार दोनों समूहों (0.1, 0.2, 0.6) (0.2, 0.3, 0.6), (0.2, 0.1, 0.7) में यदि जीनों की बारंबारता समान होती है जो p तथा q अर्थात 0.25, 0.75 होती है तो यह मान याहच्छिक समागम से उत्पन्न अगली पीढ़ी में मान (0.0625, 0.375, 0.5625) हो जायेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी समूह में दो युग्मविकल्पी अथवा पर्यायी जीन Y तथा y उपस्थित हों तथा इनके आनुवंशिक रूपों की प्रारंभिक बारबारता (d, h, r) हो तो वह समूह (p2, 2pq, q2) की साम्यावस्था केवल एक ही पीढ़ी के बाद स्थायी रूप से प्राप्त कर लेगा। जहां याहच्छिक समागम प्रचलित है, $p = d + 1/2h$ तथा $q = 1/2h + r$ हार्डी-वाइनबर्ग परिरक्षण नियम को निम्नानुसार एक प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

$$(Y+y)^2 = YY = 2Yy \quad yy \qquad (1)$$
$$p \quad q \qquad p2 \quad 2pq \quad q^2$$

इस प्रतीकात्मक प्रस्तुति का एक लाभ यह है कि इसके द्वारा ऐसे समूहों में जहां अनेक युग्मविकल्पी उपस्थित होते हैं, साम्यावस्था नियम का विस्तार किया जा सकता है। (उदाहरणार्थ, तीन युग्मविकल्पीयों Y, y, y जिनकी बारंबारता p, q तथा r है तथा जहां $(P + q + r = 1)$ के छह आनुवंशिक रूप जो एक याहच्छिक समागम करनेवाली बड़ी संख्या में उपस्थित हैं निम्नानुसार दर्शाये जा सकते हैं)।

$$(Y, y, Y')^2 + YY + 2\,Yy' + 2\,Yy' + yy + y'y' + y'y' \qquad (2)$$
$$(P+q+r)^2 = p^2 + 2pq + 2pr + q^2 + 2qr + r^2$$

यह दर्शाया जा सकता है कि आनुवंशिक रूपों की बारंबारता में साम्यावस्था स्थापित हो चुकी है। जीनों की बारंबारता पीढ़ी दर पीढ़ी बनी रहती है। अतः अगली पीढ़ी में Y युग्मकों की संख्या $p^2 + 1/2\ (2pq) + 1/2\ (2pr) = p^2 + pq + pr = p\ (p + q + r) = p$ होगी। इसी प्रकार y तथा y' युग्मकों की संख्या भी q तथा r के बराबर होगी। यदि प्रारंभ में किसी समूह में साम्यावस्था नहीं है तो (2) के अनुसार याहच्छिक समागम से उत्पन्न एक पीढ़ी के बाद वह स्थापित हो जायेगी।

अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी जीन के दो युग्मविकल्पी जीन हों या दो से अधिक हों तो हार्डी-वाइनबर्ग नियम के अनुसार कोई भी समूह जीनों तथा आनुवंशिक रूपों की बारंबारता के संदर्भ में स्थायी रहता है; बशर्ते याहच्छिक समागम के दौरान किसी तरह का स्थानांतरण, चयन अथवा उत्परिवर्तन नहीं होता है। तत्पश्चात समूह के आनुवंशिक गुणों में आगे की पीढ़ियों में किसी प्रकार का परिवर्तन होने की अंतर्निहित प्रवृत्ति नहीं होगी और जैविक क्रम विकास भी थम जायेगा। परंतु प्राकृतिक परिवेश में अन्य प्रभाव उत्पन्न होते रहते हैं। वस्तुतः जीनों में पीढ़ी दर पीढ़ी परिवर्तन होता है तथा आनुवंशिक रूपों की बारंबारता भी

अनेक कारणों से बदलती रहती है । इनमें चार किस्मों के प्रभाव प्रमुख हैं । जीनों के संप्रेषण के दौरान उनमें प्रायः किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता । परंतु यदा-कदा किसी असाधारण तथा सूक्ष्म अनियंत्रित रासायनिक क्रिया के कारण जीन स्वतः कुछ बदल जाते हैं; अथवा जीनों में उत्परिवर्तन होता है । यह पहला प्रभाव है । बाहर से आने वाले आगंतुकों द्वारा आनुवंशिकता में भिन्नता उत्पन्न होने के कारण दूसरा प्रभाव उत्पन्न होता है । यह व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन के कारण उत्पन्न होता है । यदि कोई जीन अपना स्थान परिवर्तित नहीं करता अथवा उसमें कोई उत्परिवर्तन भी नहीं होता तो भी उसकी बारंबारता में वृद्धि या कमी होती है । भिन्न मृत्यु दर, समागम की भिन्नता, सापेक्ष सुजननता तथा स्थानांतरण परिपक्वता की स्थिति कम या अधिक समय में प्राप्त होना, यही इसके कारण हैं । चौथा कारण है याहच्छिक घट-बढ़ । इसे आनुवंशिक विचलन[1] भी कहते हैं । ये नमूना लेते समय होने वाली अप्रत्याशित घटनाओं के कारण उत्पन्न होते हैं । क्योंकि प्रत्यक्ष व्यवहार में वे युग्मक जो अगली पीढ़ी को जीन संप्रेषित करते हैं, वे पितर पीढ़ी तक केवल कुछ ही जीनों का वहन करते हैं । अतः जीनों की बारंबारता में अंतर उत्पन्न हो जाता है बशर्ते नमूना काफी विशाल न हो ।

फिशर, हाल्डेन तथा अन्य लोगों ने उपर्युक्त किस्मों के विभिन्न प्रकार के दबावों का प्रभाव गणितीय पद्धति से ज्ञात किया है । उदाहरण के लिए, वरण के परिणामों पर गौर कीजिए । वरण वह क्षमता है जो समुदाय के व्यक्तियों में अगली पीढ़ी का प्रजनन करने की क्षमता से संबंधित है । यदि इस क्षमता का संबंध किसी जीन की अनुपस्थिति या उपस्थिति अथवा उस व्यक्ति के आनुवंश रूप में हो तब उस जीन पर वरण का प्रभाव पड़ता है । अतः संतानों में इस जीन की बारंबारता पितरों में दिखाई देने वाली बारबारता से भिन्न होती है क्योंकि भिन्न आनुवंशिक रूपों द्वारा अगली पीढ़ी में संप्रेषित जीनों की संख्या में अंतर होता है । इसी कारण वरण की वजह से जीनों की बारंबारता परिवर्तित होती है और इसके फलस्वरूप आनुवंशिक रूपो की बारबारता में भी फर्क आ जाता है ।

अपनी जाति उत्पन्न करने की क्षमता को नापने का एक अच्छा तरीका हाल्डेन ने खोज लिया है । इससे वरण के कारण पड़ने वाला प्रभाव भी ज्ञात किया जाता है । मान लीजिए कि जीन y का वरण नहीं किया जाता । ऐसी स्थिति में yy आनुवंशिक रूप के वरण में पक्षपात होगा या Yy तथा yy दोनों आनुवंशिक रूपों के वरण भेदभावपूर्ण होंगे, क्योंकि ये दोनों y का वहन करते हैं । यदि किसी अप्रभावित आनुवंशिक रूप का क्षमता-गुणांक[2] 1 है तो जिसके साथ भेदभाव किया गया है उसका गुणांक 1-s माना जा सकता है । यहां s एक धन मूलभिन्न है । उदाहरण को आसान बनाने हेतु यह मान लिया जाये कि जिस आनुवंशिक रूप के साथ भेदभाव किया गया है वह एक ही आनुवंशिक रूप yy है । अतः आनुवंशिक रूपों की प्रारंभिक बारंबारता तथा संभाविता और अगली पीढ़ी उत्पन्न करने की क्षमता निम्नानुसार होगी :

---

1. आनुवंशिक विचलन – genetic drift

आनुवंशिक रूप	YY	Yy	yy
प्रारंभिक बारंबारता	p^2	2pq	q^2
क्षमता का गुणांक	1	1	(1-s)

इसके परिणामस्वरूप अगली पीढ़ी के तीनों आनुवंशिक रूपों की बारंबारता का अनुपात $p^2 : 2pq : q^2(1\text{-}s)$ होगा क्योंकि हर अनुपात पहले के आनुवंशिक रूप की बारंबारता तथा क्षमता गुणांक का गुणनफल होता है। इन अनुपातों को तदनुरूपी बारंबारताओं में परिवर्तित करने हेतु उन्हें एक यथार्थीकरण कारक से गुणा करना होगा ताकि सभी बारंबारताओं का योगफल 1 हो। यह कारक $1/1\text{-}sq^2$ है। अतः दो पीढ़ियों के आनुवंशिक रूपों की बारंबारता निम्नानुसार होगी :

	YY	Yy	yy	कुल योग
प्रारंभिक आनुवंशिक रूपों की बारंबारता	p^2	2pq	q^2	1
अगली पीढ़ी में वरण के बाद की पीढ़ी की बारंबारता	$\frac{q^2}{1\text{-}sq^2}$	$\frac{2pq}{1\text{-}sq^2}$	$\frac{q^2\text{-}(1\text{-}s)}{1\text{-}sq^2}$	1

विभिन्न प्रभावों पर विचार करने के पश्चात अगली पीढ़ी में उत्पन्न होने वाले आनुवंशिक रूपों की संभावित संख्या ज्ञात करने की यह एक विशेष पद्धति है। हमने इस उदाहरण में कई जटिल बातों पर ध्यान नहीं दिया है। यदि विचारार्थ लिया हुआ जीन हीमोफिलिया जैसा रोग उत्पन्न करने वाला लिंग-सहलग्न जीन होता तो बहुत जटिल स्थिति उत्पन्न हो सकती थी। पर्यायी रूप में भिन्न गुणसूत्रों पर स्थित भिन्न जीन अथवा एक ही गुणसूत्र के जीनों में सहलग्नता हो सकती है। इसका अर्थ यह है कि एक के आनुवंशिक संप्रेषण के साथ दूसरा भी संप्रेषित हो सकता है अथवा दूसरे का संप्रेषण नहीं भी हो सकता।

गणितज्ञों को इन नानाविध जटिलताओं को उत्पन्न करने वाले कारकों पर विचार करने के लिए सहायता हेतु हाल्डेन, फिशर, राइट तथा अन्य लोगों ने सुबोध उपाय खोजे हैं। मेट्रिक्स बीजगणित, अवकल समीकरण तथा समाकल समीकरणों[1] की सहायता से यह काम किया गया है। हर प्रकरण का उद्देश्य अगली पीढ़ी के आनुवंशिक रूपों की संख्या ज्ञात करना है। यदि हम ये मान प्राप्त करने में सफल होते हैं तो हम एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जीन-बारंबारता में होनेवाले परिवर्तन ज्ञात करने में सफल होंगे। इस प्रकार, वरण तथा अन्य प्रभावों के कारण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जीन-बारंबारता किस प्रकार से प्रभावित होती है यह जानना संभव होगा।

इस गणितीय छानबीन अथवा अन्वेषण के कारण हम कई महत्वपूर्ण परिणाम प्राप्त कर

1. समाकल समीकरण – integral equations

सकते हैं। इसमें समूहों के आनुवंशिक गुणों पर वरण, उत्परिवर्तन, स्पर्धा आदि का क्या प्रभाव होता है, यह भी जानना संभव है। इस तरह के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि वरण का प्रभाव उत्परिवर्तन द्वारा संतुलित किया जाता है। हीमोफिलिया के उदाहरण से इसे समझने में आसानी होगी। हीमोफिलिया उत्पन्न करने वाले जीनों की संख्या घट जाती है। यह ज्ञात किया गया है कि यह कमी एक चौथाई से एक तिहाई होती है। परंतु इन जीनों में होने वाली इस कमी की पूर्ति कुछ स्रोतों से होनी अनिवार्य लगती है। क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो हर पीढ़ी में 25% की कमी होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आज की स्थिति को देखते हुए नार्मन लोगों की विजय के समय ब्रिटेन की संपूर्ण जनसंख्या का इस रोग से पीड़ित होना आवश्यक था! परंतु ऐसी स्थिति उस समय नहीं थी। अतः हम लोगों को यह अवश्य मानना होगा कि हीमोफिलिया उत्पन्न करने वाले जीन स्वयंस्फूर्त उत्परिवर्तन से उत्पन्न होते हैं तथा उत्पन्न होने वाले जीनों की संख्या नष्ट होने वाले जीनों की संख्या के समतुल्य होती है।

जिस समय हाल्डेन ने हीमोफिलिया के विषय में ये आंकड़े प्रकाशित किये थे उस समय हीमोफिलिया एक असाध्य रोग माना जाता था। रोमोनोव वंश का रूस का राज कुमार अलेक्सिस भी इसका शिकार हुआ था। वह संतान पैदा करने लायक अवस्था में पहुंचने से पहले ही चल बसा। परंतु अब स्थिति काफी बदल चुकी है। हीमोफिलिया से पीड़ित व्यक्ति को घातक रक्त-स्रावों से बचाया जा सकता है। इसके लिए मनुष्य के रक्त से बने महंगे उत्पाद इस्तेमाल किये जाते हैं। इसके फलस्वरूप हीमोफिलिया से पीड़ित पुरुषों की तथा इसे उत्पन्न करने वाले जीन का वहन करने वालों की संख्या लगातार बढ़ रही है। हीमोफिलिया के अतिरिक्त अन्य आनुवंशिक विकृतियों के विषय में भी ऐसा ही हो रहा है; क्योंकि इन विकल्पों का इलाज आज औषधियों अथवा शल्य-क्रिया से किया जा सकता है। इन रोगों के घातक अथवा क्षतिकारक जीनों की संख्या उसी अनुपात में बढ़ेंगी जिस अनुपात में हम इन आनुवंशिक रोगों का सफल इलाज करने में सफल होंगे। इस तरह हम इन रोगों को उत्पन्न करने वाले घातक जीनों की बारंबारता में वृद्धि करते रहेंगे। अंततः आयुर्विज्ञान की उपलब्धियां यही हैं कि इस अव्यवस्था की स्थिति को वह और भी अव्यवस्थित बना रहा है। इस तरह उत्पन्न दुविधा का आयुर्विज्ञान में कोई इलाज नहीं है। इस बारे में अध्याय 8 में विचार किया जा चुका है।

हाल्डेन की गणनाओं पर दुबारा विचार करें। उन्होंने यह भी दर्शाया था कि किसी विशिष्ट परिवर्तन के लिए आवश्यक पीढ़ियों की संख्या तथा वरण की तीव्रता व्युत्क्रमानुपाती होती हैं। इस प्रमेय के उपसाध्य के रूप में उन्होंने कहा था कि समुदाय में अप्रबल जीनों की संख्या यदि पर्याप्त है तो वरण अधिक तेजी से होता है, परंतु जब संख्या बहुत कम हो जाती है तब वरण की गति मंद हो जाती है। इस प्रमेय से पूर्व में ज्ञात किये गये एक निरीक्षण का स्पष्ट स्पष्टीकरण मिल जाता है। घातक जीन प्रायः अप्रभावी होते हैं तथा इसके विपरीत, जंगली समूहों में फैलने वाले नये किस्म के जीन प्रभावी होते हैं।

गणितीय जीव वैज्ञानिक केवल इस बात से संतुष्ट नहीं हैं कि वे प्रभावी जीनों के प्रभाव को गणितीय पद्धति से स्पष्ट कर सकते हैं। उन्होंने समूहों पर पड़ने वाले विभिन्न दबावों के कारण उसका स्वरूप किस प्रकार परिवर्तित होता है, इस बात की गणितीय संगणना सैद्धांतिक आधार पर की है। ये प्रभाव प्रयोगों द्वारा निर्धारित किये जा सकते हैं अथवा इनका अस्तित्व नकारा जा सकता है। इनमें की गयी भविष्यवाणियों का सत्यापन किया जा चुका है। इस हेतु नियंत्रित स्थितियों में नैसर्गिक वरण के दौरान होने वाले परिवर्तनों का निरीक्षण करने के बाद ही निष्कर्ष निकाले गये हैं। इसी तरह का अध्ययन दुबिनिन द्वारा मक्खियों के समूहों पर किया गया है। इसी प्रकार के अन्य अध्ययन करने वालों में अमेरिका के डोबज़ान्स्की, ब्रिटेन के कालमस तथा फ्रांस के टाइसियर सम्मिलित हैं। इस प्रकार जैविक विकासक्रम के गणितीय सिद्धांत को प्रायोगिक प्रमाण प्राप्त करने के बाद स्वीकृति मिल चुकी है। अब हमें इस बात को आसानी से मान लेना चाहिए कि जैविक क्रम विकास का आधार नैसर्गिक वरण की प्रक्रिया ही होता है। यही विकास का प्रेरणास्रोत है। परंतु जिन विभिन्न सोपानों को पार करते हुए किसी व्यक्ति में अपने पितरों से भिन्न गुण उत्पन्न होते हैं उसका कारण प्राकृतिक वरण नहीं है। यह कुछ भिन्न कारणों से होता है। अतः स्पर्धा, उत्परिवर्तन आदि द्वारा दिखाये गये मार्ग से ही विकास होता है।

इस गणितीय गवेषणा से आनुवंशिकता के क्षेत्र में प्राप्त किये गये परिणाम विशेषज्ञों के लिए तो महत्वपूर्ण हैं ही, सामान्य नागरिकों के लिए भी उनके कारण विशेष उपहार प्राप्त होते हैं। इस छानबीन के पूर्व की एक गलत धारणा का उन्मूलन हो चुका है जिसके अनुसार प्राकृतिक वरण जो जैविक क्रम विकास का प्रेरणास्रोत है, हाब्बेसियन युद्ध जैसा ही एक युद्ध है जिसमें सभी जातियां एक-दूसरी के विरुद्ध संघर्ष करती हैं तथा इस युद्ध में दुर्बलों का नाश होता है और योग्यतम ही बचे रहते हैं। अब प्राकृतिक वरण को किसी निष्ठुर के रूप में नहीं देखा जाता। यह एक स्पर्धा है जिसमें सहकार के कारण मृदुता उत्पन्न हो गयी है क्योंकि जैविक सफलता के लिए युद्धप्रियता तथा आक्रमणशीलता सहायक नहीं होते। 'जीयो और जीने दो' के सिद्धांत को आचरण में लाते हुए अपनी जाति के अन्य व्यक्तियों से तथा दूसरी जातियों के सहयोग से सफलता प्राप्त करने की अधिक संभावना होती है। टी. डोबज़ान्स्की ने कहा है – "नैसर्गिक वरण न तो स्वार्यवादी होता है और न ही पर्यायवादी। यह अवसरवादी होता है। जीवन में होने वाले उत्कर्ष का आधार कभी संघर्ष होता है तो कभी परस्पर सहयोग।"

अतः प्राणियों के समुदायों के आचरणों में पायी जाने वाली अत्यधिक भिन्नता से हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। परिस्थितिनुसार उनमें परस्पर सहयोग अथवा तीव्र स्पर्धा दिखाई देती है। किसी जाति में आवश्यकतानुसार पैतृक ममता के साथ अपनी संतानों को खा जाने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। फलमक्खियां (ड्रोसोफिला), फूलों पर जीने वाले गुबरैले, ऊष्णकटिबंधीय मछलियां, चूहे, मूषक जैसे प्रयोगशालाओं के लिए उपयुक्त प्राणियों के आचरण का निरीक्षण करने पर यही दिखाई देता है। ये सभी प्राणी अपने समुदाय की संख्या किसी एक सीमा से आगे बढ़ने नहीं देते। किसी बंद स्थान में एक समूह बन जाने के बाद

समूह की संख्या जब किसी विशिष्ट सीमा तक पहुंच जाती है तो उसके बाद प्रयोग करने वालों की ओर से सभी सुविधाएं प्रदान करने के बाद भी समुदाय की संख्या में वृद्धि नहीं होती। संख्या उतनी ही बनी रहती है बशर्ते उनकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे। बार-बार किये गये प्रयोगों द्वारा भी ऐसा ही पाया गया है कि उच्चतम सीमा का मान परिवर्तित नहीं होता। समुदाय की संख्या इस सीमा तक पहुंच कर स्थिर होने के लिए यह आवश्यक है कि खाद्यान्नों की कमी (अकाल), महामारी (रोग), लूटपात अथवा शिकार (युद्ध) जैसे माल्थ्यूस द्वारा प्रतिपादित प्रतिबंधों के कारण समुदाय की संख्या में कमी न हो।

इस आदर्श परिवेश में प्राणियों की संख्या सीमित रखना संभव होता है। [illegible] यदि प्रजनन द्वारा उत्पन्न संतानों की संख्या वृद्धावस्था के कारण मरने वालों की संख्या के समतुल्य होती है। यह संख्या इस स्थिति में उच्चतम सीमा तक पहुंच जाती है। जन्म तथा मृत्यु में इस प्रकार अपने आप उत्पन्न होने वाला संतुलन भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न प्रकारों से उत्पन्न होता है। एक्वेरियम की अथवा पालतू मछलियों की एक प्रसिद्ध मछली है गप्पी। यह मछली अपनी संख्या पर नियंत्रण रखने के लिए अपने बच्चों में से कुछ को खा जाती है तथा कितने बच्चों को खाना चाहिए इसका निर्णय आवश्यकतानुसार बदलता रहता है। आटे में पड़ने वाले कीड़े अपनी संख्या पर नियंत्रण करने का एक अनोखा तरीका अपनाते है। अपने शरीर की एक विशेष रूप से विकसित ग्रंथि से वे एक जहरीली गैस छोड़ते हैं जिसके कारण उनकी जननक्षमता में कमी हो जाती है। चूहों में प्रायः सभी वयस्क चूहे बच्चे पैदा करना बंद कर देते हैं। यदि जनसंख्या उच्चतम सीमा तक पहुंच जाती है तो बच्चों को पर्याप्त मात्रा में दूध नहीं दिया जाता तथा माताओं द्वारा उनका पोषण नहीं किया जाता। इस प्रकार उन्हें खत्म किया जाता है। यदि प्रयोग के दौरान समूह की संख्या घट जाती है अथवा इसके कुछ प्राणियों को पृथक कर दिया जाता है तो इस तरह लगाये गये सभी प्रतिबंध हटा दिये जाते हैं ताकि संख्या में वृद्धि होकर वह उच्चतम सीमा तक पहुंच सके।

इन प्रयोगों से समस्थिति बनाने वाली युक्तियों के अस्तित्व का पता चला है जो समूह के अंदर कार्य करते हैं तथा इनकी उत्पत्ति ही इसलिए हुई है कि समुदाय की संख्या इतनी असीमित न हो कि उसकी वजह से जीना ही दुरूह हो जाये। इस प्रकार की समस्थितियां बनाये रखने की युक्तियां जंगली समूहों के लिए भी अस्तित्व में हैं तथा ये समूह की संख्या पर आंतरिक नियंत्रण रखती हैं ताकि ये किसी सुरक्षित सीमा तक ही पहुंच सकें। मानव समुदायों में भी प्राचीन समय में ऐसी व्यवस्था थी परंतु जब समुदायों में मनुष्यों की संख्या में वृद्धि हुई तथा उत्तर पाषाण कालीन क्रांति के दौरान अतिरिक्त जनसंख्या शहरों तथा गांवों में एकत्रित होने लगी तब तक यही स्थिति बनी रही। संक्रामक रोगों ने समस्थिति बनाने का काम किया तथा जन्म और मृत्यु में संतुलन बनाये रखा। आयुर्विज्ञान में हुई प्रगति के कारण यह संतुलन समाप्त हो चुका है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि इस प्रकार संतुलन बनाये रखने का कोई भी साधन या युक्ति हमारे पास नहीं है ताकि प्रजनन नियंत्रित किया जा सके। जंगली जानवरों में तथा मछलियों में इस प्रकार का नियंत्रण किया जाता है। यह एक स्वयंसिद्ध सत्य है कि आने

वाली विपदाओं से हमें अपनी रक्षा करनी है तथा विप्लव से दूर रहना है तो प्रजनन तथा समागम को पृथक करना होगा। एशिया, अफ्रिका तथा लैटिन अमेरिका में इसकी नितांत आवश्यकता है। परंतु इन्हीं विकासशील देशों में इन दोनों को पृथक किया जाना प्रभावहीन होगा, क्योंकि इन देशों में प्रजनन के बिना कामसुख लेने के तरीकों की पर्याप्त जानकारी नहीं है तथा इतना धन भी नहीं है कि इस तरीके से कामसुख प्राप्त करने के लिए पर्याप्त साधन प्राप्त किये जा सकें, और यदि इन लोगों को ऐसा करने हेतु सहायता नहीं दी गयी तो नव-माल्थ्यूसी जनसांख्यिकीयविदों द्वारा जिस प्रलय की भविष्यवाणी की जाती है वह अपने समय से पूर्व ही घटित होगी। एक संभावना कुछ इस प्रकार की भी है। भविष्य के इतिहासकार एक ऐसे आविष्कार के तथा तकनीकी पुनर्रचना के युग की बात करेंगे जिसका प्रारंभ लगभग दो शताब्दियों पूर्व औद्योगिक क्रांति से हुआ था परंतु उसका अंत सौ साल के बाद ही हो गया, क्योंकि जनसंख्या में हुई वृद्धि का भार धरती की भार-वहन शक्ति से अधिक था तथा पर्यावरण भी इस भार को सह न सका।

12

आनुवंशिकता, लाइसेंको और लैमार्क

1930 के प्रारंभ में स्टालिन ने अपने को रूस के तानाशाह के रूप में स्थापित करने के पश्चात बीसवें दशक में गिरते हुए कृषि उत्पादन को रोकने के लिए कृषि का सामाजीकरण करने के उद्देश्द से एक अभियान का सूत्रपात किया। विशाल पैमाने पर खेतों का समूहन[1] करना तथा अधिक संपन्न किसानों को 'कुलक' अथवा तोड़फोड़ करने वाले कहकर उन्हें नष्ट करना इस अभियान का लक्ष्य था। इस काम में स्टालिन ने स्वयं: को पूर्णत: समर्पित कर दिया। खेतों का समूहन करने का उद्देश्य था अधिकतम कृषि उत्पादन प्राप्त करना। यह काम न्यूनतम आर्थिक लागत से करना था। परंतु ऐसा करते समय किसी ने भी कृषि का सर्वतोमुखी विकास करने की अथवा भूमि की उर्वरता में वृद्धि करने की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया। इस लक्ष्य प्राप्ति के लिए स्टालिन को एक ऐसे कृषि जीवविज्ञानी की आवश्यकता थी जिसकी सहायता से अधिक पैदावार देने वाले पेड़-पौधों तथा मवेशियों का विकास किया जा सके! इसी तरह कृषि तथा पशुपालन में तेजी से प्रगति करना संभव होता। स्टालिन द्वारा यह काम निर्धारित किया गया था! परंतु इसे पूरा करने का वादा करना या इस तरह की कोई असाधारण खोज करना एन.आई.वाविलोव जैसे प्रतिष्ठित सस्य जीवविज्ञानी[2] तथा प्रजननशास्त्री के लिए संभव नहीं था। परंतु टी.डी.लाइसेंको जैसे अन्य लोग इतने सिद्धांतशून्य थे कि उन्होंने यह बात तुरंत स्वीकार कर ली। इस प्रकार रूस में वैज्ञानिक प्रजनन के विरोध से जो संघर्ष छिड़ गया उसका सूत्रधार लाइसेंको नहीं था। यदि मूल सिद्धांत से स्टालिन के लक्ष्य तथा महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति नहीं होती तो यह काम किसी प्रतिरूप या नकल से चलाया जा सकता था। स्टालिन को इसी की तलाश थी। इसीलिए स्टालिन ने इस संघर्ष का सूत्रपात किया था! लाइसेंको इस संघर्ष से उत्पन्न हुआ था, लाइसेंको से संघर्ष नहीं। यदि स्टालिन जैसा सर्वशक्तिमान व्यक्ति सोवियत रूस के कृषि तथा पशुपालन का औद्योगीकरण करने में इतना उतवालापन न दिखाता तो लाइसेंको एक गुमनाम क्षेत्रीय प्रजनक तथा सनकी सिद्धांतवादी ही बना रहता।

परंतु अपने मजदूरों तथा किसानों का भविष्य सुधारने के लिए समर्पित रूस जैसे साम्यवादी समाज में लाइसेंको जैसा उन्मत्त, मायावी नीम हकीम जीवविज्ञान के अनुसंधान कार्य तथा व्यावहारिक कृषि पर निरंकुश रूप से नियंत्रण रखने वाले सर्वोच्च पद पर किस प्रकार आसीन

1. खेतों का समूहन – collectivisation of farms
2. सस्य जीवविज्ञानी – agrobiologist

हुआ, यह एक गूढ़ रहस्य है। स्टालिन के व्यक्तिवाद का उदय होना इस घटना का एकमात्र कारण नही है। आनुवंशिकी विज्ञान की अत्यधिक जटिल प्रकृति भी इस घटना के लिए आंशिक रूप से उत्तरदायी है।

तीस के दशक में भी आनुवंशिकी विज्ञान एक अप्रचलित विज्ञान की शाखा था। आनुवंशिकता की क्रियाविधि में डी.एन.ए. की भूमिका क्या होती है, डी.एन. की संरचना कैसी होती है, जीनों की कूटभाषा समझने की क्षमता आदि आण्विक जीवशास्त्र के महान आविष्कार किये जाने में अभी तीन दशकों का समय लगने वाला था। आनुवंशिकता तथा परिवेश का परस्पर संबंध भी ठीक से ज्ञात नहीं हुआ था। जीवाणु आनुवंशिकी जो आनुवंशिकी विज्ञान की एक शाखा है, में काम करने वाले वैज्ञानिकों का यह विश्वास था कि जन्म के बाद जो गुण अथवा अभिलक्षण अर्जित[1] किये जाते हैं वे वंशागत अभिलक्षणों के समान संप्रेषित किये जाते हैं। लैमार्क ने इस सिद्धांत को 1809 में पुनरुज्जीवित किया। पचास के दशक में जीवाणु तथा प्रजीवाणु[2] (प्रोटोजोआ) की आनुवंशिकी में जो प्रगति हुई उसके पहले इस शास्त्र पर लै मार्कवादियों का अधिकार था। इस बारे में कुछ समय बाद अधिक चर्चा होगी। जीवाणुओं तथा प्रजीवाणुओं जैसे सबसे सरल जीवों में भी आनुवंशिकता तथा परिवेश की परस्पर क्रिया को पृथक रूप से पहचानना संभव नहीं था, क्योंकि ये क्रियाएं अत्यधिक जटिल थीं। उन्नत पौधों तथा प्राणियों में इस अन्योन्य क्रिया को समझना बहुत कठिन है, इस कथन पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इन प्राणियों की प्रजनन व्यवस्था की अगम्यता तथा प्रदीर्घ प्रजनन चक्र के कारण यह और भी जटिल बन गयी है। इन जीवों के क्रमिक जैव विकास तथा आनुवंशिकता से संबंधित वैज्ञानिकों के लिए ये दोनों एक अनबूझी पहेली बन चुके हैं। डार्विन जैसा महान वैज्ञानिक मेंडल के आनुवंशिकता के नियम तथा जीनों के उत्परिवर्तन जैसी घटनाओं से अनभिज्ञ था। वह इस बात से हैरान था कि जातियों में उत्पन्न होने वाली इस भिन्नता का स्रोत क्या है जिस पर प्राकृतिक वरण लागू होता है। इस हैरानी के कारण वह लैमार्क द्वारा की गयी एक सिद्धांत-परिकल्पना की ओर आकर्षित हुआ। लैमार्क का प्रतिपादन ऐसा था कि अपने परिवेश में जीने के लिए स्वयं को अधिक अनुरूप बनाने की प्रक्रिया से पुरानी जातियों में परिवर्तन होकर आज की नयी जातियां उत्पन्न हुई हैं।

पेड़-पौधों तथा प्राणियों में परिवेश जिन पद्धतियों से परिवर्तन करता है उन्हें लैमार्क ने पहचाना था। यह बात उल्लेखनीय है कि उसने इस प्रतिक्रिया के अनुकूली अभिलक्षणों की ओर अधिक ध्यान दिया। हेनरी बर्गसन ने इस विषय पर कहा था कि इस प्रतिक्रिया में परिणाम की साध्यपरक अथवा उद्देश्यपूर्ण प्रकृति सूचित होती है। पौधों में यह प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष होती है तथा तत्काल होती है अर्थात मध्यवर्ती तंत्रिकातंत्र के माध्यम से नहीं होती क्योंकि पौधों में यह अनुपस्थित होता है। प्राणियों में अनुकूली परिवर्तन अप्रत्यक्ष रूप से होते हैं। लैमार्क के अनुसार, नये परिवेश की आवश्यकताएं भी भिन्न होती हैं तथा प्राणी अपने प्रयास से इन्हें पूरी

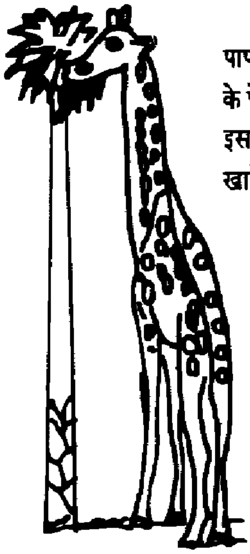
1. अर्जित अभिलक्षण – acquired characters
2. प्रजीवाणु – protozoa

कर लेते हैं। नयी आवश्यकताओं के कारण नयी आदतें बन जाती हैं तथा नयी आदतों के कारण शरीर के अंगों में परिवर्तन होते हैं। ये परिवर्तन संचयी तथा स्थायी होते हैं। इसके विपरित, यदि किसी अंग का उपयोग नहीं किया जाता तो वह क्षीण हो जाता है तथा उसका विकास नहीं होता। इस प्रकार किये गये पार्थिव परिवर्तन वंशागत रूप से प्राप्त किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, जिन पक्षियों को अपना शिकार ढूंढ़ने के लिए पानी पर ही रहना पड़ता है वे तैरते समय अपने पैर फैलाते हैं। उनकी चमड़ी इस फैलाव की आदी हो जाती है तथा दो पावों की उंगलियों के बीच एक झिल्ली बन जाती है। जुगाली करने वाले पशु लड़ते समय एक-दूसरे से सिर टकराते हैं। इस कारण उनके सिंग निकल आते हैं परंतु लैमार्क द्वारा दिया गया सबसे प्रख्यात उदाहरण जिराफ का है। यह प्राणी जिन पेड़ों की पत्तियां खाता है उनके अधिकाधिक ऊंचाई पर लगे कोंपल खाने हेतु उसे अपनी गर्दन को काफी तानना पड़ता है। इस प्रकार लंबे समय तक गर्दन खींचते रहने के कारण इस जाति के सभी प्राणियों की गर्दनें तथा सामने के पैर लंबे हो जाते हैं। इन सरल उदाहरणों को लैमार्क ने अपने सिद्धांत का आधार बना लिया। परंतु यह सिद्धांत एक दुरान्वयी सिद्धांत है। उस समय की एक पत्रिका में इस विषय पर कॉमिक रेखाचित्र भी प्रकाशित हुआ था (देखें चित्र-48)। 1955 में सी.डी. डार्टिंगटन ने इसे 'एक सदाबहार अंधविश्वास' की संज्ञा दी थी।

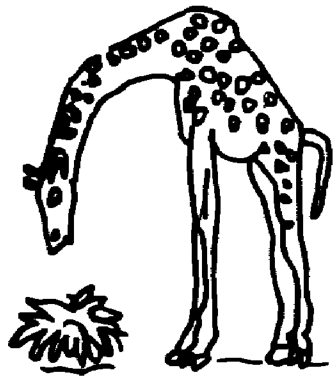
परंतु मेंडेल के आनुवंशिकता संबंधी नियमों की दुबारा खोज की जाने के बाद लैमार्कवाद को अंततः अस्वीकार कर दिया गया। इसका कारण यह था कि अर्जित अभिलक्षण संप्रेषित किये जाने की एक भी घटना काफी खोज करने के बाद भी नहीं मिल सकी। पालतू कुत्तों की पूछें पिल्ला पैदा होने के तुरंत बाद काट दी जाती हैं परंतु इन्हीं दुमकटे कुत्तों की संतानें पूंछ के साथ ही पैदा होती रहती हैं। यहूदी तथा मुसलमानों में लंबे समय से नर संतानों का खतना किया जाता है। परंतु इस पुरानी रूढ़ि के बावजूद आज पैदा होने वाले बच्चों के लिंग इस प्रकार कटे हुए नहीं होते। तब भी लैमार्कवाद की मध्यवर्ती धारणा के अनुसार परिवर्तित आनुवंशिकता को परिवेश द्वारा इस प्रकार मोड़ देना चाहिए कि इससे विशिष्ट जीव को लाभ पहुंच सके। यह धारणा आज भी प्रचलित है तथा आज के नये पशु प्रजनक इस बात पर आज भी दृढ़ हैं। यह कुछ अजीब लग सकता है परंतु आनुवंशिक वास्तविकता कोई आसान चीज नहीं है। वह इतनी मायावी तथा अनाकलनीय और स्पर्शातीत है कि उसे शब्दों की अथवा चिह्नों की भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास एकपक्षीय तथा अधूरा होगा।

इसलिए हमें हर्मन हैसे से सहमत होकर यही कहना चाहिए – "हर सत्य पक्ष का विपक्ष भी उतना ही सत्य होता है।"

हमारे जीवन का एक दुखदायी परिणाम यह है कि हम दुनिया की खोज भाषा के माध्यम से करते-करते भाषा को ही दुनिया मान बैठते है। ज्यां पॉल सार्त्र ने किसी समय कहा था कि हम लोग सदैव एक भ्रम पालते हैं और समझते है कि जिंदा चीजों को शब्दों के जाल में कैद करना संभव है तथा शब्दों का चुनाव होशियारी से किया जाय तो वास्तविकता को भी इन चिह्नों में बांध सकना संभव होगा। आज तक खोजी गयी भाषाओं में गणित सबसे यथार्थ भाषा है। परंतु वास्तविकता की गणितीय अभिव्यक्ति को भी इस प्रकार बांधना संभव नहीं



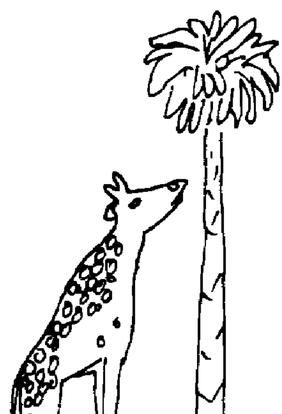
पापाजी ! मुझे यह बताइए कि ये ताड़ के पेड़ इतने ऊंचे क्यों हैं ?
इसलिए ताकि जिराफों को इसके पत्ते खाने में सुविधा हो ।



तो पापाजी ! जिराफों की गर्दन इतनी लंबी क्यों होती है ?
वह इसलिए कि वे ताड़ के पेड़ के पत्ते खा सकें ।



अगर ताड़ के पेड़ छोटे होते तो उनके पत्ते खाने में जिराफों को बहुत परेशानी होती ।



अगर जिराफों की गर्दन छोटी होती तो उन्हें ताड़ के पत्ते खाने में और भी ज्यादा परेशानी होती ।

चित्र 48

हुआ है। कूर्ट गोडेल ने प्रमाणित किया है कि यदि तर्कसंगत व्यवस्था में उसकी सामंजस्यता तथा पूर्णता का प्रमाण विद्यमान है तथा इसमें अंकगणित का समावेश किया गया है तो उसमें उसकी असामंजस्यता तथा अपूर्णता का प्रमाण भी अंतर्निहित होना चाहिए। इसलिए वैज्ञानिकों द्वारा सूत्रबद्ध किये गये नियमों के भी अनेक अपवाद होते हैं तथा अतर्विरोध भी होते हैं। क्वान्टम भौतिकी एक ऐसा ही विषय है। यदि प्रकाश किरण एक अखंड तरंग है तो दूसरी ओर वह एक पृथक फोटान भी है। इसी प्रकार, परमाणु में उपस्थित रहने वाला इलेक्ट्रान एक पृथक कण है तो वह ऐसी तरंग भी है जो अखंड रूप में विसरित होती है। भौतिकशास्त्री इस प्रकार की परस्पर विरोधी धारणाओं को स्वीकार करते हुए उन्हें संपूरक स्थिति कहते हैं। इसका यही अर्थ है कि प्रकाश अथवा पदार्थ अपने मूल रूप में किस प्रकार का आचरण करते हैं, इसे व्यक्त करने के लिए इन दोनों में से कोई भी पर्याप्त नहीं है। यदि ज्ञान की सीमाएं अधिक विस्तृत होने के साथ आनुवंशिकी विज्ञान में भी इसी प्रकार की द्वैतावस्था उत्पन्न होती है तो इसमें अचरज की कोई बात नहीं है। हम बार-बार यह देख चुके हैं कि जीन अपने आसपास के परिवेश पर जो क्रिया करते हैं उसी के माध्यम से आनुवंशिकता संप्रेषित की जाती है। परंतु क्या परिवेश आनुवंशिकता में परिवर्तन उत्पन्न करता है? इस प्रश्न का उत्तर आज जिस सुस्पष्टता से दिया जा सकता है वैसा तीन दशक पूर्व देना संभव नहीं था। यह सच है कि उन्नत प्राणियों तथा पेड़-पौधों में अर्जित अभिलक्षण वंशागत रूप से संप्रेषित नहीं किये जाते। परंतु जीवाणुओं तथा प्रजीवाणुओं में जिनका पूरा जीवनक्रम महीनों का नहीं कुछ मिनटों का ही होता है, सूक्ष्म जीव वैज्ञानिक ने अर्जित अभिलक्षण संप्रेषित होने के प्रमाण प्राप्त किये हैं। जी. जोलोस द्वारा 1913-1914 की अवधि में प्रकाशित किये गये शोध-लेखों में इस बात के प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं कि परिवेश द्वारा उत्पन्न परिवर्तन पैरा मिकियम नामक एक एककोशी जीव कोशिकाओं की कई पीढ़ियों तक प्रकट करता रहता है जब उसे उत्पन्न करने वाला एजेंट भी उपस्थित नहीं रहता। परंतु ये परिवर्तन धीरे-धीरे गायब हो जाते हैं और कभी तो एक ही पीढ़ी के बाद दिखाई नहीं देते। इन तथा इसी प्रकार के अन्य निरीक्षणों से लैमार्कवाद को एक मजबूत आधार मिल गया है। तीस तथा चालीस के दशकों में इस तरह की लैमार्कवादी धारणाओं का प्रचलन पुराने सूक्ष्म जीवशास्त्रियों के लिए एक स्वाभाविक घटना थी। हम यह जानते हैं कि जीवाणुओं तथा प्रजीवाणुओं पर जो प्रयोग किये जाते हैं वे किसी पृथक जीव पर किये गये प्रयोग नहीं होते। ये प्रयोग इन जीवों के समुदायों पर किये गये प्रयोग होते हैं। इन समुदायों में लाखों जीव होते हैं तथा उनकी संख्या भी बहुत तेजी से बढ़ती है। अतः सभी पुराने जीवाणुओं पर किये गये अध्ययनों द्वारा एक जीवाणु में होने वाले परिवर्तन पृथक रूप से ज्ञात करना संभव नहीं होता। नयी संतानें उत्पन्न करने के पश्चात ही ऐसी कोशिकाओं का पता चल सकता था। इसलिए जीवाणुओं के अध्ययन किसी एक पृथक कोशिका तक सीमित न होकर संपूर्ण समुदाय पर किये गये अध्ययन ही होते हैं।

जीवाणु-आनुवंशिकी एक विज्ञान के रूप में विकसित होने के पूर्व इस प्रकार के सामुदायिक परिवर्तनों को लैमार्क की भाषा में ही समझा या समझाया जाता था तथा इन्हें परिवेश के प्रभाव से उत्पन्न अनुकूलन कहा जाता था। इस योजना में कभी-कभी कुछ परिवर्तन भी दिखाई देते थे, जैसा जोलो के प्रयोगों का अर्थ समझते समय किया गया था। उसने इन परिवर्तनों को स्थायी बदलाव कहा है जो परिवेश द्वारा उत्पन्न किये गये ऐसे अर्जित परिवर्तन हैं जो इस तरह

की प्रेरणा देने वाले परिवेश के अभाव में कई पीढ़ियों तक अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं। प्रारंभ में बहुत कम अनुसंधानकर्ता जीवाणुओं में होने वाले परिवर्तनों में दिखाई देने वाली विविधता को एक घटना के रूप में पहचान सकते थे। इस घटना के दौरान एक या अधिक कोशिकाओं में याहच्छिक परिवर्तन होते हैं तथा अस्पष्ट बदलाव होते हैं (उत्परिवर्तन) जिसका वरण अनुकूल परिवेशी स्थिति उत्पन्न होने पर किया जाता है। परंतु जीवाणुओं में होने वाले परिवर्तन उन्नत जीवों में होने वाले परिवर्तनों के समकक्ष होते हैं, यह समझना उस समय संभव नहीं था। 1950 में या पचास के दशक में डी.एन.ए. की संरचना ज्ञात करने के बाद ही इस प्रकार की समझ उत्पन्न हो सकी। उसके बाद यह स्पष्ट हो गया कि जिस प्रकार लैमार्कवाद के सिद्धांत उन्नत जीवों के लिए लागू होते हैं उसी प्रकार वे एककोशी जीवाणुओं के लिए लागू नहीं किये जा सकते। इन जीवों में काया तथा जीवद्रव्य भिन्न नहीं होते। अत: जीवाणुओं में तथा प्रजीवाणुओं में परिवर्तित गुणों को, जो ये जीव अर्जित करते हैं, वंशागत रूप में संप्रेषित किये जाने की संभावना होती है। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि ऐसे संप्रेषित अभिलक्षणों को आनुवंशिक रूप में प्राप्त किये गये अर्जित गुण मान लिया जाता। ऐसे प्रभाण प्रस्तुत करना अनिवार्य हो गया था। यह घटना डी.एन.ए की खोज तथा आनुवंशिक यंत्रणा में उसका महत्व समझने के पहले की है।

जीवाणुओं तथा प्रजीवाणुओं में होने वाले परिवर्तन भी उन्नत जीवों तथा पौधों में होनेवाले परिवर्तनों के समान (उत्परिवर्तन) ही होते हैं। इस बात की सही जानकारी हमें ओ.टी. एवेरी ने पालीशोथ[1] उत्पन्न करने वाले न्यूमोकॉकस नामक जीवाणुओं पर जो प्रयोग किये उनसे प्राप्त हुई। 1946 में किये गये प्रयोगों द्वारा उसने एक किस्म के न्यूमोकॉकस जीवाणुओं को दूसरी किस्म के जीवाणुओं में परिवर्तित कर लोगों का ध्यान अपने अनुसंधान कार्य की ओर आकर्षित किया। उस समय डी.एन.ए. किस प्रकार का पदार्थ है, इसे बहुत कम लोग जानते थे। परंतु इस काम के बाद इस बात का स्पष्ट संकेत मिल गया कि डी.एन.ए. जैसा जैव द्रव्य एक कोशिका से दूसरी कोशिका तक आनुवंशिक जानकारी ले जा सकता है तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक इस जानकारी का वहन करता है। बाद में किये गये प्रयोगों से यह प्रमाणित किया गया कि जिस पौष्टिक माध्यम में जीवाणुओं का संवर्द्धन किया जाता है उसमें यदि कोई विशिष्ट डी.एन.ए. उपस्थित हो तो उन जीवाणुओ में ऐसे परिवर्तन किये जा सकते हैं जो बाद की पीढ़ियों को संप्रेषित किये जा सकते हैं। 1949 में ए.डी. हर्शे तथा आर. रोटमन ने इससे आगे बढ़ते हुए यह प्रदर्शित किया कि विषाणुओं के जो कण (जीवाणु भक्षक)[2] जीवाणुओं पर आक्रमण करते हैं वे अपने आनुवंशिक कारकों की अदला-बदली, उन्हें पृथक करने अथवा पुन: एकीकृत करने जैसा काम करते हैं तथा आनुवंशिक द्रव्यों (जीनों) को एक किस्म के जीवाणु से दूसरे किस्म के जीवाणु तक ले जाते हैं।

उसके बाद से आज तक 'रूपांतरण'[3] की घटना पर काफी अनुसंधान कार्य किया जा चुका है। इस घटना की मुख्य विशेषताएं संक्षेप में इस प्रकार हैं – जो जीवाणु रूपांतरकारी डी.एन.ए.

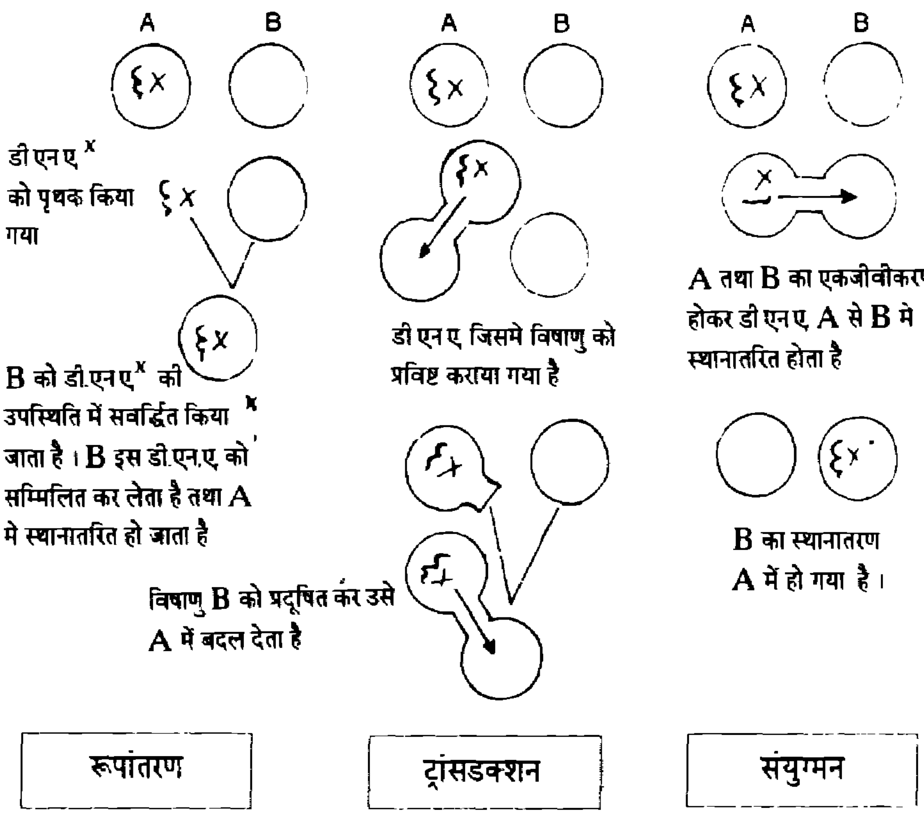
---

1. पाली शोथ – lobar pneumonia
2. जीवाणु भक्षक – bacteriophage
3. रूपांतरण – transformation

के संपर्क में रखे जाते हैं उनमें से रूपांतरित होनेवाले जीवाणुओं का अनुपात बहुत अल्प होता है तथा रूपांतर की प्रत्येक घटना में दाता जीवाणु A के डी.एन.ए. का एक अत्यल्प युनिट ही स्वीकारकर्ता जीवाणु B के डी.एन.ए. कोष में सही स्थान पर रख दिया जाता है (देखें चित्र-49)। यह मूल खंड उस स्थान पर रखे जाने के बाद उस B की आनुवंशिक व्यवस्था का एक भाग बन जाता है। एक किस्म के जीवाणु से दूसरे किस्म के जीवाणु में विशिष्ट अभिलक्षणों का वहन करनेवाला डी.एन.ए. किस प्रकार स्थानांतरित किया जा सकता है ताकि A के गुण B में स्थानांतरित हो सकें इसकी तीन अलग-अलग पद्धतियां प्रचलित हैं। ये निम्नानुसार हैं :

प्रथम पद्धति को रूपांतरण कहते हैं। इस पद्धति में रासायनिक पद्धति से पृथक किया गया (नग्न) डी.एन.ए. अथवा प्राकृतिक रूप से मुक्त किया गया केंद्रक-बाह्य डी.एन.ए. एक अथवा कभी-कभी दो अभिलक्षणों को प्रभावित करने वाली जानकारी एक जीवाणु से दूसरे संबंधित जीवाणु तक पहुंचा सकता है।

दूसरी पद्धति को 'ट्रांसडक्शन' पद्धति कहते हैं। इसमें जानकारी का वहन करने वाला डी.एन.ए.(इसमें भी एक या दो अभिलक्षण को प्रभावित करने वाले खंड ही स्थानांतरित किये



चित्र 49 : किसी विशिष्ट आनुवशिक अभिलक्षण का वहन करने वाला डी.एन.ए. एक जीवाणु से दूसरे जीवाणु की जाति में किस प्रकार स्थानांतरित किया जाता है, इसे दिखाया गया है। इसके तीन तरीके यहा दिखाये गये हैं। इससे A प्रकार के गुण B किस्म में स्थानातरित हो जाते हैं।

जाते हैं)। एक जीवाणु दूसरे जीवाणु में जीवाणुभोजी[1] की सहायता से स्थानांतरित किया जाता है। इस प्रक्रिया के दौरान जीवाणुभोजी का प्रोटीनयुक्त कवच, जिसकी सहायता से जीवाणुभोजी का आंतरिक डी.एन.ए. किसी ग्रहणशील जीवाणु की पोषक कोशिका में प्रविष्ट कराया जाता है, वेष्टन का रूप ले लेता है तथा जीवाणुभोजी के डी.एन.ए. के स्थान पर (अथवा उसके साथ) जीवाणु का डी.एन.ए. स्थानांतरित करता है। जीवाणुभोजी के शरीर में उपस्थित जीवाणु डी.एन.ए. द्वारा पूर्व में खाये हुए जीवाणु से प्राप्त किया हुआ डी.एन.ए. होता है। जीवाणुभोजी द्वारा जिस जीवाणु में यह जानकारी प्रविष्ट करायी जाती है वह इस जानकारी को अपना लेता है।

तीसरी पद्धति को संयुग्मन[2] पद्धति कहते हैं। दाता जीवाणु अपनी पूर्ण जानकारी अथवा जानकारी का एक बड़ा भाग (एक प्रतिकृति के रूप में) ग्रहणकर्ता को दे सकता है। इस प्रकार जानकारी देते समय दो कोशिकाओं का परस्पर संस्पर्श होना आवश्यक है तथा एक कोशिका से दूसरी कोशिका तक एक गुणसूत्र जैसी डी.एन.ए. की वस्तु जिस पर जानकारी पंक्तिबद्ध रूप से रखी होती है का स्थानांतरण होना भी आवश्यक है। यदि दाता के डी.एन.ए. में उपस्थित जानकारी ग्रहणकर्ता के डी.एन.ए. में उपलब्ध जानकारी से भिन्न होती होती है तो संपूर्ण जानकारी उन संतानों के लिए उपलब्ध नहीं होती जो इस स्थानांतरण के बाद उत्पन्न होते हैं। पुरानी तथा नयी जानकारी का आदान-प्रदान किया जाता है अथवा इस नयी जानकारी का ग्रहणकर्ता के पास उपलब्ध जानकारी से पुनर्मिलाप होता है। जीवाणुओं में जैव द्रव्यों का स्थानांतरण करने वाली इन तीन प्रक्रियाओं की खोज से यह स्पष्ट हो जाता है कि सरल जीवाणु से मनुष्य जैसे जटिल प्राणी तक के सभी जीवों की आनुवंशिकता का रहस्य डी.एन.ए. द्वारा ही सुलझाया जा सकता है।

परंतु उसी समय जब लैमार्कवाद को जड़ से उखाड़ फेंकने के उद्देश्य से चारों ओर से प्रायोगिक निरीक्षणों पर आधारित प्रमाण प्राप्त हो रहे थे। सी.एच. वैडिंगटन ने एक ऐसे अनुकूल आनुवंशिक गुण के बारे में रिपोर्ट प्रस्तुत की जो परिवेश द्वारा प्रायोजित किया गया था तथा यह घटना किसी जीवाणु के साथ नहीं घटी थी। वह घटी थी एक मक्खी के साथ। उसने जब इस किस्म की मक्खी के कोषों को उच्च तापमान पर रखा तो उनसे उत्पन्न होने वाली संतानों के पंखों पर एक धारी कम दिखाई दी। अपने आप में यह एक अत्यंत गौण परिवर्तन था। परंतु यदि इन मक्खियों के कोषों को कई पीढ़ियों तक उच्च तापमान पर रखा जाता तो इसके बाद पैदा होने वाली मक्खियों के पंखों पर कोई धारी नहीं होती। धारियों का न होना कोषों को गर्म न करने के बाद भी बना रहता है। यह परिवर्तन स्थायी नहीं होता तथा संतानों का पुराना रूप उन्हें प्राप्त हो जाता है। इसका स्पष्टीकरण कुछ भी क्यों न हो क्योंकि वैडिंगटन ने इसका एक जटिल स्पष्टीकरण दिया था जो मेंडेल के नियमों पर आधारित था, इसे इस बात के एक प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है कि अर्जित अभिलक्षण भी वंशागत रूप

---

1. जीवाणुभोजी – bacteriophage
2. संयुग्मन – conjugation

से प्राप्त किये जा सकते हैं।

इस छोटी-सी घटना से लैमार्कवाद को इतना बल नहीं मिल जाता कि वह अपने मूल रूप में जिंदा रह सकता। परंतु इससे बेहतर उदाहरण भी दिये जा सकते हैं जिनमें आदतें आनुवंशिक बन जाती हैं, न कि संरचना। तीन सौ साल पूर्व जंगली कैनरी चिड़िया को उसके सुंदर पंखों के कारण ही पालतू बनाया गया था। उस समय वह केवल चहचहाती थी, गाती नहीं थी, परंतु भिन्न स्थानों के पक्षी-प्रेमियों ने उसे गाना सिखाया। अब वह अपनी विशिष्ट शैली में गाती है। अब अंडे से उत्पन्न हर चिड़िया को गाना न भी सिखाया जाये तो भी वह गाती है। इसी तरह का कुछ हम लोगों के साथ भी घट चुका है। *होमोसेपियनों* (मानव) में बोलने की क्षमता उत्पन्न होकर उनका परिवर्तन *होमोलोगोस* में हुए कुछ अधिक समय नहीं बीता है। 200 से 1000 हजार पीढ़ियों तक की अवधि में यह परिवर्तन होने का अनुमान लगाया जाता है। मनुष्य को वाक्‌शक्ति प्राप्त करने के लिए अपने मस्तिष्क में तथा कान में बृहत परिवर्तन करने की आवश्यकता थी। प्रमस्तिष्क प्रांतस्था[1] का एक कड़ा क्षेत्र इसी काम के लिए सुरक्षित रखा गया है। मूक लोगों में ऐसा न किये जाने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। हमें अभी तक इस बारे में पर्याप्त जानकारी नहीं है कि इस प्रकार से होनेवाले शीघ्र विकसित होनेवाले परिवर्तनों की कार्यविधि क्या होती है ताकि इस प्रकार होनेवाले परिवर्तनों के लिए कोई सिद्धांत प्रस्तुत कर सकें तथा इसमें अर्जित आदतों में तथा शारीरिक रचना तथा अभिलक्षणों में भिन्नता क्या है इसे समझा जा सके।

परंतु हमारी आदतों तथा आचरणों का स्रोत प्रमस्तिष्क प्रांतस्था में उपस्थित तंत्रिकाणुओं अथवा तंत्रिका कोशिकाओं के जाल में होता है। हमारे आचरण तथा आदतों पर परिवेश का भी प्रभाव पड़ता है, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हमें यह ज्ञात है कि एक शिशु के मस्तिष्क में जितने तंत्रिकाणु (न्यूरॉन) उपस्थित होते हैं उतने ही किसी वयस्क के मस्तिष्क में भी होते हैं। परंतु एक शिशु के मस्तिष्क में इन तंत्रिकाणुओं को जोड़नेवाली व्यवस्था कुछ भिन्न होती है। इन तंत्रिकाणुओं को क्रियाशील बनानेवाले विभिन्न संयोजन किस सीमा तक निश्चित आनुवंशिक मानचित्रों को अनुसार किये जाते हैं तथा जन्म के बाद का परिवेश इस व्यवस्था पर कहां तक प्रभाव डालता है, यह स्पष्ट रूप से कहना आसान नहीं है। हाल में ही किये गये प्रयोगों, विशेषत: बिल्ली जैसे प्राणियों की दृष्टि का प्रारंभिक विकास होते समय परिवेश का क्या प्रभाव होता है, इसे जानने हेतु किये गये प्रयोगों से यह संकेत मिलता है कि विकास की सीढ़ी पर प्राणी का स्थान जितना ऊंचा होगा उतना ही अधिक प्रभाव परिवेश द्वारा उसके मस्तिष्क के विकास के दौरान डाला जाएगा। इस सीढ़ी की निचली पायदानों पर स्थित प्राणी जन्मत: ही अपने संपूर्ण आचरण का प्रारूप साथ ले आते हैं और रूढ़िगत जीवन में प्रवेश करते समय उन्हें आसपास की दुनिया के बारे में कोई भी चीज सीखने की जरूरत नहीं पड़ती। मधुमक्खियों का ही उदाहरण लीजिए। इन्हें फूलों का उपयोग किस प्रकार करना है, इसका ज्ञान जन्म से ही होता है। पक्षी दूर-दूर तक की यात्राएं करते समय अपना

1. प्रमस्तिष्क प्रांतस्था – cerebral cortex

मार्ग खोजने के लिए उन्हीं नियमों का पालन करते हैं जो उन्हें वंशागत रूप में प्राप्त हुए हैं – जैसा-जैसा कोई प्राणी विकास की सीढ़ी के ऊपरी पायदानों पर पहुंचता है उसे अपने परिवेश के बारे में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने की आवश्यकता होती है तथा इस स्थान पर आने के बाद वह अधिक जान सकता है। इस सीढ़ी के सबसे ऊपर के स्थान पर मनुष्य है जो अपनी आयु के प्रारंभिक महीनों में मुंह से कुछ शब्द निकालने की कोशिश करता हुआ और वमन करता एक असहाय शिशु बना रहता है। उसे चलना, हाथ से काम करना, बोलना, सोचना जैसे कई काम सीखने होते हैं। मनुष्य के मस्तिष्क में 10^{10} तंत्रिकाणु होते हैं। इनका जाल बिछाने के लिए जो जानकारी आवश्यक होती है वह सभी जीनों से ही प्राप्त होती है, ऐसा कहना शायद वस्तुस्थिति का विपर्यास करना ही कहलायेगा। अत: परिवेश भी इसे अंतिम रूप देने में अपनी भूमिका निभाता है।

आज भी जीन तथा परिवेश (पुराने लोग इसे प्रकृति तथा पोषण कहते थे) का तुलनात्मक योगदान कितना होता है, इसके बारे में निश्चित रूप से कहना कठिन है। विशेषत: प्राणियों तथा मनुष्य के मस्तिष्क का विकास जन्म के बाद के परिवेश से किस तरह प्रभावित होता है, यह आज भी विवाद का विषय बना हुआ है। अत: यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि आज की तुलना में इस विषय-दृष्टि से, लैमार्कवाद 40 साल पूर्व अधिक मजबूत था। उस समय ऐसा कहना तर्कसंगत माना जाता यदि कोई कहता कि परिवेश के प्रभाव से अर्जित किये गये गुण वंशागत रूप में संप्रेषित किये जाते हैं। यह बात जीवाणु तथा प्रजीवाणुओं जैसे सरल जीवों पर सही पायी गयी है और यदि कोशिका ही सभी जीवों का मूल यूनिट है तथा सभी प्राणियों में यह बात पायी जाती है तो यह तर्क आगे बढ़ाते हुए अथवा बहिर्वेशन[1] द्वारा यह कहा जा सकता है कि जो बात *पैरामीसियम* के लिए सही होती है वह गेहूं तथा मवेशियों में भी हो सकती है। सोवियत रूस में लाइसेंको तथा उसके अनुयायियों ने यहीं तर्क दिये। उन्होंने कहा कि पाश्चात्य जीवशास्त्री अभी जिस तरह प्रजनन की जटिल आण्विक प्रक्रिया के अध्ययन में व्यस्त हैं वह एक अमूर्त, अभौतिक अभ्यास है तथा व्यावहारिक दृष्टि से वह अनुपयोगी है। और यह सच भी था। इन कार्यविधियों की जानकारी प्राप्त हो जाने तक अपना काम प्रारंभ न करने को एक मूर्खता भरा कदम कहते। उन्होंने इसलिए पौधों तथा प्राणियों में आनुवंशिक परिवर्तन लाने हेतु परिवेश के कारकों की सहायता लेने के प्रयास जारी रखना उचित समझा। उन्होंने अपनी बात का प्रचार तथा प्रसार करने के लिए कहा कि फसलों तथा पशुधन के शीघ्रतम विकास के लिए मेंडेल के सिद्धांतों पर आधारित परंपरागत पद्धतियों का उपयोग करना उनके देश के हित में नहीं है। इन पर हम नवें अध्याय में विचार कर चुके हैं। अब ऐसी कई घटनाएं हैं जहां परिवेश में परिवर्तन करने से, उदाहरण के लिए पटसन अथवा कलम के माध्यम से उत्पन्न होने वाले आनुवंशिक परिवर्तन लाइसेंको द्वारा प्रस्तुत किये गये दावों को प्रमाणित करते हैं। परंतु यह किस तरह होता है, इस बात का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सका है। अपनी पौध-प्रजनन क्षेत्र की प्रारंभिक सफलताओं का उपयोग स्वार्थसाधना के लिए करते हुए

1. बहिर्वेशन – extrapolation

उसने ऐसा प्रतिपादित किया कि मार्क्स तथा एंजेल्स दोनों ही डार्विन को मानते थे तथा लैमार्क के कट्टर अनुयायी थे तथा उनका यह विश्वास था कि इस तरह आनुवंशिक गुण प्राप्त करने से मानव जाति में भी सुधार किये जा सकते हैं। ऐसा कहते हुए लाइसेंको ने मेंडेल द्वारा प्रस्तुत किये गये आनुवंशिकता के नियमों को बुर्जुआ मध्यवर्गी, पूंजीवादी तथा प्रतिगामी आभासी विज्ञान कहकर बदनाम किया। परंतु इस काम के लिए उसे तथा उसके अनुयायियों का दस वर्षों का समय लगा।

लाइसेंको ने 1926-27 में गांड्ज़ा (अब किरोवाबाद) के प्रायोगिक फार्म पर शीतकालीन मटर को कपास से पूर्व बोने के जो सफल प्रयोग किये उनके कारण उसकी अंतर्राष्ट्रीय पहचान बनी। वह अंतरराष्ट्रीय स्तर का अनुसंधानकर्ता बन गया। यह कहना संभव नहीं है कि इन प्रयोगों को करने में लगने वाली कल्पनाशीलता उसकी स्वयं की थी अथवा उसने कहीं से इसे उधार लिया था, परंतु यह सच है कि व्यावहारिक दृष्टि से ये प्रयोग बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। परंतु लाइसेंको को सही रूप में कीर्ति तथा प्रतिष्ठा उसके 'वासंतीकरण' के प्रयोगों से प्राप्त हुई। इसका पहला प्रयोग 1929 में किया गया। इस तकनीक द्वारा शीतकालीन गेहूं की पैदावार बढ़ाने में सफलता मिल सकी। रूस में सामान्यतः गेहूं शरद ऋतु में बोया जाता है। बीजों में अंकुरण होता है, परंतु पौधों का विकास वसंत ऋतु में ही होता है। गेहूं को वसंत ऋतु तक यदि बोया न जा सका तो बोआई में देरी हो जाती है तथा फसल पर इसका कुप्रभाव पड़ता है। रूस के कई क्षेत्रों में पाला पड़ने के कारण गेहूं के पौधे नष्ट हो जाते हैं। वसंत ऋतु में बोई जाने वाली विशिष्ट जातियों का उपयोग किया जाना आवश्यक हो जाता है। परंतु इसके बाद भी पैदावार सामान्य से कम रहती है। लाइसेंको ने गेहूं के कोठारों में ही गेहूं पर उपचार करने का सुझाव दिया। इन शीतकालीन उपचारों के दौरान सूखे कोठारों में रखे गये गेहूं को जनवरी अथवा फरवरी माह में थोड़ा गीला किया जाता है तथा कोठारों के दरवाजे खोलकर हिमांक से कुछ निम्न तापमान पर गेहूं को रखा जाता है। अंकुरण के पश्चात इस गेहूं को मार्च या अप्रैल में बोया जाता है। इस वासंतीकरण तकनीक का उपयोग करने से सैकड़ों मील के उत्तरी क्षेत्रों में गेहूं की खेती करना संभव हुआ। यह गेहूं शीघ्र बढ़ता है तथा पैदावार में भी वृद्धि होती है। इस खोज का श्रेय लाइसेंको को दिया गया परंतु यह एक पुरानी पद्धति थी तथा उन्नीसवीं शताब्दी से इसे अन्य देशों में इस्तेमाल किया जाता था। परंतु लाइसेंको द्वारा जो नयी बात कही गयी वह थी इस उपचार को बार-बार या प्रतिवर्ष करने की किसी आवश्यकता का न होना। वस्तुतः यह लैमार्कवाद का पुनरुज्जीवन ही था, परंतु लाइसेंको की वासंतीकरण की उपचार पद्धति के कारण 1935 में स्टालिन द्वारा उसकी सार्वजनिक प्रशंसा की गयी। स्टालिन से प्रशंसा प्राप्त करने के लिए उसने खाद्यान्नों की पैदावार अधिक तेजी से तथा कम लागत से बढ़ाने का वादा किया। अन्य जीवशास्त्रीयों को विश्वास नहीं था कि ऐसा करना कभी संभव होगा। उस समय मेंडेल के सिद्धांतों में विश्वास करने वाला वाविलोव जैसा वैज्ञानिक आनुवंशिकीविदों का नेतृत्व कर रहा था। इसलिए लाइसेंको को इस शक्ति के विरोध

1. वासंतीकरण – vernalisation

में कड़ा संघर्ष करना पड़ा। परंतु यदि स्थिति न बदले तो मार्क्स की विचारधारा उन व्यक्तियों पर अधिक विश्वास करती है जो प्रकृति को बदलना चाहते हैं। उन व्यक्तियों पर नहीं जो प्रकृति का अध्ययन करते हैं अथवा उस पर कोई अन्वेषण करना चाहते हैं। इसीलिए वाविलोव जैसे खोजकर्ताओं को लाइसेंको जैसे परिवर्तनवादियों से अंततः पराजित होना पड़ा।

लाइसेंको ने अपने बढ़ते हुए प्रभाव के साथ संपूर्ण जीव वैज्ञानिक सिद्धांतों की नयी परिभाषा करने अथवा उसे बदल देने का काम प्रारंभ किया। पौधों के क्रमिक विकास का लाइसेंको का सिद्धांत एक व्यर्थ शाब्दिकता के अलावा कुछ भी नहीं था। इस संकल्पना के अनुसार पौधों का विकास धीरे-धीरे क्रमबद्ध तरीके से होता है। इसमें आने वाली प्रत्येक अवस्था की आवश्यकताएं दूसरी अवस्था से भिन्न होती हैं तथा पौधे की हर आवश्यकता किसी विशिष्ट तरीके से प्रकट होती है। यदि परिवेश द्वारा विकास की किसी भी अवस्था में कोई परिवर्तन किया जाता है तो इसके बाद आने वाली सभी अवस्थाओं में परिवर्तन उत्पन्न होता है। उसने प्रतिपादित किया कि ये परिवर्तन आनुवंशिक होंगे। चूंकि उसका क्रमिक विकास का सिद्धांत गुणसूत्रीय सिद्धांत से असंगत था, उसने आनुवंशिकता की नयी व्याख्या कुछ इस प्रकार की – "पूर्व पीढ़ियों में जिन परिवेशी परिवर्तनों को आत्मसात किया गया है उन परिवर्तनों का अंतिम परिणाम आनुवंशिकता है।" इस कारण उसने जीनों का अस्तित्व अस्वीकार कर दिया तथा परंपरागत आनुवंशिकी को पूंजीवाद का नैतिक ह्रास बताकर उसे निरस्त कर दिया।

लाइसेंको ने इस बात का भी दावा किया कि पौधों को दिये जाने वाले पोषक तत्वों की गुणवत्ता पर नियंत्रण रखकर उनके विकास चक्र भी बदले जा सकते हैं। ऐसा करने हेतु पौधे के स्वभाव को बदल कर उसे वातावरण संबंधी परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिए अधिक संवेदनशील बनाना आवश्यक होता है। स्वभाव बदलने हेतु उसने प्रतिकूल स्थिति, संकरण तथा कलम करने की पद्धतियों का उपयोग किया। वह कलम बांधने की पद्धति से बहुत प्रभावित हुआ। उसका कहना था कि वंशस्रोत[1] तथा सांकुर डाली[2] (कलम) एक-दूसरे को इस तरह प्रभावित करते हैं कि उनमें एकजीवीकरण होकर वे एक सच्चे रूप के संकरित पौधे का निर्माण करते हैं। उसके लिए अब यह अनिवार्य हो गया था कि मेंडेल के आनुवंशिकता के सिद्धांत का उन्मूलन कर उसके स्थान पर अपने सिद्धांत की प्रतिस्थापना करना। इस सिद्धांत को मेच्युरिनिज्म कहा जाता था। यह सब अब इसलिए संभव था क्योंकि लाइसेंको अब एक अत्यधिक प्रबल नेता बन चुका था। 1948 में उसने इसी शक्ति की सहायता से मेंडेल के सिद्धांतों को निरस्त कर दिया जिसके फलस्वरूप 1948 के बाद मेंडेल के सिद्धांत का अध्ययन करने पर रूस में पाबंदी लगा दी गयी। परंतु 1964 में इसे पुनः पढ़ाया जाने लगा क्योंकि इस साल लाइसेंको के संरक्षक ख्रुश्चेव का पतन हुआ और लाइसेंको के सभी राजनीतिक अधिकार खत्म कर दिए गये। परंतु लाइसेंको द्वारा जिस प्रकार आनुवंशिकता को विकृत किया गया था उसके प्रभाव से सोवियत (अब रूस) कृषि तथा पशुपालन अभी मुक्त नहीं हो सका है।

---

1. वंशस्रोत – stock
2. सांकुर डाली – Scion

13

आनुवंशिक जोड़-तोड़

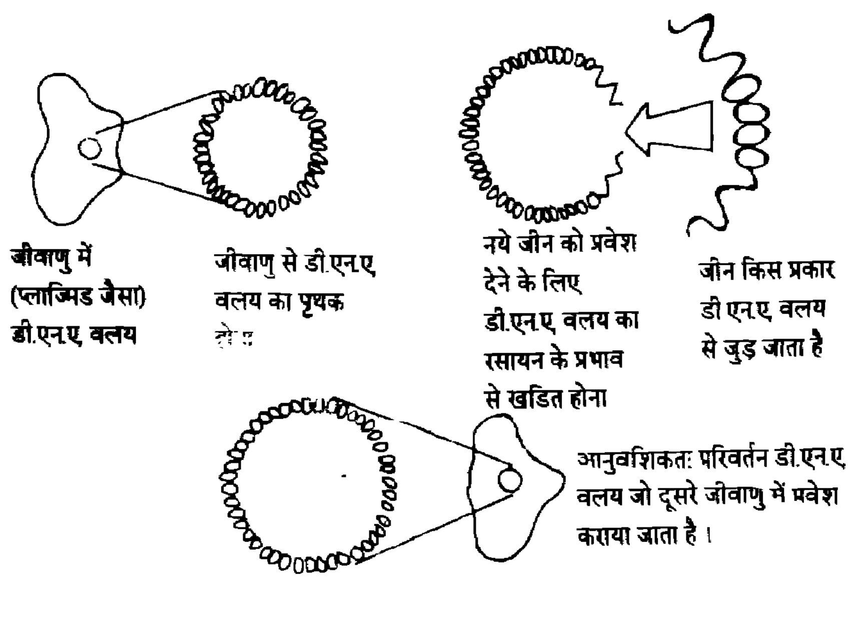
पिछले अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि दो भिन्न किस्मों के जीवाणु या जीवाणुभोजी किस प्रकार आनुवंशिक कारकों का वहन करने वाले डी.एन.ए. की परस्पर अदला-बदली करते हैं अथवा उन्हें पृथक रखते हैं अथवा उनका पुनर्मिलाप कर सकते हैं। जब तक ये नवीन तकनीकें प्रचलित नहीं थीं उस समय तक एक किस्म के जीवाणु से दूसरे किस्म का जीवाणु उत्पन्न होने का एकमात्र उपाय था शरीर में होने वाले याहच्छिक उत्परिवर्तन। इन नयी तकनीकों के आगमन से शरीर के बाहर किसी पात्र में उत्परिवर्तन करना संभव हो गया है तथा ऐसा करना कोई संयोग से होने वाली घटना नहीं है। यह किसी योजनाबद्ध तरीके से करवाया जा सकता है। इस प्रकार की संभावना उत्पन्न हो जाने के कारण हममें एक नयी आशा जगी है कि हम लोग जोड़-तोड़ से जैविक आनुवंशिकता को परिवर्तित कर सकते हैं तथा न केवल मवेशियों तथा पौधों की उन्नत जातियों का विकास कर सकते हैं वरन हम मानव के वंशानुगत गुणों में भी सुधार कर सकते हैं। अभी तक मनुष्य की विविध जातियां निर्माण करने के लिए जैविक क्रम विकास के दौरान केवल याहच्छिक उत्परिवर्तन का ही सहारा रहा है। परंतु आज मानव का विकास इतना अधिक हो चुका है कि वह अपने पैतृक गुणों में जोड़-तोड़ से ऐसे आनुवंशिक परिवर्तन कर सकता है कि अपनी जैविक नियति को नियंत्रित कर सके। इसे ही ईश्वर की भूमिका निभाना[1] या जैव इंजीनियरिंग कहते हैं।

इस प्रकार, ईश्वर की भूमिका निभाने की कल्पना का जन्म उस समय हुआ जब *इ. कोलाई* जैसे सामान्य जीवों में किसी सुनियोजित पद्धति से जीनों की अदला-बदली किये जाने की संभावना दिखाई देने लगी। *इ. कोलाई* की एक जाति के जीवाणु ट्रिप्टोफेन के बिना जीवित नहीं रह सकते तथा दूसरी जाति के जीवाणु लैक्टोज का किण्वन नहीं कर सकते। परंतु यदि *इ. कोलाई* का इन दो जातियों में संकरण किया जाये तो उत्पन्न होने वाली संतानों में कुछ पुनर्मिलापी होती हैं। परंतु इनका प्रतिशत बहुत अल्प है। ये पुनर्मिलापी संतानें ट्रिप्टोफेन के बिना न केवल जीवित रहती हैं बल्कि ये लैक्टोज का किण्वन भी करती हैं। यह घटना आण्विक स्तर पर हुए पुनर्मिलाप की घटना है। इसमें दोनों जाति के *इ. कोलाई* के पैतृक डी.एन.ए. के अणु खंडित होकर पुनः जुड़ जाते हैं तथा इसके फलस्वरूप पुनर्मिलापी अणु उत्पन्न होते हैं। अब जैव इंजीनियरी की नयी तकनीकों की सहायता से यह प्रक्रिया किसी परखनली में भी

1. ईश्वर की भूमिका निभाना – play God

की जा सकती है। आनुवंशिकीविदों ने इस पुनर्मिलाप प्रक्रिया का, कई सालों से जीनों की प्रकृति का अध्ययन करने हेतु उपयोग किया है। परंतु आज तक यह अध्ययन उन जातियों तक ही सीमित होकर रह गया है जो एक-सी हैं अथवा एक-दूसरे से लगभग अभिन्न हैं। शरीर के बाहर किसी पात्र में की जाने वाली इस प्रक्रिया की वजह से एक-दूसरो से भिन्न जाति के डी.एन.ए. अणुओं को भी जोड़ देना संभव हो गया है।

शरीर के बाहर डी.एन.ए. के अणुओं को जोड़ने की क्षमता प्राप्त कर देना 30 वर्ष से किये जा रहे उस अनुसंधान कार्य का फल है जिसमें डी.एन.ए. तथा एंजाइमों अथवा जैविक उत्प्रेरकों के गुणों का अध्ययन किया गया। ये एंजाइम डी.एन.ए. को चीरने का तथा उसकी प्रतिकृति बनाने का कार्य करते हैं। किसी डी.एन.ए. अणु से किसी जीन को पृथक होने के लिए भी वे सहायता देते हैं तथा इस तरह तराशा हुआ जीन डी.एन.ए. के दूसरे अणु में स्थानांतरित भी करते हैं (चित्र-50 देखें)। इस तरह जोड़े गये पुनर्मिलापी जीन को यात्री तथा दूसरे को वाहन कहते हैं : *इ. कोलाई* आतिथेयी व्यवस्था में दो प्रकार के वाहनों का उपयोग किया जाता है। अब स्तनधारियों की ऊतक संवर्द्धन क्रिया में अन्य किस्म की वाहन-आतिथेयी व्यवस्था का उपयोग किया जा सकता है। शरीर के बाहर वाहन तथा यात्री डी.एन.ए. का पुनर्मिलाप पूरा होने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि इस पुनर्मिलापी डी.एन.ए. को किसी ऐसी आतिथेयी कोशिका में प्रविष्ट कराया जाये जहां वह अपनी प्रतिकृति का निर्माण कर सकता है। ऐसा करते हेतु रूपांतरण प्रक्रिया का प्रयोग किया जाता है। इस प्रक्रिया को रूपांतरण प्रक्रिया कहा जाने का कारण यह है कि वाहन-यात्री डी.एन.ए. अणु को कोशिका द्वारा ग्रहण कर लेने के



चित्र 50

पश्चात एक नयी जाति निर्मित होती है तथा इसका एक समुदाय बन जाता है। इस समुदाय से अगणित संतानें उत्पन्न हो सकती हैं तथा इससे यात्री डी.एन.ए. के अणु का भंडारण तथा उत्पादन (अथवा दोनों ही) अपनी मर्जी के अनुसार किया जा सकता है।

इस प्रकार की पुनर्मिलापी आनुवंशिक जोड़-तोड़ निम्न वर्ग के एककोशी जीवाणुओं तक ही सीमित होती है। जीवाणुओं की तथा उच्चवर्ग के प्राणियों की कोशिकाएं मौलिक रूप से भिन्न होने के कारण ही ऐसा होता है। उच्चवर्गीय प्राणी तथा पौधों की कोशिकाओं में पृथक केंद्रक होता है, परंतु निम्नवर्गीय प्राणियों में ऐसा नहीं होता। अत: जीवाणुओं की कोशिकाओं में होने वाली जीव-द्रव्य की अदला-बदली से यह कहना ठीक नहीं है कि ऐसा स्थानांतरण उच्चवर्गीय प्राणियों अथवा वनस्पतियों में भी हो सकता है। जिन जीवाणुओं का प्रजनन चक्र कुछ ही मिनटों में पूरा हो जाता है (महीनों में नही), उनमें भी एक समय अथवा एक साथ एक ही कारक स्थानांतारित होता है। दोहरे अभिलक्षण (जैसे मैनिटाल का किण्वन तथा स्ट्रेप्टोमाइसिन जैसे प्रतिजैविक का प्रतिकार करने की क्षमता) जो दो पृथक जीनों द्वारा उत्पन्न होते हैं यदा-कदा ही एक साथ स्थानांतरित किये जाते हैं। जब कभी ऐसा होता भी है तब इन दोनों जीनों का एक-दूसरे के निकट होना आवश्यक होता है। परंतु अनेक जीनों द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले बहुजीनी अभिलक्षण आज तक स्थानांतरित नहीं किये गये हैं।

जीवाणु तथा विषाणुओं की बहुजातीय जोड़-तोड़ करने के बारे में दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं। नोबल पुरस्कार विजेता सर मैकफर्लेन बर्नेट की राय है कि इन प्रयोगों के दौरान कुछ विषाणु किस्में उत्पन्न होने का खतरा होता है। चूंकि ऐसी किस्में धरतीवासियों के लिए एकदम अनोखी होंगी, अत: इनके कारण प्रथम बार उत्पन्न होने वाले संक्रामक रोग भी महाभयंकर होंगे। प्रथम विश्वयुद्ध के अंतिम चरणों में यूरोप में अत्यधिक दूषित स्वरूप के इंफल्युएंजा का प्रकोप हुआ था। इस महामारी से, कम अवधि में जितने लोग मारे गये उतने शायद युद्ध की चार साल की अवधि में भी नहीं मारे गये थे। इस कारण बर्नेट ने इस प्रकार की जोड़-तोड़ को पूर्णत: प्रतिबंधित करने का समर्थन किया।

दूसरा दृष्टिकोण किसी नये प्रकार के विषैले जीवाणु के प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होने की संभावना को बहुत क्षीण मानता है। प्रयोगशाला में आनुवंशिक जोड़-तोड़ के दौरान आकस्मिक रूप से इस प्रकार के जीवाणु उत्पन्न होने की संभावना इतनी अल्प नहीं है कि उस पर कोई ध्यान नहीं दिया जाये। इस कारण जो सुझाव दिया गया है वह हमें अत्यधिक सावधानीपूर्वक काम करने के लिए सचेत करता है। हमें वकीलों जैसी सावधानी बरतनी चाहिए जो वे लोग हर मुकदमे के समय बरतते हैं। अनुसंधानकर्ताओं को चाहिए कि वे किसी प्रकार का खतरा न उठाएं चाहे वह कितना भी छोटा क्यों न हो। उनके कई साथी प्रयोगशाला में काम करते समय लापरवाही से काम करते हैं। इसके अतिरिक्त इन खतरों की व्याप्ति किसी एक व्यक्ति तक सीमित नहीं रहती तथा उसी को कोई शारीरिक हानि नहीं पहुंचती। जैविक युद्ध के एक गुपचुप हथियार के रूप में इस प्रकार के रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं का उपयोग करना कम खर्चिला तथा आसान होता है। वस्तुत: पेड़-पौधों तथा प्राणियों से संबंधित

आनुवंशिक इंजीनियरी की वजह से नयी समस्याएं उत्पन्न होती हैं जिनके समाधान खोजना अकेले विज्ञान की सामर्थ्य के परे होता है । इन तकनीकों से प्राप्त किये गये लाभों का मूल्यांकन करते समय उनके साथ-साथ उत्पन्न नयी नैतिक समस्याओं को भी ध्यान में रखना होगा । इन तथा अन्य परिणामों पर ध्यान रखते हुए कई वैज्ञानिकों ने कुछ विशिष्ट तरह के जैविक प्रयोग करने पर पांबदी लगा दी है । 1974 में पॉल बर्ग तथा उसके सहयोगियों द्वारा लिखे गये पत्र में चेतावनी देते हुए यह मांग की गयी थी कि आनुवंशिक इंजीनियरी में अनुसंधान कार्य करने पर संपूर्ण पाबंदी लगा दी जाये अथवा ऐसे प्रयोग केवल कड़े नियंत्रण के अंतर्गत किये जायें तथा इस हेतु कठोर निर्देशक नियम बनाये जायें ।

बर्ग का पत्र प्रकाशित होने के बाद के दशक में ऐसा पाया गया कि आनुवंशिक इंजीनियरी द्वारा उत्पन्न होने वाले खतरों को बहुत अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया गया है । इसलिए इस प्रकार के अनुसंधान कार्य पर लगाये गये कई कड़े प्रतिबंध अब हटाये जा चुके हैं । यह भी ज्ञात हो चुका है कि आनुवंशिक इंजीनियरी पर लगी हुई प्राकृतिक पाबंदी ही प्रर्याप्त रूप से कड़ी है । किसी भी जीव में सफल आनुवंशिक परिवर्तन करने का एक ही मार्ग उपलब्ध है और वह है इन परिवर्तनों को सफलता प्राप्त होने तक बारंबार करना । इस पद्धति के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं है । पेड़-पौधों तथा प्राणियों जैसे उच्चवर्गीय जीवों के लिए हमें उस चीज की खोज करनी होगी जिसे हैंडरसन 'शरीर का ज्ञान भंडार'[1] कहता है क्योंकि पृथ्वी पर रह रहे किसी भी जीवित प्राणी यहां तक कि सामान्य से सामान्य जीवाणु के पास भी जैविक विकास के 3 अरब वर्षों का ज्ञान भंडार सुरक्षित रखा हुआ है । इसकी बारीकियों को समझना हमारे लिए संभव नहीं है । *इ. कोलाई* को ही लीजिए । यह जीवाणु अपने दूसरे कामों के साथ जिंदा रहने के लिए सैकड़ों एंजाइम अथवा जैविक उत्प्रेरकों का निर्माण करता है । इनकी सांद्रता तथा अवकाशिक स्थान[2] का सही होना आवश्यक है । यदि हम इन आश्चर्यजनक तथा असाधारण रासायनिक क्रियाओं को समझ लेने के बाद इनके बारे में लिखने बैठें तो अनेक खंडों का एक ग्रंथ लिखा जा सकता है । केवल एक ही एंजाइम का अध्ययन पूरा करने में पूरी उम्र बितानी पड़ेगी और हम *इ. कोलाई* द्वारा निर्मित सभी एंजाइमों का संपूर्ण अध्ययन भी कर लें तो भी इस जीवाणु के अणु को संपूर्णतः जानने के लिए यह जानकारी किसी काम की नहीं होगी । जैसे-जैसे किसी जीव के जिंदा रहने के आण्विक आधार का हम गहराई से अध्ययन करते हैं वह अधिक रहस्यमय होता जाता है । हमारे सम्मुख एक अलंघ्य दीवार खड़ी हो जाती है जिसे सर मैकफर्लेन बर्नेट ने ईंटों की एक 'अनंत स्पर्शी दीवार'[3] कहा है । इसका अर्थ यह है कि जैसे-जैसे हम संपूर्ण जानकारी प्राप्त करने के अपने लक्ष्य के निकट पहुंचते हैं हमारे प्रयास भी अनंत की सीमा छूने लगते हैं । *इ. कोलाई* जैसे साधारण जीवाणु के लिए भी यह बात सही है ।

---

1. शरीर का ज्ञान भंडार – wisdom of the body
2. अवकाशिक स्थान – spatial location
3. अनंत स्पर्शी दीवार – asymptotic brick wall

परंतु उच्चवर्गीय प्राणी तथा पौधे *इ. कोलाई* जैसे एककोशी जीव तो नहीं होते। इसलिए उनका अध्ययन तीन भिन्न स्तरों पर करना आवश्यक हो जाता है। प्रथम (क) स्तर है आण्विक स्तर। दूसरा (ख) कोशिकीय स्तर तथा तीर रा (स) स्तर है संपूर्ण जीव का एक साथ अध्ययन। ये तीनों स्तर एक दूसरे से विभिन्न प्रकार से जुड़े होने के कारण यह अध्ययन काफी जटिल हो जाता है। इन कठिनाइयों के कारण पुनर्मिलापी डी.एन.ए. तकनीक का उपयोग उच्चवर्गीय पौधों तथा प्राणियों में करना एक टेढ़ी खीर है। *इ. कोलाई* जैसे जीवाणु में आनुवंशिक परिवर्तन करने हेतु उसके शरीर में एक कृत्रिम जीव समाविष्ट कराया जाता है। अभी तक यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं हो पाया है कि यह तकनीक उच्च जीवों के लिए उपयुक्त होगी अथवा नहीं। इन जीवों की जैविक रचना में परिवर्तन करने हेतु एक जीन को किसी विषाणु में जोड़ दिया जाता है तथा इस प्रकार के विषाणु से शुक्राणु अथवा डिंब को 'संक्रमित' किया जाता है। परंतु इस तकनीक के असफल होने की संभावना भी कम नहीं है क्योंकि प्राणियों की कोशिकाएं विकासीय कारणों से इस प्रकार विषाणु द्वारा अनुचित रूप से प्राप्त किये गये अधिकार का प्रतिकार करने के लिए संगठित हो सकती हैं। अतः आज की जीन को जोड़ने की तकनीक उच्च प्राणियों में संपूर्णतः विफल हो जायेगी। परंतु पर्याप्त समय उपलब्ध होने पर जीव द्रव्य में जोड़-तोड़ से परिवर्तन करने संबंधी प्राप्त की गयी जानकारी अंतिम तकनीक से कुछ न कुछ तो प्राप्त किया ही जायेगा। यह संभव है कि आनुवंशिक इंजीनियरी फसल देने वाले पौधे तथा पालतू जानवरों में धीरे-धीरे सुधार करने के अपने कौशल के कारण अपना महत्व प्रस्थापित करने में सफल होगी।

इसके बाद प्रगति का ऐसा चरण प्रारंभ होगा जिसका कुछ लोग विरोध करेंगे तथा जॉर्ज वाल्ड का साथ देते हुए ऐसा भी कहेंगे कि मानवी गुणसूत्र समूह को अछूता ही रहने दिया जाये। इस विशिष्ट प्रगति के कारण मानवी स्वास्थ्य के लिए हानिकर 1500 रोगों का इलाज जीनों की जोड़-तोड़ से किया जा सकेगा। अतः यह तकनीक अपने लिए मानवतावादी धरातल पर कुछ स्थान अवश्य पा लेगी। आनुवंशिक इंजीनियरी तकनीक का उपयोग कर मानव स्वास्थ्य के लिए हानिकर मानव जीनों को व्यक्त करने से वंचित करने के बाद आनुवंशिक जोड़-तोड़ के ऐसे नये तरीके खोजे जा सकेंगे जो हर व्यक्ति को प्राकृतिक रूप से विकास करने तथा अपनी संपूर्ण क्षमता प्राप्त करने में सहायक होंगे। इसके अतिरिक्त वे एक बेहतर मानव जाति का निर्माण भी करेंगे। परंतु यह सब एक बहुत दूर की बात है क्योंकि अभी तक जीवाणुओं से उच्चवर्गीय जीवों के लिए आनुवंशिक जोड़-तोड़ की जो संभावनाएं हैं उसे स्पष्ट रूप से प्रदर्शित नहीं किया जा सका है।

आने वाले दो दशकों में आनुवंशिक इंजीनियरी का कार्य क्षेत्र विभिन्न जीवाणुओं को मानव के लिए लाभप्रद बनाने तक ही सीमित रहेगा। *इ. कोलाई* जीवाणु को सोमैटोस्टैटिन नामक हार्मोन बनाने के काम पर लगाया जाना आज भी संभव है। इस तरह जीवाणुओं को अधिकाधिक जटिल तथा जैविक महत्व के प्रोटीनों को निर्माण करने वाले कारखानों में बदल देना संभव होगा तथा इनसे लिन जैसे हार्मोन तथा अन्य हार्मोन और औद्योगिक किण्वन के

लिए उपयोगी एंजाइम बनाये जा सकेंगे। इंसुलिन बनाने की प्रक्रिया लाखों मधुमेहियों के लिए वरदान सिद्ध होगी। इस प्रकार निर्मित इंसुलिन अधिक सस्ता होगा तथा यह मानवी इंसुलिन की प्रतिकृति होगी। अतः इसका उपयोग करने से किसी प्रकार की एलर्जी अथवा प्रतिपिंड के प्रतिकार की कोई संभावना नहीं होगी। अभी इस्तेमाल किये जाने वाले सूअरों अथवा गायों से प्राप्त किये इंसुलिन कभी-कभी शरीर द्वारा अस्वीकार कर दिए जाते हैं। इसी प्रकार, मानव रक्त में उपस्थित रक्त प्रोटीन 'फैक्टर VIII' का निर्माण किया जाना भी इस तकनीक की एक महान उपलब्धि होगी। हम अध्याय 8 में पढ़ चुके हैं कि हीमोफिलिया से पीड़ित लोगों के रक्त में यह प्रोटीन उपस्थित नहीं होती। इस रोग का इलाज करने हेतु इस तत्व की आवश्यकता होती है। अब यह ज्ञात कर लिया गया है कि इसका निर्माण करने वाला जीन X गुणसूत्र में स्थित एक जीन है। तत्पश्चात इस जीव को पृथक कर लिया गया है तथा इसका क्लोन बना लिया गया है। इससे फैक्टर VIII के जीन का क्लोन भी तैयार कर किया गया है। इस प्रकार, यकृत-शोथ अथवा एड्स उत्पन्न करने वाले विषाणुओं से पूर्णतः मुक्त एक शुद्ध पदार्थ बनाने की दिशा में पहला कदम रखा जा चुका है। सैन फ्रांसिस्को की 'जेनटेक' नामक आनुवंशिक तकनीकी कंपनी दो या तीन सालों में इसे बनाने हेतु एक औद्योगिक प्रक्रम प्रारंभ करने की बात पर विचार कर रही है।

आनुवंशिक इंजीनियरी की भावी उपलब्धियों में सुरक्षित तथा अधिक प्रभावक्षम वैक्सीन बनाना तथा बहुत से रोगों को ठीक करने वाले प्रतिजीवाणुओं की अधिक मात्रा बनाने की योजनाएं शामिल हैं। इसका एक अत्यंत आशाजनक उदाहरण है इंटरफेरान के उपयोग में पुनर्संयोजी (रिकाम्बिनेंट) डी.एन.ए. का प्रयोग। अभी तक जन्य रोगों तथा कैंसर का इलाज इंटरफेरान द्वारा किया जाता है, परंतु इसमें कई कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। पुनर्संयोजी डी.एन.ए. की तकनीक द्वारा मानव में इंटरफेरान बनाने वाले जीनों को पृथक कर लिया गया है तथा उनके प्रतिरूप भी बनाये गये हैं। *इ. कोलाई* में इन जीनों को समाविष्ट कराना भी सफलतापूर्वक कर लिया गया है। अब ये जीन पर्याप्त मात्रा में इंटरफेरान का निर्माण करते हैं। इसे उन जीवाणुओं द्वारा परिशुद्ध किया जाता है जो इनके प्रतिरूप नहीं हैं।

वस्तुतः हाफमन-ला रोशे नामक अमेरिकी कंपनी 400 लिटरों की किण्वन टंकियों की एक श्रृंखला में नियमित रूप से इस पदार्थ का निर्माण कर रही है। *इ. कोलाई* की कोशिकाओं में पुनर्संयोजी मानवी इंटरफेरान बनाने के लिए डी.एन.ए. समाविष्ट किया जाता है। ये जीवाणु अपने शरीर में उत्पन्न किये जाने वाले हजारों अन्य प्रोटीनों के साथ इंटरफेरान भी बनाते हैं। यह एल्फा इंटरफेरान होता है। जब जीवाणुओं की कोशिकाओं की संख्या अधिकतम हो जाती है तब इन्हें मार डाला जाता है तथा किण्वन टंकियों से बाहर निकाला जाता है। फिर अपकेंद्रण[1] यंत्र द्वारा उन्हें एकत्रित किया जाता है। मानवी इंटरफेरान को पृथक कर चिकित्सा परीक्षणों में उपयोग हेतु उसे परिशुद्ध किया जाता है। विषाणुजन्य रोग तथा कैंसर का प्रतिकार करने की इंटरफेरान की क्षमता ज्ञात करने हेतु व्यापक पैमाने पर परीक्षण चल रहे हैं। इनसे इस बात के

1. अपकेंद्रण यंत्र – centrifuge.

संकेत मिलते हैं कि ज्वर, सर्दी-जुकाम, पेट की छोटी-मोटी गड़बड़ी, मांसपेशियों का दर्द, थकावट, अग्निमांद्य आदि में अशोधित अथवा अपरिष्कृत इंटरफेरान का उपयोग करने से उत्पन्न होने वाली शिकायतें उत्पन्न नहीं होतीं यदि उचित इंटरफेरान का उपयोग किया जाये। विशिष्ट रोगों का इलाज विशिष्ट प्रकार से बनाये इंटरफेरान से किया जा सकता है। हम लोग प्राकृतिक रूप से उपलब्ध होने वाले इंटरफेरान का ही उपयोग करते थे क्योंकि हम केवल इसी इंटरफेरान को जानते थे। अब इंटरफेरान के ऐसे विशिष्ट प्रकार के अणु बनाना संभव है जो विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त आनुवंशिक इंजीनियरी का उपयोग वनस्पतियों की गुणवत्ता में सुधार करने हेतु किया जाता है। ऐसा करने का एक तरीका है आज उगायी जाने वाली ऐसी फसलों में, जो लैंगिक समेकन की प्राकृतिक विधि से प्रजनन नहीं करतीं, ऐसे गुण उत्पन्न करना जो रोगों का प्रतिकार कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, आलू में टमाटर की कुछ जातियों में विद्यमान रोग प्रतिकरक गुणों को समाविष्ट कराना। दूसरा उपयोग पौधों में (खाद्यान्नों में) हवा के नाइट्रोजन का सीधा विनिवेशन करने की क्षमता उत्पन्न करना, ताकि वे अपने लिए उर्वरक स्वयं उत्पन्न कर सकें। यह प्राचीन समय में जंगली पौधों को खेती योग्य बनाने जैसी महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इस प्रकार, समेकन का अनोखा कार्य करने हेतु हमें उन लैंगिक बाधाओं को पार करना होगा जो गेहूं तथा सेम के संयुग्मन से नयी जातियां उत्पन्न करते समय हमारे लिए कठिनाइयां उत्पन्न करती हैं। जब भी कभी इन बंधनों तो तोड़ने के लिए आवश्यक तकनीकें हम खोज लेंगे तब पौधों तथा जीवाणुओं अथवा पौधों तथा प्राणियों के जीनों का एकीकरण कर प्राणियों की और पौधों की बेहतर जातियां निर्माण करने का हमारा सपना पूरा होने की संभावना बन जायेगी। यदि प्राणी तथा वनस्पतियों के जीनों का समेकन करने में हम सफल हो जाते हैं तो हम ऐसी वनस्पतियां उत्पन्न कर सकेंगे जो समुद्र के पानी में पैदा की जा सकेंगी, आलू तथा अन्य खाद्यान्न खारे पानी में पैदा होंगे तथा पाले का सफल मुकाबला करने वाले टमाटर के पौधे और ऐसी ही अनेक चमत्कारी वनस्पतियां उगा सकेंगे जिनकी कल्पना तक आज हम नहीं कर सकते।

ऐसी आश्चर्यजनक उपलब्धियां कब प्राप्त होंगी यह कहना फिलहाल कठिन दिखाई देता है। इसलिए आज के अनुसंधानकर्ताओं का लक्ष्य सीमित कार्य को शीघ्र तथा कम अवधि में पूरा करना है। आज के अनुसंधान का पर्याप्त रूप से आशाजनक कार्य है नाइट्रोजन विनिवेशन करने वाले पौधों का विकास। ये पौधे अपना खाद स्वयं बनाकर अत्यधिक बड़े पैमाने पर खर्च करने वाले कृत्रिम उर्वरक उद्योगों से हमें मुक्ति दिलायेंगे। यद्यपि आज इस प्रकार का कोई पौधा अस्तित्व में नहीं है, ऐसे अनेक पौधे आज विद्यमान हैं जो उनकी जड़ों के इर्द-गिर्द बसने वाले जीवाणुओं की सहायता से नाइट्रोजन विनिवेशन का काम करते हैं। यदि इन पौधों को इस प्रकार परिवर्तित किया जाये कि नाइट्रोजन विनिवेशन का काम ये इन जीवाणुओं की सहायता के बिना कर सकें तो यह एक बड़ी उपलब्धि होगी। इस कार्यक्रम के लिए बहुत समय लगने की संभावना है और कब पूरा होगा यह कहना आसान नहीं है, परंतु गत दशक में इस

दिशा में काफी प्रगति की गयी है।

1970 तक कोई भी अनुसंधानकर्ता इस काम के विषय में बहुत कम जानता था, परंतु 1972 तक *क्लेबसील्ला न्यूमोनिया* नामक सूक्ष्म जीव से नाइट्रोजन विनिवेशी क्रियाशील जीनों को *इ. कोलाई* में समाविष्ट करने का काम सफलतापूर्वक किया गया। परंतु इस नाइट्रोजीनेस-एंजाइम संकर में प्रोटीनों की तीन यूनिट ही उपस्थित होती हैं। जीनों की इतनी बड़ी संख्या में उपस्थिति आश्चर्यजनन प्रतीत होती है तथा इससे नाइट्रोजन विनिवेशन क्रिया कितनी जटिल है, यह बात भी स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार, एक जीवाणु से दूसरे जीवाणु में जीनों का स्थानांतरण किये जाने की घटना से अब इन जीनों को पौधों में समाविष्ट किये जाने के अगले कदम के भी सफल होने की संभावना बढ़ गयी है। अतः, हम लोग इस पुनर्संयोजी डी.एन.ए. तकनीक का उद्योगों, चिकित्सा तथा कृषि क्षेत्र में उपयोग करके कई लाभदायक उपलब्धियां प्राप्त कर सकते हैं।

अब जीनों की सहायता से मानव के लिए लाभदायी दवाइयां, खाद्यान्न तथा रासायनिक पदार्थों का निर्माण करने की अत्यधिक शक्तिशाली तकनीकों का एक सेट हमें उपलब्ध हो चुका है। इन तकनीकों से मिलने वाले भावी लाभों को ध्यान में रखते हुए *इ. कोलाई* जैसे सुरक्षित परंतु बड़े पैमाने पर किये जाने वाले औद्योगिक किण्वन के लिए अधिक उपयोगी जीवाणुओं की पहचान कर उन्हें अपने काम के लिए तैयार करना अथवा पालतू बनाना आवश्यक है। इस शताब्दी के अंत तक कई प्रकार की यात्री-वाहक अथवा अतिथेय-वेक्टर पद्धतियां विकसित की जायेंगी तथा उनका उपयोग औद्योगिक उत्पादन के लिए किया जायेगा।

14

स्वार्थी जीन

आपको इस बात का स्मरण होगा कि हमने दूसरे अध्याय में कहा था कि आनुंवशिकता तथा परिवेश के बीच के परस्पर संबंध आज्ञावली तथा कंप्यूटर उपकरण के परस्पर संबंधों जैसे ही होते हैं। परंतु एक ऐसी मशीन बना लेना, जो जैविक वातावरण में जीनों द्वारा किये जाने वाले आचरण का थोड़ा-सा अनुकरण करती हो, इस बात का प्रमाण नहीं माना जा सकता कि जीन तथा मशीन के कार्य करने की पद्धति एक-सी होती है। यह बात वैसी ही है जैसे पक्षी तथा विमान की कार्यप्रणाली एक होने की बात सोचना, क्योंकि इन दोनों में केवल इतना ही साम्य है कि वे दोनों उड़ सकते हैं। इस प्रकार के तर्कों के पीछे छिपे हुए शाब्दिक छल-कपट को अनदेखा करते हुए कुछ जीवविज्ञानियों ने अत्यधिक स्थूल तथा परोक्ष रूप से की गयी तुलना को आगे बढ़ाते हुए प्रतिपादित किया कि जीन हमारा आचरण नियंत्रित करते हैं। परंतु जीनों को दिया गया यह काम स्पष्ट रूप से संदिग्ध है। इस बात को सभी जीवविज्ञानियों ने मान लिया है कि जिस प्रकार हमारा रूप तथा आकार और हमारी शारीरिक क्रियाएं जीनों के अधीन होती हैं उसी प्रकार हमारा आचरण भी उन जीनों के अधीन होता है जो प्राकृतिक वरण के बाद भी बचे हुए हैं। परंतु नयी विचारधारा के सामाजिक-जीववैज्ञानिक इस सुस्पष्ट सत्य को अत्यधिक अतिरंजित रूप में प्रस्तुत करते हुए ऐसा दावा करते हैं कि सभी वर्णनीय आचरण नैसर्गिक वरण के कारण ही उत्पन्न होते हैं। उच्च मध्यवर्ग की कामलोलुपता भी लिंग सहलग्न अथवा लिंग सीमित जीनों के कारण ही उत्पन्न होती है। यह विचार 1976 में प्रकाशित अपनी विवादास्पद पुस्तक में रिचर्ड डाकिन्स द्वारा प्रस्तुत किया गया तथा उसे काफी लोकप्रिय भी बनाया गया।

इस पुस्तक की भूमिका में डाकिन्स ने अपना दावा कुछ इस प्रकार प्रस्तुत किया है – "हम लोग अतिजीविता के यंत्र[1] हैं — रोबोट माध्यम हैं जो स्वार्थी अणुओं, जिन्हें हम जीन कहते हैं, का परिरक्षण करने के लिए योजनाबद्ध तरीके से बनाये गये हैं। यह एक ऐसा सत्य है जो आज भी हमें आश्चर्यचकित कर देता है।" यह पढ़कर बहुत आश्चर्य होता है कि जिन जीनों को हमने अपने माता-पिता से वंशागत रूप में प्राप्त किया है वे जीन हमें हमारी आज की स्थिति में लाने के साधन नहीं हैं, परंतु हम लोग ही जीनों को जीवित रखने के लिए बने हैं। अथवा अपना अमरत्व बनाये रखते चल रहे इस स्वार्थी संघर्ष में वे हमें गुलाम बनाकर हमसे

1. अतिजीविता के यंत्र – survival machines.

वैसा ही आचरण करवाते हैं जैसा आज का हमारा आचरण है। इस तरह हमें बंदी बनाकर हमारी निष्क्रियता से जीनों द्वारा किस प्रकार स्वार्थ साधन किया जाता है,यही इस किताब का मुख्य स्वर है। डाकिन्स के अनुसार – "ये (जीन) विशाल समुदायों में रहते हैं जो महाकाय भद्दी चाल चलने वाले रोबो के अंदर सुरक्षित हैं तथा बाहरी दुनिया से इनका कोई संपर्क नहीं होता। ये उस दुनिया से संपर्क करने हेतु कष्टसाध्य अप्रत्यक्ष तरीकों का उपयोग करते हैं। उस पर नियंत्रण रखने के लिए दूरस्थ साधनों का उपयोग करते हैं। वे आपके तथा मेरे शरीर में हैं। उन्होंने हमें उत्पन्न किया है। हमारा मन तथा शरीर भी उन्हीं का बनाया हुआ है तथा उन्हें बनाये रखना ही हमारे जीवन का मूल कारण है। इन नकल करने वालों ने बहुत प्रगति कर ली है। अब इन्हें जीन कहा जाता है तथा हम उनका परिरक्षण करने वाले यंत्र हैं।" वह अपना दावा पुनः कुछ इस प्रकार दोहराता है — "वह (अर्थात जीन) पीढ़ी दर पीढ़ी एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है तथा एक के बाद एक शरीरों का उपयोग अपने स्वार्थ के लिए अपने तरीके से करता है। इस प्रकार नश्वर शरीरों को क्रमशः छोड़ता चला जाता है इससे पूर्व कि वे वृद्ध हो जायें अथवा उनकी मृत्यु हो जाये।" सामाजिक जीवविज्ञानियों ने साधन के स्थान पर साध्य को रखकर जिस विपरीत बात को प्रदर्शित किया है वह व्होल्टेअर की अद्वितीय व्यंगात्मक कृति 'कैंडिडे' के प्रोफेसर पेनग्लास के प्रतिपादन जैसा ही हास्यास्पद है। इसमें कहा गया है कि नाक इसलिए बनायी गयी है कि चश्मा रखने के लिए एक आधार आवश्यक था। पैर मोजे पहनने के लिए बने हैं। किलों का निर्माण करने हेतु पत्थर बने हैं तथा ऐसी ही अन्य मूर्खतापूर्ण बातें कही गयी हैं। यदि यह सच नहीं है तो जीन तथा उनके द्वारा उत्पन्न किये गये जीवों के परस्पर संबंध के बारे में प्रस्तुत किये गये इस विपरीत दृष्टिकोण का कारण क्या हो सकता है?

इसका एक कारण है आबादी बढ़ने के कारण चूहों की जनन क्षमता में कमी। जब आबादी में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है तब प्राकृतिक वरण के कारण अपनी प्रजनन क्षमता घटा देने वाली मादाओं के प्रति पक्षपातपूर्ण रवैया क्यों अपनाया जाता है,इस प्रश्न का उत्तर देने हेतु डाकिन्स ने अपना 'स्वार्थी जीन' का सिद्धांत प्रेस्तुत किया है। उसका कहना है कि उसका सिद्धांत वर्तमान सिद्धांत से बेहतर है क्योंकि इसके अनुसार कम प्रजनन करने वाली मादाएं प्राकृतिक वरण के कारण ही बची रहती हैं। परंतु आबादी को अपने सिद्धांत के लिए चुनना एक वैसा ही खेल है जिसमें 'आंट सैली' नामक काठ की औरत को खड़ा किया जाता है तथा उसे गिराकर आनंद उठाया जाता है। जिन दो तर्कों का डाकिन्स द्वारा विरोध किया जा रहा है उनमें यह मान लिया गया है कि प्रजनन क्षमता में आने वाली कमी जनाकीर्णता का सामना करने के लिए निर्माण की गयी एक आनुवंशिक युक्ति है। यह जिंदा रहने के लिए आवश्यक है। वह इस संभावना की उपेक्षा करता है कि प्रजनन क्षमता में आने वाली कमी एक अपने आप उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रिया है जो अतीव जनाकीर्णता के कारण अंतःस्रावी ग्रंथियों की कार्यविधि में परिवर्तन होने के कारण उत्पन्न हुई है।

1981 में प्रकाशित 'दी एक्सटेंडेड फीनोटाइप' नामक ग्रंथ में डाकिन्स ने यह स्वीकार किया

है कि यदि उसे जीन तथा कंप्यूटरों के विषय में प्रचलित दंतकथाओं का ख्याल रहता तो वह हम लोगों को 'अतिजीविता के यंत्र' कहने के बारे में अधिक सतर्क रहता । जो मिथ्या बात उसके मन में है वह एक सामान्यतः प्रचलित धारणा है जिसके अनुसार आनुवंशिक परिणाम अनुत्क्रमणीय होते हैं, परंतु परिवेशी परिणाम नहीं होते । ऐसी धारणा बनने का कारण है लिंग, आंखों का रंग, त्वचा में उपस्थित रंग द्रव्य, रक्त का समूह आदि का अनुत्क्रमणीय होना । केशविन्यास अथवा शृंगार प्रसाधन के कारण उत्पन्न सौंदर्य जैसे परिवेशी गुण आसानी से परिवर्तित हो जाते हैं । यही बात आनुवंशिक तथा परिवेशमूलक रोगों के लिए भी सही है । आनुवंशिक रोगों का सफल इलाज करना अथवा उन्हें प्रतिबंधित करना एक कठिन कार्य है । इन रोगों में हीमोफिलिया, कूली की रक्तक्षीणता, हटिंगटन का कोरिया, फेनिल किटोन्यूरिया तथा डाउन्स सिंड्रोम आदि रोगों का समावेश किया जाता है । परिवेशी रोग अधिक आसानी से ठीक हो जाते हैं । यह तो सभी जानते हैं कि आनुवंशिकता द्वारा जारी किये गये फरमान इतनी आसानी से निरस्त नहीं किये जाते जितनी आसानी से परिवेश के फरमान निरस्त हो जाते हैं । ऐसी कोई संभावना नहीं है कि डाकिन्स इन बातों से अनभिज्ञ हो । परंतु इसके बावजूद उसने आनुवंशिकता तथा परिवेश की इस मौलिक भिन्नता को 'एक विनाशकारी एवं मूर्खतापूर्ण' विचार कहकर उसका कोई दखल नहीं किया आगे चलकर उसने यह निष्कर्ष निकाला है – "सैद्धांतिक दृष्टि से आनुवंशिक तथा परिवेशी कारणों में कोई फर्क नहीं होता । इनके कुछ प्रभावों का उत्क्रमण आसानी से किया जा सकता है. परंतु कुछ का नहीं । उचित कारक का उपयोग करने से कुछ परिणामों को आसानी से उत्क्रमित किया जा सकता है । इसमें यह बात महत्वपूर्ण है कि आनुवंशिक प्रभाव परिवेशी प्रभावों की तुलना में अधिक अनुत्क्रमणीय होते हैं, ऐसा मानने के लिए हमारे पास कोई आधार नहीं है ।"

यह सच है कि कभी किन्हीं विरल घटनाओं में आनुवंशिक परिणाम स्वयं ही उत्क्रमित हो जाता है, जैसे कोई व्यक्ति अपना लिंग परिवर्तित कर ले, परंतु इस प्रकार का हर एक परिवर्तन एक आभासी परिवर्तन होता है, वास्तविक परिवर्तन नहीं होता । यह परिवर्तन किसी तरह की आनुवंशिक असामान्यता के कारण होता है । अतः उसका मूल आनुवंशिक है । इसी प्रकार, आनुवंशिक रोगों को उत्पन्न करने वाले कुप्रभावों को किसी रासायनिक पदार्थ की सहायता से कम किये जाने के भी कुछ प्रकरण ज्ञात हैं । इस प्रकार का एक रसायन हीमोफिलिया से पीड़ित लोगों के खून में थक्के बनाने के लिए विशेष रूप से बनाया गया है । परंतु इसकी सहायता से उस रोगी का खून सामान्य नहीं बनाया जा सकता । इस तरह के छिटपुट उदाहरणों अथवा अपवादों को आधार बनाकर आनुवंशिक तथा परिवेशी परिणामों की उत्क्रमणीयता समतुल्य बनाने का प्रयास डाकिन्स द्वारा किया जा रहा है । इस अयुक्तिसंगत छलांग के कारण उसे यह अधिकार प्राप्त हो गया है कि परिवेश की तुलना में आनुवंशिकता कम परिवर्तनशील है – इस सामान्य तथा सही धारणा को वह एक दंतकथा कह सके ।

परंतु यही सब कुछ नहीं है । लोग इस बात पर विश्वास करते हैं कि कंप्यूटर को दी गयी आज्ञा का अत्यधिक कड़ाई से पालन किया जाता है । इसी विश्वास को डाकिन्स अपनी गर्वोक्ति

से तोड़ना चाहता है। वह बड़ी धूर्ततापूर्वक ऐसा तर्क देता है कि यह एक मिथ्याभास है जिसे वह कंप्यूटर मिथ्याभास कहता है। यह मिथ्याभास आधुनिक लोगों के मन में गहराई से स्थापित हो चुका है। इसका ही दूसरा प्रतिबिंब है जीन-मिथ्याभास। यह भी उतनी ही गहराई से स्थापित हो चुका है। वह इस बात को अब स्वीकार करता है कि उपर्युक्त कथन में 'रोबोट' शब्द का उपयोग करना वस्तुतः गुमराह करना ही था क्योंकि रोबोट शब्द से लोग कठोर दृढ़ता को जोड़ देते हैं; इसलिए ऐसा करना उचित न था। परंतु जब उसने यह बात लिखी थी तब उसके मन में कठोरता का कोई विचार नहीं था।

संक्षेप में, अब ऐसा कहा जा सकता है कि डाकिन्स ने स्वीकार कर लिया है – असावधानी के कारण दो प्रबल भ्रांतियां — जीन विषयक तथा कंप्यूटर विषयक – एक-दूसरे से मिल जाने ने कारण उसकी किताब, 'द सेल्फिश जीन' के उद्देश्य को लेकर कुछ हास्यास्पद भ्रांत धारणाएं बन गयी थीं। अपनी पहली असमर्थनीय स्थिति से छुटकारा पाने का यह एक दूर का रास्ता था। उसे निर्भीक होकर यह कहना चाहिए था कि डार्विन का प्राकृतिक वरण का प्रभावी विकासवाद का सिद्धांत उसे इस सीमा तक प्रभावित कर गया कि उसकी वैधता की सीमाओं को वह पहचान न सका तथा उसने इन सीमाओं का दायरा उनकी वैधता की ग्राह्य सीमाओं से आगे बढ़ा दिया।

15

आनुवंशिकता और राजनीति

आनुवंशिकता की राजनीति प्राचीन समय के नगर राज्यों जितनी ही पुरानी है। ये राज्य नव पाषाण युग में हुई क्रांति के बाद जनजागरण के कारण उत्पन्न हुए थे। इन राज्यों के कारण ही मानव समाज में राजनीति की जड़ें मजबूत हुईं। उस प्राचीनतम समय से आज तक जनमानस में प्रचलित धारणा यह है कि आनुवंशिकता रक्त से ही उत्पन्न होती है। अत: अपने माता-पिता के रक्त के मिश्रण से ही संतानें उत्पन्न होती हैं। इन नवजात नगर राज्यों के शासकों को अपने रक्त की श्रेष्ठता पर गर्व था और इस रक्त की शुद्धता बनाये रखने के लिए वे अंतःप्रजनन अपनाते थे। इस सीमित अंतःप्रजनन में एक राजकुमार की शादी किसी राजकन्या के साथ की जाती, निम्न कुलों में जन्मी किसी दासी अथवा गुलाम से नहीं। मिस्र के फराओ जैसे राजघरानों में इतनी प्रचुर आत्मश्लाघी अहंमन्यता थी कि इस सीमित प्रजनन से वे संतुष्ट नहीं थे। वे संपूर्ण अंतःप्रजनन के पक्षधर थे। अत: राज्य का उत्तराधिकारी केवल अपनी बहन से ही शादी कर सकता था। राज्य की अथवा राज्य के बाहर की कोई भी अन्य राजकन्या उसके लिए सुयोग्य वधू नहीं मानी जाती थी।

प्लेटो ऐसा प्रथम दार्शनिक था जिसने इन उत्तराधिकारी विषयक रूढ़ियों को आनुवंशिक आधार प्रदान किया। उसके सबसे महत्वपूर्ण संवाद 'द रिपब्लिक' में एक आदर्श राष्ट्रकुल पर विचार किया गया है। उसकी परिकल्पना के अनुसार यह राष्ट्रकुल एक त्रि-स्तरीय पिरामिड था, जिसके अधोभाग में गुलाम अथवा सामान्य लोग थे और शिखर पर श्रेष्ठ वर्ग के शासक अथवा अभिभावक या संरक्षक होते थे। इन अभिभावकों को ही शासन करने का एकाधिकार प्राप्त था। शासक तथा गुलामों के बीच का स्थान मध्यवर्गी सिपाहियों का होता था। प्रारंभ में विधान शासकों का चयन करते, परंतु इसके बाद यह अधिकार वंशपरंपरागत उनके कुल में चलता रहता। परंतु कुछ साधारण व्यक्तियों के असाधारण बच्चों के बारे में प्लेटो ने जो विचार प्रकट किये हैं वे आज की हमारी उत्परिवर्तन की कल्पना के समान ही हैं। इसलिए निम्नवर्ग के होनहार बच्चे को ऊपर के वर्ग में स्थान दिया जाता तथा असंतोषप्रद होने के कारण अभिभावक या उच्चवर्ग के बच्चे को पदावनत किया जाता। प्लेटो ने यह भी

1. प्लेटो ने 'द लॉज़' (कानून) नामक पुस्तक में नागरिकों की पर्याप्त संख्या 5040 होने की बात कही है। यह संख्या युद्ध तथा शांति के दौरान किये जाने वाले जमीन का विभाजन तथा कर जैसे विभिन्न कामों के लिए पर्याप्त होती। इस पर आश्रित गुलामों को मिलाकर यह संख्या 60;000 तक पहुंच गयी होती।

अधिकारपूर्वक प्रतिपादित किया था कि विधानसभा द्वारा चुनी हुई स्त्रियों तथा पुरुषों को, जिन्हें अभिभावक कहा जाता था, सामुदायिक घरों में रहना चाहिए, साथ-साथ भोजन भी करना चाहिए तथा इन पुरुषों की पत्नियां भी सर्वनिष्ठ होनी चाहिए। मूल 'रिपब्लिक' ग्रंथ में कहा गया है, "ये सभी स्त्रियां इन पुरुषों की सर्वनिष्ठ पत्नियां होंगी। कोई भी किसी की अपनी स्वतंत्र पत्नी नहीं होगी।" मुलर ने प्लेटो की इस परिकल्पना को आधुनिक रूप में प्रस्तुत किया। उसके प्रस्ताव के अनुसार, उत्कृष्ट पुरुषों के वीर्य का उपयोग कृत्रिम गर्भाधान के लिए किया जाना चाहिए। इस बात का उल्लेख प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। सर्वनिष्ठ अर्थात सबकी पत्नी के प्लेटो के सुझाव पर उस समय जितना विवाद हुआ था उतना ही मुलर की परिकल्पना के कारण भी हुआ। मुलर की मृत्यु 1967 में हुई, परंतु उसका सुझाव निकट भविष्य में व्यावहारिक रूप से उपयुक्त होगा, इसकी कोई संभावना नहीं है।

परंतु मुलर से प्लेटो एक कदम आगे था। अपने अभिभावकों की आनुवंशिकता की शुद्धता को सुरक्षित रखने से ही वह संतुष्ट नहीं था। उसने जनसंख्या नियंत्रित करने की अपनी संकल्पना को विकसित किया तथा अधिकृत सार्वजनिक प्रजनकों के विवाह संबंधी सुजनन शास्त्र पर आधारित कुछ सुझाव दिये। इन प्रस्तावों के अनुसार दुल्हनों तथा दूल्हों को कुछ विशिष्ट त्योहारों के समय एकत्र किया जाता तथा एकत्रित व्यक्तियों की संख्या इस प्रकार नियंत्रित की जाती कि जनसंख्या स्थायी रहती। उन्हें ऐसा लगता था कि वे भाग्यवश एकत्रित हुए हैं। परंतु वस्तुतः शहर के शासक सुजनन के सिद्धांतों के अनुसार उन्हें योजनापूर्वक एकत्रित करते थे। इस योजना का उद्देश्य था उत्कृष्ट पिता से सर्वाधिक संतानें उत्पन्न करवाना। यह काम वैसा ही था जैसा पशुशालाओं में अभिजात सांड द्वारा ही सभी गायों को फलित करने का लक्ष्य होता है। जिस प्रकार जानवरों से उनके बच्चों को जन्म के तुरंत बाद दूर हटा दिया जाता है उसी प्रकार सभी शिशुओं को जन्म से ही अपने मां बाप से पृथक कर दिया जाना चाहिए तथा इनकी देखभाल इस तरह करनी चाहिए कि कोई भी यह जान न सके कि कौन किसका बच्चा है अथवा कोई भी बच्चा अपनी मां या पिता को पहचान न सके। अपाहिज बच्चे तथा निम्नस्तरीय मां बाप के बच्चों को "किसी गुप्त स्थान पर भेज दिया जाना चाहिए क्योंकि ऐसा करना जरूरी है।" शासन द्वारा अनधिकृत समागम से उत्पन्न बच्चों को अवैध कहा जायेगा। गर्भवती माताओं की आयु 20 से 40 साल के बीच होनी आवश्यक है तथा गर्भाधान करने वाले पिता की उम्र 25 से 55 वर्ष के बीच होनी चाहिए। इस आयु सीमा के बाहर भी संभोग प्रतिबंधित नहीं, परंतु यदि इससे गर्भाधारणा हो जाये तो भ्रूण को गर्भपात से नष्ट करना आवश्यक होगा। इस तरह शासन द्वारा तय की गयी शादियों पर आपत्ति उठाने का अधिकार किसी को नहीं होगा तथा 'प्यार हो जाना' आदि सामान्य भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं होगा।

इस काल्पनिक रिपब्लिक के प्रस्तावों को व्यावहारिक रूप देना ही प्लेटो का उद्देश्य था। आधुनिक आदर्श स्थितियों की कल्पना करते समय उन्हें व्यावहारिक रूप देना किसी का लक्ष्य नहीं होता। प्लेटो ने इस हेतु सायराक्यूज के कनिष्ठ तानाशाह डायनोसिअस की सहायता से

कार्य प्रारंभ किया । परंतु इस काम में प्लेटो पूर्णतः असफल रहा । परंतु शासक वर्ग प्लेटो द्वारा सुझायी गयी वरणक्षम प्रजनन की पद्धति का ही उपयोग करते रहे । श्रेष्ठ वर्ग के लोगों में प्रचलित सगोत्र विवाह पद्धति ने लाखों वर्षों की प्राचीन सामंती व्यवस्था का समर्थन किया है । उन्नीसवीं सदी में दासता का उन्मूलन होने तक या जनसाधारण को मताधिकार प्राप्त होने तक इसे एक स्वयंसिद्ध सत्य मानकर इसका वैज्ञानिक औचित्य सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं थी । जॉन बाल के पुराने युद्धघोष की दुहाई देते हुए टॉम पेन, कार्ल मार्क्स आदि लोगों ने जनसाधारण के अधिकारों के लिए संघर्ष किया । इस युद्धघोष का अर्थ कुछ ऐसा था – "जब आदम तथा हव्वा का जन्म हुआ तब सभी एक से थे ।"

तो फिर भद्र पुरुष तथा अन्य लोगों में यह फर्क अब क्यों किया जा रहा है ? इस धारणा को मजबूत बनाने हेतु विज्ञान की सहायता की आवश्यकता अनुभव हुई ताकि जैविक आनुवंशिकता को भी अपनी संपत्ति के समान ही उत्तराधिकारी को सौंपा जा सके । जिस प्रकार रोम के पवित्र साम्राज्य के स्वामित्व के साथ-साथ हैब्सबर्ग की विशिष्ट हनु भी उत्तराधिकारी को प्राप्त होती थी, इस तरह का समर्थन कुछ समय के पश्चात एक नये जैवविज्ञान से प्राप्त हुआ । यह विज्ञान स्पष्ट रूप से मानव स्वास्थ्य तथा मानव कल्याण में सुधार करने के उपक्रमों से संबंधित था । इस शास्त्र का संबंध अखिल मानव जाति की उन्नति से था न कि केवल अभिजात वर्ग के शासकों के आनुवंशिक पतन को प्रतिबंधित करने से । ब्रिटेन के जीव वैज्ञानिक सर फ्रांसिस गाल्टन द्वारा सुजनन विज्ञान[1] की नींव रखी गयी । सुजनन अर्थात 'यूजेनिक्स' शब्द ग्रीक भाषा के 'यूजेनिया' शब्द से बना है । इसका अर्थ होता है उचित प्रकार से जन्मा हुआ । सुजनन की परिभाषा कुछ इस प्रकार की गयी थी – "सामाजिक नियंत्रण में रहने वाले उन साधनों का अध्ययन करना जो आगामी पीढ़ियों के वंशागत (आनुवंशिक) शारीरिक अथवा मानसिक गुणों में उन्नति करने अथवा उन्हें निर्बल बनाने के लिए उपयोग में लाये जा सकते हैं ।"

गाल्टन, मेंडेल के कार्य से पूर्णतः अनभिज्ञ था । परंतु अपने चचेरे भाई डार्विन की 'जातियों का उत्पत्ति' (ओरिजिन आफ स्पीशीज) नामक पुस्तक पढ़कर मनुष्य पर आनुवंशिकता का कितना प्रभाव है इसकी जानकारी उसे हुई । इससे वह बहुत प्रभावित हुआ । इसीलिए गाल्टन ने ब्रिटेन के उत्कृष्ट गुणवालों का अध्ययन आनुवंशिकता के संदर्भ में प्रारंभ किया । अपने अध्ययन से उसने यह निष्कर्ष निकाला कि इनमें से अधिकांश एक-दूसरे से संबंधित थे तथा जो व्यक्ति शिखर पर थे वे अपने उत्कृष्ट गुणों के कारण ही उस स्थान पर आसीन थे । अधोस्थान पर स्थित लोगों का वहां बना रहना भी उनके निकृष्ट गुणों के कारण ही संभव था । उसने मनुष्य की व्यावहारिक सफलता का श्रेय उसकी आनुवंशिकता को ही दिया तथा परिवेश को पूर्णतः अनदेखा कर दिया । गाल्टन के अपने शब्द कुछ इस प्रकार के हैं : "मनुष्य के मन की बुनियाद तथा उससे उत्पन्न होने वाले विचार उसकी जाति के अधीन होते हैं ।" यहां जाति का अर्थ आनुवंशिकता है ।

---

1. सुजनन विज्ञान, सुजननिकी – Eugenics

उसके प्रमुख निष्कर्ष थे : "उच्चवर्ग की श्रेष्ठता का कारण उनकी उत्कृष्ट आनुवंशिकता है। इसीलिए अंधाधुंध संतानोत्पादन करने वाले निम्नवर्ग से उनकी रक्षा करना आवश्यक था।" शासकों ने इस कथन का स्वागत किया क्योंकि साम्यवादी आंदोलनों द्वारा उनके एकाधिकार को दी गयी चुनौती क सामना करते हुए वे सत्ता में बने रहना चाहते थे और इसलिए उन्हें किसी वैज्ञानिक समर्थन की आवश्यकता थी। परंतु गाल्टन के तर्क का अच्छा आशय वस्तुतः एक सत्याभास था। उसने इस ऐतिहासिक तथ्य को नजरअंदाज किया था कि उस समय ब्रिटेन में शासन करने वालों की संख्या अत्यधिक अल्प थी तथा इनमें सगोत्र विवाहों का अत्यधिक प्रचलन था। उसने इस सामाजिक तथ्य पर भी ध्यान नहीं दिया कि आज के समान उस समय भी उच्चवर्ग की संतानों को बौद्धिक तथा अन्य कामों में सफलता प्राप्त करने के अधिक अवसर प्राप्त होते थे। संतानों का पालन-पोषण, शिक्षा आदि के प्रभावों को गौण मानकर तथा प्रकृति की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते हुए गाल्टन ने मनुष्य जाति की एक जीव वैज्ञानिक व्याख्या करने का प्रयास किया जिसमें वंश तथा जाति को बहुत महत्व दिया गया था। इससे सामाजिक तथा ऐतिहासिक विज्ञान के महत्वपूर्ण व्यक्तियों पर काफी असर हुआ। जे.आर. ग्रीन जैसे इतिहासकारों तथा एच.जी. वेल्स जैसे उपन्यासकारों ने इस विचार को बहुत लोकप्रिय बनाया। परंतु घटिया लोगों ने इसका दुरुपयोग भी किया। इसी तर्क के सहारे उन्होंने यह सिद्ध किया कि अन्य श्वेत जातियों की अपेक्षा नारडिक वंश के लोग श्रेष्ठ होते हैं, विशेषतः यहूदी लोगों से तथा श्वेतवर्णीय लोग कृष्णवर्णियों से बेहतर होते हैं। इस बात का संपूर्ण खतरनाक रूप जर्मनी में हिटलर के अभ्युदय के बाद प्रकट हुआ जब हजारों नाजियों को अपने वंश की श्रेष्ठता पर विश्वास था। इसी विश्वास का दुरुपयोग दुनिया की सबसे प्रचंड परंतु अविश्वसनीय क्रूरता तथा अधोगति से परिपूर्ण नरयज्ञ करने के लिए जर्मनी में किया गया। हजारों की नरबली चढ़ायी गयी। हिटलर द्वारा इसी तर्क को आधार बनाकर एक विलक्षण प्रजनन कार्यक्रम प्रारंभ किया गया। इसे 'लेबेन्सबोर्न' (जीवन का मूल स्रोत) कहा गया। इस कार्यक्रम के दौरान सुनहरी केशराशि, नीली आंखों वाली, आर्यों जैसी रूपवान तथा तीखे नाक-नक्श की स्त्रियों को एस.एस. के अत्याचारी सदस्यों से संभोग के लिए बाध्य किया जाता ताकि जर्मन जनता एक श्रेष्ठ वंश में परिवर्तित हो जाये। इसे 'हैरेन फोक' वंश कहते थे। रोगर वोडिस ने एक निरर्थक कविता के रूप में प्रस्तुत करते हुए आनुवंशिकता की मृदु तथा विषैली विकृतियों के पहलुओं पर प्रकाश डाला है। इसका गद्य रूपांतर कुछ निम्नानुसार होगा :

हम लोग नैतिक बनकर कुछ चर्चा करें
(क्योंकि वे हम लोगों जैसे नहीं हैं)
किस प्रकार निम्न जातियों की संख्या घट सकती है
और उन्हें अपने बीज बिखराने से रोका जा सकता है।
यदि कोई श्रीमती शेक्सपीयर गर्भ निरोधक गोलियों का प्रयोग करती,
तो उसे अपना मृत्युपत्र बनाने की आवश्यकता नहीं होती;

युवा डिकन्स को खत्म कर दिया जाता
तथा एक लुहार फैराडे का भी यही हश्र होता।
इस प्रकार घड़ी को उलटी चलाकर,
हम अपना मूल वंश पुनर्जीवित कर सकते हैं,
हमारा लक्ष्य हम वांशिक रूप से तथा परिवार नियोजन से प्राप्त कर सकते हैं।
हमें केवल निर्धनों की सहायता नहीं करनी है,
जिप्सियों, सुधारवादियों तथा यहूदी जैसे लोगों के लिए
जिनके पास खोने के लिए बहुत कम है,
हमारी भट्टियों के दरवाजे हमेशा पूर्णतः खुले रखने चाहिए।

यद्यपि 'अयोग्य' लोगों को समाप्त करना अथवा उन्हें निष्कासित करना या अशुद्ध अथवा दूषित लोगों का बंध्याकरण करने जैसी प्रथाएं आज प्रचलित नहीं हैं जिनमें आनुवंशिकता का उपयोग समाज में गंभीर परिवर्तन लाने के लिए किया जाता है। परंतु आज भी कुछ वंशोन्मत्त लोग मानव जाति का सुधार करने हेतु अथवा उत्कृष्ट वंश 'हैरेन फोक' के निर्माण के लिए आनुवंशिकता की कुछ विपर्यस्त पद्धतियों की चर्चा करते हैं। ये लोग हमेशा ऐसा कहते हैं कि गरीब लोग कम समय में अधिक बच्चे पैदा करते हैं। जन्म दर में पड़ने वाले अंतर के कारण जनसंख्या की गुणवत्ता में कमी आती है। यदि इस तर्क को सही माना जाये तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि किसी समाज में अपने गुणों के कारण उच्च पदों पर आसीन पुरुषों के बहुपत्नित्व अपनाने के बाद तथा बहुत से निर्धन लोगों को शादी करने से वंचित रखे जाने पर वहां जनता की बौद्धिक क्षमता में धीरे-धीरे वृद्धि होगी। परंतु इतिहास में ऐसा होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। जे.बी.एस. हाल्डेन ने अपनी पुस्तक 'हेरिडिटी एंड पॉलिटिक्स' में लिखा है – "पश्चिम एशिया के मुसलमानों में बहुपत्नित्व की प्रथा प्रचलित है, परंतु ईसाइयों तथा यहूदियों में नहीं है। यह सच है कि केवल संपन्न मुसलमान ही जनानखाने बना सकते हैं। अतः ऐसी आशा करना उचित होगा कि साधारणतः यहूदी अथवा ईसाइयों की अपेक्षा मुसलमान अधिक बुद्धिमान होगा तथा कम से कम धन अर्जित करने हेतु आवश्यक गुण उसमें अधिक होगा। अतः हमें इस बात की अपेक्षा करनी चाहिए कि कोई तुर्क किसी अमेरिकी को अथवा यहूदी को व्यावसायिक सौदों में मात देगा। परंतु ऐसा कभी नहीं होता। और चूंकि ऐसा होता नहीं है इसलिए यह मानना होगा कि तुलनात्मक जन्म दर के अध्ययन से हमारी राष्ट्रीय प्रज्ञा की प्रवृत्तियों के विषय में निकाले गये निष्कर्षों में कुछ तर्क-दोष अथवा भ्रांतियां विद्यमान हैं।" हाल्डेन के अनुसार, व्यावहारिक सुजनन विज्ञान में इतनी त्रुटियां हैं कि इसके कमजोर सिद्धांतों के आधार पर जनता की बुद्धि के स्तर में वृद्धि करने का कोई प्रस्ताव नहीं करना चाहिए। अभी तक मानवी बुद्धि का आकलन करना भी हमारे लिए संभव नहीं हुआ है, उसे सुधारने की बात करना ही व्यर्थ है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा तैयार की गयी बुद्धि-अंक ज्ञात करने की पद्धतियों द्वारा मानसिक गुणों के विभिन्न कारकों में क्या अंतर है, इसकी पृथक

पहचान नहीं की जाती । एक मनोवैज्ञानिक ने कहा है – "वे केवल विभिन्न अनुपातों में एकत्रित की गयी (परंतु अज्ञात) योग्यताओं का मापन करती हैं ।" 60 वर्ष पूर्व इ.जी. बोरिंग ने कहा था – "वे उसी का मापन करती हैं जिसका परीक्षण किया जा रहा है ।" इस प्रकार से परीक्षण करने वाले भी इन परीक्षणों के अर्थ को लेकर उलझन में पड़ जाते हैं । इसका कारण यह है कि परीक्षण एक स्वयं को मिथ्या सिद्ध करने वाली भुलभुलैया होती है । इन परीक्षणों की प्रमुख समस्या यह है कि परीक्षण के उद्देश्य के बारे में परीक्षकों को पर्याप्त जानकारी नहीं होती । याद रखना, भिन्न चीजों के बारे में एक साथ विचार करना आदि क्रियाओं को तर्क से ज्ञात की जाने वाली प्रक्रियाओं के रूप में वर्गीकृत कर जे.पी. गिल्फोर्ड ने 120 अतिविशिष्ट गतिविधियों को सिद्धांत के रूप में पहचान लिया है ।

गिल्फोर्ड तथा अन्य लोगों के काम से बुद्धि के बहुत अधिक पहलुओं की जानकारी प्राप्त की गयी है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धि की कोई संतोषजनक परिभाषा खोजने के प्रयास व्यर्थ होंगे । वह एक अत्यधिक जटिल चीज है । अत: उसे संक्षिप्त रूप में शब्दों में प्रस्तुत करना संभव नहीं है । यदि यह सत्य है तो फिर उसे केवल कुछ आंकड़ों के माध्यम से प्रकट करना किस प्रकार संभव होगा ? बुद्धि का प्रायोजन करने वाले जीनों की खोज करना तो और भी निराशाजनक कार्य है । अत: इस बात पर आपको किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि जे.बी.एस. हाल्डेन भी बुद्धि के आनुवंशिक स्रोत का पता लगाते हुए निराश हो गये । उनकी यह धारणा थी कि यदि प्राणियों की आनुवंशिकता के अध्ययन से प्राप्त किया गया ज्ञान हमें कोई मार्गदर्शन दे सकता है तो "भविष्य में किया जाने वाला अध्ययन मानवी प्रज्ञा के कुछ ऐसे पहलुओं को उजागर करेगा जिनकी कल्पना तक नहीं की जा सकती ।" इस पूरे प्रकरण को स्पष्ट रूप से समझने के लिए प्रजननविज्ञानी, जीवविज्ञानी, मनोवैज्ञानिक तथा अन्य लोगों को एक साथ होकर काम करना होगा । प्रारंभ में यह काम अत्यधिक अव्यावहारिक तथा काल्पनिक प्रतीत होगा ।

यदि इस विषय में साहसपूर्वक अपना मत भी प्रकट किया जाये तो हम लोगों को पता चलेगा कि एक हजार वर्ष के गहन अनुसंधान कार्य के बाद ही प्रजनन विज्ञान में इतनी प्रगति हो सकेगी कि उसका उपयोग मानव प्रज्ञा में सुधार हेतु किया जा सके तथा वह कोई वैज्ञानिक आधार बन सके । सामाजिक दृष्टि से वांछित मानवी मस्तिष्क तथा हृदय के गुणों में इतनी भिन्नता है तथा इन गुणों की उत्पत्ति के बारे में हम लोगों का अज्ञान इतना गहन है कि किसी सुजनन कार्यक्रम का प्रारंभ कहां से किया जाये यह हम लोग अभी तक जान नहीं पाये हैं । शैक्षिक क्षेत्र में भी ऐसा देखा गया है कि महान उपलब्धियां प्राप्त करने हेतु उच्चबुद्धिमत्ता का होना आवश्यक नहीं है और यह भी सच नहीं है कि अधिक बुद्धिमान लोग अपनी प्रज्ञा अपनी संतानों को संप्रेषित करते हैं । युवा-प्रतिभाएं भविष्य में किस प्रकार विकसित होती हैं, इस बात का दीर्घकालीन अध्ययन करने के पश्चात जो परिणाम प्राप्त किये गये हैं उन्हें निम्नानुसार प्रस्तुत किया जा सकता है । इस अध्ययन में ऐसा पाया गया है कि इन लोगों ने सामान्य से अधिक बुद्धिमान जीवन साथियों का चुनाव किया, परंतु जीवन साथियों का बुद्धि-अंक उनके

स्वयं के बुद्धि-अंक से कुछ कम था। इनकी संतानों के बुद्धि-अंक भी काफी उच्च थे, परंतु इनमें काफी भिन्नता थी। अपने माता-पिता के समान बुद्धिमान संतानों की संख्या अथवा प्रतिशत बहुत अल्प था — यह सच है कि ब्रिटेन में हक्सेल परिवार जैसे कुछ परिवार हैं जो अपने बुद्धिमान मध्यवर्गीय परिवार में कई पीढ़ियों से अत्यधिक विख्यात स्त्री-पुरुष पैदा कर रहे हैं। परंतु इसका कितना श्रेय दोनों जनकों से प्राप्त किये गये आनुवंशिक गुणों को दिया जाना चाहिए तथा कितना घर तथा शैक्षणिक परिवेश को, यह कहना बहुत कठिन है। मनुष्य में पाये जाने वाले अभिलक्षणों का आनुवंशिक विश्लेषण करना तकनीकी कठिनाइयों के कारण संभव नहीं होगा। केवल कुछ गौण जीनों द्वारा उत्पन्न अभिलक्षणों का जैसे रक्त का वर्ग अथवा चयापचय तथा अन्य अभिलक्षणों का विश्लेषण किया जा सकता है, परंतु बहुजीनीय अभिलक्षणों का विश्लेषण किये जाने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः ऐसा मानकर चलना होगा कि मानव के लिए महत्वपूर्ण माने जाने वाले बुद्धि के घटक अथवा चरित्र आदि सभी अभिलक्षण बहुजीनीय हैं। जैसा कि जे.बी.एस. हाल्डेन ने कहा है, यदि हम लोग देवदूतों की पीढ़ी उत्पन्न करना चाहते हैं तो हमें उत्परिवर्तन से पंख उत्पन्न करने वाले तथा नैतिक श्रेष्ठत्व प्रदान करने वाले जीन प्राप्त करने होंगे। अतः अब ऐसा प्रतीत होता है कि मानवीय बुद्धि अथवा प्रज्ञा और चारित्रिक दृढ़ता में सुधार लाने हेतु किसी प्रकार का सुजनन कार्यक्रम प्रारंभ करने के लिए यह समय अनुकूल नहीं है।

मानवी प्रज्ञा की आनुवंशिक उत्पत्ति के विषय में हम पूर्णतः अनभिज्ञ हैं। फिर भी कुछ लोग ऐसी पैतृत्व नाशक कार्रवाई किये जाने का समर्थन कर रहे हैं जिसके अंतर्गत गंभीर तथा हानिकारक आनुवंशिक रोगों को उत्पन्न करने वाले जीनों का वहन करने वालों का अनिवार्य रूप से बंध्याकरण करने का सुझाव दिया गया है। उनका यह विश्वास है कि इस प्रकार ऐसे जीनों को नष्ट किया जा सकेगा। कैलिफोर्निया जैसे अमेरिकी राज्यों में सुजनन के लिए इसी प्रकार के कुछ प्रतिबंध लगाया जाना प्रारंभ हो चुका है। इस कानून के अंतर्गत मिर्गी से पीड़ित सभी व्यक्तियों तथा पागलों का बंध्याकरण अनिवार्य कर दिया गया है, अथवा जो लोग जन्म से ही निराशाजनक रूप से विकलांग हैं, उनका भी बंध्याकरण किया जाता है। परंतु हर घटना में दिखाई देने वाला दोष असंदिग्ध रूप से आनुवंशिक है, ऐसा कहना संभव नहीं होता। पागलपन की ही बात लीजिए। आनुवंशिक दृष्टि से सामान्य कोई भी व्यक्ति अत्यधिक मानसिक तनाव के कारण पागल बन सकता है। हैमलेट अथवा किंग लियर के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा। अतः इस कारण सामान्य लोग यदि पागल हो जाते हैं तो उनका बंध्याकरण उन लोगों को पागल बनने से रोक नहीं सकता जो इसी प्रकार से पागल बन जायेंगे।

काचीय जड़ता, हीमोफिलिया, हंसिया रोग, हटिंगटन का कोरिया, फेनिल किटोन्यूरिया, टे साक का रोग आदि आनुवंशिक दोषों को मिटा देने के लिए ऐसा लग सकता है कि बंध्याकरण ही उचित उपाय है, परंतु इन प्रकरणों में भी बंध्याकरण की उपयोगिता बहुत सीमित है। यदि यह आनुवंशिक रोग किसी एक प्रबल जीन द्वारा उत्पन्न किया जाने वाला हंसिया रोग अथवा हटिंगटन का कोरिया जैसा रोग हो तो सभी पीड़ित व्यक्तियों का बंध्याकरण करने से वह एक

पीढ़ी में खत्म हो जायेगा। परंतु यदि कोई दोष जन्म के तुरंत बाद दिखाई देने लगता है तथा इतना गंभीर होता है कि रोग पीड़ित व्यक्ति प्रजनन के योग्य नहीं रहते तो उन व्यक्तियों का बंध्याकरण उचित नहीं लगता। हंसिया रोग इसी तरह का एक रोग है। कुछ दोष उस व्यक्ति द्वारा प्रजनन क्षमता प्राप्त कर लेने के बाद ही दिखाई देने लगते हैं तथा कुछ प्रकरणों में तो इससे भी बाद में ऐसे दोष प्रकट होते हैं। हटिंगटन का कोरिया इसका एक उदाहरण है। अत: इस समय किया गया बंध्याकरण भी किसी काम का नहीं होता क्योंकि तब तक अपनी इच्छानुसार वे संतानें उत्पन्न कर चुके होंगे। किसी प्रभावी हानिकारक जीन को कृत्रिम उपायों से नियंत्रित करना लाभदायक नहीं होता क्योंकि ऐसे जीनों द्वारा उत्पन्न दोष विरले व्यक्तियों में ही दिखाई देते हैं। प्राकृतिक वरण ही ऐसे दोषों पर पर्याप्त रूप से नियंत्रण रख सकता है। परंतु हम लोग इन रोग पीड़ितों का इलाज ऐसे परिष्कृत तरीकों से करते हैं कि वे न केवल जीवित रहते हैं, वे संतानोत्पादन भी करते हैं। इससे प्राकृतिक वरण की प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न होती है। हीमोफिलिया से पीड़ित लोगों के साथ यही हो रहा है। यह सच है कि ऐसी अनेक आनुवंशिक बीमारियां हैं जो अप्रबल जीनों द्वारा उत्पन्न की जाती हैं तथा इनके उत्पन्न होने की बारंबारता भी अधिक है। परंतु किसी व्यक्ति में यदि दूसरे जनक से प्राप्त किया गया प्रबल युग्मविकल्पी जीन उपस्थित है तो वह व्यक्ति इस रोग से अप्रभावित रहेगा क्योंकि जब तक ऐसे सदोष अप्रभावी दो जीन एक साथ उपस्थित नहीं होते तब तक यह रोग उत्पन्न नहीं होता। यदि इन रोग पीड़ित व्यक्तियों का बंध्याकरण किया भी जाता है तो भी एक पीढ़ी में अथवा अनेक पीढ़ियों के बाद भी मानव जाति को इस रोग से मुक्त किये जाने की संभावना नगण्य होती है। यह दिखाया जा सकता है कि Aa आनुवंशिक रूप के किसी विषम युग्मज समुदाय में जहां a एक अप्रबल युग्मविकल्पी है a की बारंबारता प्रथम चार पीढ़ियों में 50 प्रतिशत से घटकर $33^1/_2$ फिर 25 तथा अंत में 20 प्रतिशत हो जायेगी। परंतु आगे की पीढ़ियों में बारंबारता का मान बहुत धीरे-धीरे बदलता है। नौवीं पीढ़ी से दसवीं पीढ़ी में यह मान 10% से 9% हो जाता है। यह मान 1% तक घट जाने के लिए 90 पीढ़ियों तक रुकना होगा। यदि इस जीन की बारंबारता 50% न होकर केवल 10% ही रहती तो इनके उन्मूलन में अधिक समय लगता। मूल समुदाय में इस जीन की बारंबारता जितनी कम होगी उतना ही अधिक समय बंध्याकरण अथवा प्राकृतिक वरण द्वारा उसके उन्मूलन के लिए आवश्यक होगा। मानव जाति में त्रुटिपूर्ण जीनों की संख्या काफी अधिक है, परंतु किसी एक विशिष्ट जीन की बारंबारता कम होती है। अत: प्राकृतिक वरण द्वारा इस जीन का लोप होना एक अत्यधिक धीमी प्रक्रिया है। इसीलिए बंध्याकरण द्वारा किसी जीन का लोप करने हेतु दस पीढ़ियो का समय भी पर्याप्त नहीं होता। यहां हम यह मानकर चल रहे हैं कि उत्परिवर्तन के कारण इन जीनों की संख्या में वृद्धि नहीं होती।

यदि किसी हानिकारक जीन से वरण अथवा बंध्याकरण द्वारा संपूर्ण मुक्ति पाने के लिए किसी मानव समुदाय को दीर्घ अवधि तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है तो अभी उत्पन्न हुए किसी दुर्लभ उत्परिवर्तित जीन का प्रसार तथा उससे उत्पन्न परिवर्तनों के लिए भी इतनी ही दीर्घ

अवधि की आवश्यकता होगी। इसीलिए परमाणु विस्फोटों से उत्पन्न विकिरणों के कारण होने वाली आनुवंशिक हानि को आंकना बहुत कठिन है। परमाणु विस्फोटों से उत्पन्न भेदकारी विकिरणों की प्रचंड मात्रा उत्सर्जित होने में कुछ भी समय नहीं लगता। विशाल क्षेत्रों में रेडियो-सक्रिय पदार्थ फैल जाते हैं। पूरा क्षेत्र प्रदूषित हो जाता है। इस क्षेत्र में उपस्थित आयनकारी विकिरणों द्वारा प्रेरित रेडियो सक्रियता[1] उत्पन्न की जाती है।

किसी व्यक्ति द्वारा विकिरण की कितनी मात्रा ग्रहण की गयी है, यह बात वह व्यक्ति विस्फोट के केंद्र से कितनी दूरी पर था, इस पर निर्भर करती है। जो व्यक्ति निकट होने के कारण विकिरणों की 450 रोंजन मात्रा ग्रहण करते हैं वे इसके बाद जीवित नहीं बचते। परंतु विस्फोट से काफी दूर रहने वाले भी इन विकिरणों से पूर्णतः सुरक्षित नहीं रहते। न्यूक्लीय विस्फोटों के बाद सैकड़ों हजारों वर्ग मील क्षेत्र में फैलने वाले रेडियो सक्रिय पदार्थों की मात्रा काफी अधिक होती है तथा संपूर्ण धरती पर ये पदार्थ फैल जाते हैं। परंतु उनकी मात्रा कुछ कम होती है। इसलिए यह अपरिहार्य है कि न्यूक्लीय विस्फोटों के फलस्वरूप फैलने वाले रेडियो सक्रिय पदार्थ भी वैसे ही उत्परिवर्तन उत्पन्न करेंगे जैसे एक्स-किरणों, पराबैंगनी प्रकाश अथवा अन्य ऊर्जा-स्रोतों द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं।

विकिरणों के कारण शरीर के दो भिन्न भागों में उत्परिवर्तन होते हैं — एक कायिक कोशिकाओं में तथा दूसरे, जनन कोशिकाओं में। कायिक अथवा शारीरिक कोशिकाओं में होने वाले उत्परिवर्तन आनुवंशिक रूप से आने वाली पीढ़ी में नहीं पहुंचते। वे उसी व्यक्ति को हानि पहुंचा सकते हैं जिस पर विकिरणों का प्रभाव हुआ है। परंतु जनन कोशिकाओं अथवा युग्मकों में होने वाले उत्परिवर्तन संतानों को संप्रेषित किये जाते हैं। परंतु इनका प्रभाव उस व्यक्ति पर नहीं होता जिसने विकिरण ग्रहण किये हैं क्योंकि एक उत्परिवर्तन से उत्पन्न होने वाले दोष अप्रकट रहते हैं तथा शरीर में होने वाले स्वयंस्फूर्त उत्परिवर्तनों में से इन्हें पृथक रूप में पहचाना नहीं जा सकता। इसीलिए कुछ समय पूर्व तक राजनीतिक कारणों से अथवा अन्य कारणों से इन विस्फोटों से जुड़े हुए लोगों द्वारा इस घटना के प्रभावों को ठीक-ठीक नहीं आंका गया था। इस प्रकार हिरोशिमा तथा नागासाकी पर किये गये परमाणु बम के हमले के दस साल बाद भी शासकीय प्रकल्पों पर काम करने वाले चिकित्सकों तथा अन्य प्रमुख लोगों द्वारा वक्तव्य देकर जो प्रचार किया गया था, उसमें कहा गया था कि इन बम विस्फोटों का जनसमुदाय पर कोई बुरा असर नहीं हुआ है बल्कि उनमें कुछ सुधार ही हुआ है। इसी प्रकार, रूस तथा अमेरिका जैसी महाशक्तियों द्वारा किये गये न्यूक्लीय विस्फोटों के कारण अमेरिकी नागरिकों पर विकिरणों का जो प्रभाव पड़ा है उसकी तुलना एक्स-किरणों द्वारा सीने का चित्र लेते समय होने वाले प्रभाव से की जा सकती है। अर्थात यह 0.1 रोंजन के बराबर है। यह मात्रा अत्यधिक अल्प है। अर्थात् ऐसा कहने का अर्थ यह है कि परीक्षण विस्फोटों के कारण होने वाला प्रभाव नगण्य है। विकिरणों के परिणाम अवकाश तथा समय की दृष्टि से संचयी होते हैं। परंतु इस बात पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता। यही बात विकिरणों से उत्पन्न होने वाले कुप्रभावों के

---

1. प्रेरित रेडियो सक्रियता – induced radio activity

लिए भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यह तथ्य ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि धीरे-धीरे प्राप्त की गयी एक रोंजन की मात्रा उतनी ही हानिकारक होगी जितनी एक बार में प्राप्त की गयी। जितनी अधिक मात्रा ग्रहण की जायेगी हानि भी उतनी ही अधिक होगी। यदि एक रोंजन[1] विकिरण 1000 व्यक्तियों को वितरित किया जाये अथवा 10 रोंजन 100 व्यक्तियों को अथवा 100 रोंजन 10 व्यक्तियों को दिया जाये तो इन समुदायों में होने वाले कुप्रभाव एक-से होंगे। अतः परीक्षण विस्फोटों की गौण विकिरण मात्रा प्रतिव्यक्ति 0.1 रोंजन होती है, परंतु 16 करोड़ अमेरिकी नागरिकों के लिए 16 करोड़ रोंजन के बराबर होगी। ऐसा मान लीजिए कि हिरोशिमा की बम वर्षा के बाद बचने वालों पर 100 रोंजन विकिरण पड़ा तो भविष्य में किये जाने वाले परीक्षण विस्फोटों से उत्पन्न विकरणों के कारण होने वाले उत्परिवर्तन जो अमेरिकियों द्वारा आनुवंशिक रूप में प्राप्त किये जायेंगे वे उतने ही होंगे जो हिरोशिमा विस्फोट के बाद जापानियों द्वारा प्राप्त किये गये थे।

हिरोशिमा तथा नागासाकी नगरों पर की गयी अविवेकपूर्ण परमाणु बमबारी का यही हश्र होना था। यह बात किसी भी संदेह से परे है कि अमर्यादित परीक्षण विस्फोटों से भावी पीढ़ी के लिए गंभीर आनुवंशिक खतरे उत्पन्न हो गये हैं। विज्ञान तथा तकनीकी द्वारा शांतिपूर्ण कार्यों के लिए किये जाने वाले प्रयोगों के दौरान मनुष्य पर पड़ने वाले विकिरणों में वृद्धि हो रही है। इस स्थिति में इन परीक्षणों को प्रतिबंधित करना एक महान मूर्खता है। और यदि परीक्षणों को प्रतिबंधित भी किया जाता है (यह एक व्यर्थ आशा है) तब भी मनुष्य को विकिरणों का सामना करना पड़ेगा। प्राचीन समय से आज तक उस पर विकिरणों का प्रभाव होता ही रहा है। हमेशा वायुमंडल में उपस्थित रहने वाले इन विकिरणों को पृष्ठभूमि विकिरण कहते हैं। इनमें ब्रह्मांड से आने वाले तथा धरती से उत्पन्न होने वाले विकिरण सम्मिलित रहते हैं। इन्हीं विकिरणों का जीवों के विकास में काफी बड़ा योगदान रहा है। इन्हीं की वजह से उत्परिवर्तन हुए हैं। ये उत्परिवर्तन ही प्राकृतिक वरण की प्रक्रिया का आधार हैं।

रेडियो सक्रियता की खोज के कारण मानव ने विकिरणों की प्राकृतिक मात्रा में काफी वृद्धि की है। चिकित्सकों द्वारा रोग निदान हेतु एक्स-किरणों का उपयोग किया जाना अनिवार्य हो गया है। संपन्न देशों में सभी लोग रोग निदान हेतु एक्स-किरणों का सामना करते हैं। काफी बड़ी संख्या में रोगों का इलाज भी एक्स-किरणों द्वारा किया जाता है। उपचार हेतु एक्स-किरणों की कितनी बड़ी मात्रा रोगी को दी जानी चाहिए यह उस विशिष्ट रोग पर निर्भर करता है। सीने के एक्स-किरण चित्र के लिए यह मात्रा 0.1 रोंजन है, परंतु एक्स-किरण चलचित्रों से परीक्षण करते समय यह मान 25 रोंजन भी हो सकता है। राडार तथा टेलीविजन के लिए उच्च दाब पर दी जाने वाली बिजली, जूतों की दुकानों में इस्तेमाल किये जाने वाले एक्स-किरण यंत्र, दांतों के लिए उपयुक्त एक्स-किरण, घड़ियों के प्रकाशमान डायल तथा अन्य चीजों से जो उच्चवर्गीय ग्राहक उपयोग में लाते हैं, भी मनुष्य के शरीर पर विकिरण की काफी अधिक मात्रा

1. रोंजन विकिरण का एक यूनिट है जो एक घन सेंटिमीटर शुष्क हवा में जो आयन उत्पन्न करेगा वे धन अथवा ऋण स्थिर विद्युत की एक यूनिट वहन करेंगे। किसी गैस से भरे पात्र में आपतित किरणों द्वारा प्रेरित किये गये आयनीकरण द्वारा इसका मापन किया जाता है।

डालते हैं जो अनावश्यक है। न्यूक्लीय ऊर्जा संयंत्रों द्वारा इस मात्रा में काफी वृद्धि की जाती है। भविष्य में इस मात्रा में और भी अधिक वृद्धि होगी जब हमारी ऊर्जा की आवश्यकताएं बढ़ जायेंगी तथा इन्हें पूरा करने के लिए अधिक न्यूकीलय ऊर्जा संयंत्र स्थापित किये जायेंगे। उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम ऐसा कह सकते हैं कि भविष्य में मनुष्य को अधिकाधिक ऊर्जा प्राप्त होगी। इसीलिए मनुष्य के बड़े समुदायों पर पड़ने वाली विकिरण की मात्रा सीमित रखने के लिए कई प्रस्ताव रखे गये हैं। तीस सालों की अवधि में मनुष्य पर पड़ने वाली सभी विकिरणों की कुल मात्रा 10 रोंजन से अधिक नहीं होनी चाहिए। इसमें पृष्ठभूमि विकिरणों का कभी समावेश किया जाता है तो कभी उन्हें नजरअंदाज कर दिया जाता है। विकिरण की इस तथाकथित उचित मात्रा के भी आनुवंशिक कुप्रभाव होते हैं यदि वे विकिरण अधिक तीव्र हों तथा उच्च स्तर पर शरीर पर पड़ते हों। इस प्रकार शरीर पर पड़ने वाले विकिरणों के कारण हर नयी पीढ़ी में मूल पीढ़ी की अपेक्षा दोषी संतानों की संख्या में 20% वृद्धि होती है। विभिन्न जीनों में इस स्तर तक पहुंचने का अलग-अलग समय होता है। प्रभावी जीन कुछ ही पीढ़ियों में इस स्तर तक पहुंच जाते हैं। यह अवधि विकिरणों की भेदकता के अनुसार कम या अधिक हो सकती है। संपूर्णत: अप्रबल जीनों को इस स्तर तक पहुंचने में बहुत अधिक समय लग जाता है। परंतु ये जीन भी अंतत: अपनी मूल पीढ़ी में 20% अधिक दोषी संतानें उत्पन्न करने लगते हैं। अंतत: इस प्रस्तावित सीमा के दूरगामी परिणाम इतने गौण नहीं हैं कि उनकी उपेक्षा कर दी जाये। परंतु ये कई पीढ़ियों के बाद प्रकट होंगे तथा इनके परिणाम काफी हानिकारक होंगे। दुनिया के आज के शासक इन पर ध्यान नहीं देंगे क्योंकि आज की स्थिति बनाये रखने में ही उन्हें लाभ होगा। यह इसलिए भी हो सकता है कि विकिरण की जो मात्रा हम लोगों पर आज पड़ती है वह हानिकारक सीमा से काफी कम है। परंतु आज की स्थिति अधिक समय तक नहीं बनी रहेगी। अत: उचित समय के बाद 30 सालों में 10 रोंजन की विकिरण की मात्रा में भी कमी की जाने की नितांत आवश्यकता होगी।

16

उपसंहार

आधुनिक आनुवंशिकी का विवरण देते हुए हम लोगों ने इस बात पर गौर किया था कि जीवन आत्मनिर्भर रासायनिक क्रियाओं[1] का एक वास्तविक क्रम है। इन क्रियाओं के कारण ही अधिकांश जीवों को उनका विशिष्ट रूप प्राप्त होता है। इनके द्वारा ही सभी प्राणियों को उनकी विशिष्ट गति प्राप्त होती है। कुछ जीवों में भावनाएं तथा उद्देश्य तथा कम से कम एक जीव में स्वचेतना जन्म लेती है। यद्यपि जीवित प्राणियों अथवा पौधों का रासायनिक संघटन एक-दूसरे से भिन्न होता है — जैसे कोई पेड़ अधिकांश लकड़ी का ही बना होता है तथा वह किसी मेमने में उपस्थित किसी भी घटक जैसा नहीं होता — तथापि जिन रासायनिक क्रियाओं के कारण जड़ें कुछ समय बाद पेड़ में विकसित हो जाती हैं तथा मेमना खुद को जिस प्रकार जीवित रखता है उनमें आश्चर्यजनक समानता होती है। इस समानता के कारण ही वे परस्पर पूरक होते हैं। इस तरह प्राणियों के लिए आवश्यक अन्न पौधों द्वारा ही तैयार किया जाता है। परंतु जिन भौतिक प्रक्रियाओं द्वारा प्राणियों तथा पौधों में विकास तथा ह्रास होता रहता है वे प्रायः समतुल्य हैं। ये समानता क्यों होती है, इसे जानना कोई कठिन काम नहीं है। नीली शैवाल, अक्वायज कीट[2], आक्टोपस[3] अथवा मनुष्य में भी इसीलिए समानता होती है। हम लोग यह जानते हैं कि सभी जीव निरपवाद रूप से कोशिकाओं के समुदाय होते हैं। इस शताब्दी की दूसरी चौथाई में आनुवंशिकी का जो विकास हुआ उसके कारण अब यह ज्ञात हो चुका है कि सूक्ष्मदर्शी से देखने पर सभी कोशिकाओं में क्रियाविधि की दृष्टि से अत्यधिक समानता दिखाई देती है। जीवाणु से मनुष्य तक सभी प्राणियों में उपस्थित कोशिकाओं में संरचना तथा कार्यविधि के लिए एक-सी रासायनिक संरचना इस्तेमाल की जाती है। यह दोनों के लिए भिन्न होना असंभव ही था। हम अध्याय 5 में यह पढ़ चुके हैं कि कोशिका का अधिकांश भाग प्रोटीनों का ही बना होता है। ये प्रोटीन जिस पद्धति से अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं उसे ही जीवन कहते हैं। यही बात एंजेल्स ने सौ साल पूर्व कही थी। जब एंजल्स ने यह लिखा होगा, उसके बाद यह ज्ञात हो चुका है कि जीवित प्राणियों की शारीरिक क्रियाओं में उत्प्रेरक का काम एंजाइमों द्वारा किया जाता है। ये एंजाइम स्वयं प्रोटीन होते हैं। इसलिए प्रोटीनों का महत्व इन

1. आत्मनिर्भर रासायनिक क्रिया – self-sustaining chemical reaction
2. अक्वायज कीट – infusoria
3. आक्टोपस – octopus

रासायनिक क्रियाओं के लिए कितना अधिक है यह भी ज्ञात हो चुका है ।

एंजाइमों को तथा अन्य प्रोटीनों को विशुद्ध रूप मे प्राप्त करना संभव है तथा इस प्रकार पृथक किये गये प्रोटीन किसी कांच की बोतल में भी अपनी गतिविधियां जारी रख सकते हैं ! परंतु किसी पात्र में होने वाली इन क्रियाओं को कोई जीवन नहीं कहता क्योंकि जीवन कहलाने वाली रासायनिक क्रियाओं की प्रमुख विशेषता इनमें नहीं होती । यह है अपने जैसी ही प्रतिकृति उत्पन्न करने की क्षमता । यह प्रतिकृति उत्पन्न करते समय वे जिन सूचनाओं अथवा जानकारी के अनुसार कार्य करते हैं वे डी.एन.ए. जैसे जीव-द्रव्य में उपस्थित रहती है । यह आनुवंशिकता की कूट या सांकेतिक भाषा है तथा वह सार्वजिक भाषा है अर्थात सभी जीवों में इसका उपयोग डी.एन.ए.-आर.एन.ए. प्रोटीन व्यवस्था अथवा इसी के किसी अन्य रूप द्वारा किया जाता है । परंतु ये सूचनाएं अथवा जानकारी जिसका इस्तेमाल एक नये जीव का निर्माण करने हेतु किया जाता है सदैव जीनोम में अथवा जीन तथा गुणसूत्र में अंतर्विष्ट रहती है । ये गुणसूत्र संरचना की दृष्टि से किसी अन्य परंतु जनकों के समतुल्य गुणसूत्र होते हैं ।

चूंकि यह जीव क्रमित संगठन विषयक जानकारी किसी संगठित पैतृक जीव से प्राप्त करता है, जीवोत्पति का अर्थ है एक क्रमित संगठन से दूसरा क्रमित संगठन उत्पन्न करना । श्राडिन्जर ऐसी परिकल्पना करने वाला प्रथम व्यक्ति था । जीव जिस क्षमता द्वारा इस क्रम अथवा जानकारी को संप्रेषित करते हैं उसे मोनोड ने 'प्रजनन अभिन्नता'[1] कहा है । प्रजनन अभिन्नता के कारण ही जीव ब्रह्मांड की अन्य चीजों से सर्वथा भिन्न होते हैं । इसका एकमेव अपवाद है क्रिस्टल । क्रिस्टलों को स्वयं की प्रतिकृति या संरचना उत्पन्न करने की क्षमता प्राप्त है जो जीवों के इसी प्रकार के गुण से कुछ समानता रखती है । परंतु क्रिस्टलों द्वारा संप्रेषित की जाने वाली जानकारी की कोटि जीवों द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को संप्रेषित की जाने वाली जानकारी की तुलना में अत्यधिक निम्न होती है । अतः प्राणी तथा पौधे क्रिस्टलों सहित सभी चीजों से सर्वथा भिन्न होते हैं । यह आयामात्मकतः विशाल[2] जानकारी जीवित प्राणियों को इस योग्य बनाती है कि वे न केवल अपने जैसे ही अन्य प्राणी प्रजनित कर सकें, बल्कि अपना विकास करते हुए जीवन की सभी भिन्न अवस्थाओं में खुद को सुरक्षित भी रख सकें । अपने जैसे अन्य-जीव उत्पन्न करने की यह क्रिया क्रिस्टलों द्वारा स्वयं को पुनः उत्पन्न करने की क्रिया से स्पष्ट रूप से भिन्न है ।

प्रजनन अभिन्नता तथा स्वतः का विकास करते हुए स्वयं को सुरक्षित रखने के जो विशिष्ट गुण जीवों में पाये जाते हैं इनमें से दूसरा गुण प्राप्त करना कुछ अधिक कठिन है । जैविक क्रम विकास के दौरान प्राप्त की गयी एक बहुत बड़ी उपलब्धि उसे कहना चाहिए जब ऐसे प्राणी उत्पन्न हुए जिनमें केंद्रीय तंत्रिकातंत्र उत्पन्न हुआ । इसकी सहायता से वे इस काम को अधिक क्षमता से करने लगे ! प्राणियों को जीवित रहने योग्य बनाने के लिए समय-समय पर उनके शरीर में कुछ परिवर्तन किये जाते रहे हैं, परंतु इनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जिसकी तुलना

1. प्रजनन अभिन्नता – reproductive invariance
2. आयामात्मकतः विशाल — dimensionally huge

केंद्रीय तंत्रिकातंत्र से की जानी संभव है। इस व्यवस्था द्वारा प्राणी को इस प्रकार के संगठित किया जाता है कि शरीर के आंतरिक परिवेश तथा बाहर के परिवेश से जो प्रतिक्रियाएं होती हैं उनमें समन्वय हो। इसे अपने आंतरिक परिवेश के बारे में जानकारी देने का काम न्यूरानों के बिछे हुए जाल द्वारा किया जाता है तथा हार्मोनों जैसे संदेशवाहक भी यह काम करते हैं। शरीर के आंतरिक परिवेश की अपरिवर्तित स्थिति बनाये रखने हेतु वह विभिन्न न्यूरानों के माध्यम से तथा अन्य ग्रंथीय स्रावों की सहायता से यह काम करते हैं। इसके अलावा अपने बाह्य परिवेश के विषय में ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त की गयी जानकारी के अनुसार मांसपेशियों को विशेष कार्य करने के आदेश दिये जाते हैं। संक्षेप में, ऐसे प्राणियों को स्व-विकामी, आत्मनिर्भर, आत्मचलित जीव कहा जाता है। इनके पास स्वतः को सुरक्षित रखने के लिए तथा प्रजनन अभिन्नता के लिए आवश्यक न्यूनतम जानकारी होती है।

हम लोग कंप्यूटरों जैसे स्वचालित यंत्र बना सकते हैं। ये यंत्र उनकी टेप में दी गयी जानकारी के अनुसार कार्य करते हैं। हम लोग सोचते हैं कि इन यंत्रों द्वारा निर्मित चीजों की जटिलता में कुछ कमी होगी ! यदि यह स्वचालित यंत्र अपने जैसा दूसरा यंत्र बनाने में सक्षम है तो इस यंत्र की जटिलता मूल यंत्र की अपेक्षा कुछ कम होनी चाहिए क्योंकि यह कार्य पितर से संतान उत्पन्न करने जैसा ही है। जनक को न केवल संतान पैदा करने के लिए आवश्यक जानकारी होनी चाहिए बल्कि उसके पास इन विभिन्न सूचनाओं अथवा आदेशों को कार्यान्वित करने हेतु आवश्यक व्यवस्था भी होनी चाहिए। इसके कारण संतान का स्वरूप तथा ढांचे की सरचना में कुछ अधिक सरलता दिखाई देगी ऐसी अपेक्षा की जाती है। परंतु जीवन के तथ्य इसके एकदम विपरीत हैं। जीवों द्वारा प्रजनित संतानों में वही जटिलता पाई जाती है। इतना ही नहीं, प्रजनन की यह क्रिया करोड़ों वर्षों से जैविक विकासक्रम के साथ चल रही है तथा अधिकाधिक जटिल जीवों की उत्पत्ति हो रही है। ब्रिटेन के तर्कशास्त्री ए.एम. टुरिंग ने, वास्तविकता तथा प्रत्याशा में जो द्वंद्व है उसका, विशुद्ध तथा कठोर तार्किक विवरण प्रथम बार दिया। इसमें द्विगुणन प्रक्रिया से संबंधित सभी प्राकृतिक अथवा कृत्रिम प्रक्रियाओं को सम्मिलित किया गया है। उसने यह प्रतिपादित किया कि यदि किसी स्वचालित मशीन अथवा कंप्यूटर के पास न्यूनतम जानकारी अथवा न्यूनतम आदेश होंगे तो वह किसी ऐसे यंत्र की भी नकल कर सकता है जिसके पास अधिक जानकारी का संग्रह होता है। दूसरे शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि एक स्वचालित मशीन जब दूसरी आत्मचालित मशीन का निर्माण करती है तब जटिलता में किसी प्रकार की कमी नहीं होती; इस जटिलता में वृद्धि होने की संभावना होती है तथा मूल यंत्र की अपेक्षा दो गुनी क्षमता तथा जटिलता का यंत्र बनना संभव है।

एक स्वचालित मशीन द्वारा दी हुई टेप पर अंकित सूचनाएं पढ़कर दूसरी मशीन निर्माण करने का टुरिंग का सिद्धांत वॉन न्यूमन ने अधिक विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है। न्यूमन ने जीवों के प्रजनन की प्राकृतिक घटना को समझाने में इस सिद्धांत का उपयोग किया है। प्रजनन के लिए आवश्यक सूचनाएं अथवा जानकारी किसी पेपरटेप पर या पंचकार्ड पर नहीं दी जाती। वह जीव-द्रव्य, डी.एन.ए. जिससे जीन तथा गुणसूत्र बने हैं पर अंकित की जाती है। उसने यह

प्रतिपादित किया कि स्वचालित मशीन किसे कहना चाहिए। इसकी तर्कसंगत तथा यथार्थ व्याख्या करते हुए तथा रचना और प्रजनन की परिभाषा करते हुए टुरिंग के सिद्धांत की व्याप्ति बढ़ाना संभव है तथा ऐसा करने पर हम लोगों को जीवों के प्रजनन के विषय में एक महत्वपूर्ण अंतःदृष्टि प्राप्त होगी। उसका प्रमुख निष्कर्ष कुछ इस प्रकार का है: निम्न स्तर पर जटिलता ह्रास उत्पन्न करती है अर्थात हर एक स्वचालित मशीन अपनी प्रतिकृति बनाती है तो उसकी जटिलता घट जाती है परंतु जब यही कार्य कुछ न्यूनतम क्रांतिक मान की सीमा रेखा को पार कर किया जाता है तो जटिलता में ह्रास उत्पन्न होने की प्रवृत्ति का लोप करना संभव है और ऐसा होता भी है। प्रजनन जानकारी में होने वाले ह्रास की तुलना गुरुत्वाकर्षण से की जा सकती है। इससे छुटकारा पाने के लिए एक घटना में न्यूनतम जानकारी एकत्रित करना आवश्यक है तो दूसरी में एक न्यूनतम गति प्राप्त करना जरूरी हो जाता है। एक बार इस क्रांतिक बिंदु पर पहुंच जाने के पश्चात स्वचालित मशीन स्वतः की प्रतिकृतियां बना सकती है अथवा अपने से उच्च प्रतीकी इकाइयां निर्मित कर सकती हैं। जटिलता अथवा संगठन का स्तर किसी न्यूनतम स्तर से कम हो तो वह ह्रास का कारण होता है। परंतु इस स्तर को पार करने से वह स्वपोषक अथवा वृद्धिसंगत होता है। अचर अथवा जड़ पदार्थों से जीवों की उत्पत्ति होने का यही आधारभूत सिद्धांत है। बाद के विकास में यह स्पष्ट दिखाई देता है जिसके दौरान एक स्वयं उत्प्रेरित प्रोटीन से मनुष्य तक उत्पन्न हुआ है।

टुरिंग-न्यूमन द्वारा न्यूनतम प्रारंभिक मान के अस्तित्व का प्रमाण दिया जाना, जहां जटिलता और संगठन के ह्रास की क्रिया थम जाती है और स्वतः का प्रवर्द्धन होना प्रारंभ होता है, दुर्भाग्यवश विशुद्ध गणितज्ञों द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले अस्तित्व सिद्धांत का एक उदाहरण है। इस सिद्धांत से यह सिद्ध किया जाता है कि कोई भी जीव उसे सशरीर उत्पन्न किये बगैर अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है। हालांकि टुरिंग-न्यूमन द्वारा प्रारंभिक जानकारी के प्राप्त होने की कोई गारंटी नहीं दी जाती, परंतु यह कोई ऐसी बात नहीं है जो तत्काल कोई बाधा बन जाये और जिसे दूर करना कठिन हो क्योंकि प्रदर्शन हेतु हम लोग इसके स्थान पर उस जीवित प्राणी का ही उपयोग करेंगे जो अपने जीनोम से वह सभी जानकारी संगृहित करता है जो न्यूमन की न्यूनतम जानकारी से अधिक है। यदि हम ऐसा करते हैं तथा गोरिल्ला के मस्तिष्क जैसे किसी प्राकृतिक स्वचालित का विचार करते हैं तो हमें यह पता चलेगा कि गोरिल्ला की जानकारी संगृहित करने की क्षमता 10^{14} बिट* कोटि की है जो मानव-निर्मित सबसे बड़े कंप्यूटर की क्षमता से 1 से 10 करोड़ गुना अधिक है। प्राकृतिक तथा कृत्रिम स्वचालित चीजों की संचायकधारिता में इतनी भिन्नता होने पर हम लोगों को आश्चर्य नहीं होना चाहिए; क्योंकि गोरिल्ला जैसे 'जीवित मस्तिष्क' के प्राणियों जैसे प्राकृतिक स्वचालितों में तथा कंप्यूटर जैसी कृत्रिम स्वचालित मशीनों में एक मूलभूत अंतर है। कोई भी कंप्यूटर इसलिए नहीं बनाया जाता कि वह अपने आप को बनाये रख सके। उसका प्रमुख काम गिनती करना, संगणना

* बिट ऐसी इकाई है जिसके द्वारा संदेश की जानकारी मापी जाती है। यह बिंदुओं और डैश की संख्या है जो संदेश को मोर्स कोड के द्वारा संप्रेषित करती है।

करना, चीजों को पृथक करना तथा टुरिंग का परिचत खेल खेलना अर्थात मनुष्य से संवाद करना जैसे मानवी कौशलों को दोहराना होता है। परंतु किसी भी प्राणी को प्रजनन के अतिरिक्त जिंदा भी रहना पड़ता है।

यद्यपि प्राणी बिना किसी प्रयास के जिंदा रहते हुए दिखाई देते हैं, परंतु यह कोई सामान्य काम नहीं है। जिंदा रहने के लिए उन्हें रक्त-शर्करा की मात्रा, शरीर का तापमान तथा रक्तचाप को विशिष्ट स्तर तक बनाये रखना पड़ता है। श्वसन तथा हृदय की गति को नियंत्रित करना पड़ता है। बाहर से होने वाले जीवाणुओं के हमलों से शरीर की सुरक्षा करने हेतु प्रतिपिंड उत्पन्न करना, प्रजनन हेतु युग्मक निर्माण करना तथा अन्य कई काम करने पड़ते हैं जिनकी अभी खोज नहीं की गयी है। इस प्रकार के लाखों काम शरीर को केवल जिंदा रहने के लिए करने पड़ते हैं जो स्वतः की प्रतिकृति निर्माण करने के काम के अतिरिक्त काम हैं। हमें इसलिए इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि प्रतिकृति उत्पन्न करने हेतु तथा संपूर्ण जीवन भर उसकी देखभाल करने के लिए जो जानकारी आवश्यक है वह प्रारंभ में ही कितनी विशाल है। परंतु आश्चर्य करने की बात तो यह है कि डी.एन.ए. जैसे सूक्ष्म महाअणु में, जीन में, इतनी विशाल जानकारी किस प्रकार बंद की गयी है। एक दूसरा आश्चर्य है, प्रकृति द्वारा कुछ स्थानों पर मुक्त हस्त से प्रावधान करने की आदत से दूर हटना। यदि प्रकृति को एक बरगद वृक्ष पैदा करना हो तो वह लाखों बीज उत्पन्न करती है। एक शिशु के लिए करोड़ों शुक्राणु, एक जीन के लिए विशाल समुदाय और एक झाड़ी के लिए झाड़ियों का जंगल उत्पन्न करती है। परंतु जीवन का रहस्य लिखने हेतु वह इस क्रम को तोड़कर केवल एक ही कूट भाषा का प्रयोग करती है। इस सार्वत्रिक आनुवंशिक कूट भाषा का वर्णन पांचवें अध्याय में किया गया है। इसकी अन्य लाखों सांकेतिक भाषाओं का उपयोग करना संभव था। यदि प्रकृति द्वारा किसी अन्य कूट भाषा का प्रयोग किया भी जा रहा हो तो हम लोगों को इसकी कोई जानकारी नहीं है। प्रकृति द्वारा अपनायी गयी इस मितव्ययिता को सर्वथा उचित ही कहा जाना चाहिए। अनेक कूट भाषाओं का उपयोग करने से जीवन में दिखाई देने वाला परस्पर अवलंबन खत्म हो जायेगा। इससे तो सूक्ष्म-विकास में भी बाधा उत्पन्न हो जाती। इसीलिए प्रोटीनों के महत्वपूर्ण घटकों के रूप में उपस्थित एमिनो अम्ल भी D किस्म के ही होते हैं इसके बावजूद कि L तथा D दोनों जो एक-दूसरे के दर्पण प्रतिबिंब होते हैं, प्रकृति में पाये जाते हैं। इसी से कोशिका रसायन* की यथार्थ एकरूपता जीवमंडल के सभी स्थानों पर पायी जाती है। इससे पहले ही ज्ञात किये जा चुके एक तथ्य का स्पष्टीकरण प्राप्त होता है : कोशिका की संरचना तथा क्रियाविधि की रासायनिक व्यवस्था आवश्यक रूप से समान है।

प्रथम कोशिका की संरचना पर विचार करें। सभी जीवित इकाइयां निरपवाद रूप से दो प्रमुख वर्ग के महाअणुओं से बनी हुई हैं। ये महाअणु या तो प्रोटीन होते हैं अथवा न्यूक्लिइक

* भिन्न आनुवंशिकता कोड और डी-टाईप एमिनो अम्लों पर आधारित एक दूसरी कोशिका रसायन ब्रह्मांड में हमारी अथवा दूसरी किसी आकाशगंगा के किसी ग्रह पर विद्यमान हो सकती है। लेकिन अभी हमें इसकी जानकारी नही है।

अम्ल। इससे भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि सभी महाअणुओं में यदि वे प्रोटीन हैं तो बीस (L) किस्म के एमिनो अम्लों की शृंखला होगी अथवा न्यूक्लियाटाइडों में चार न्यूक्लिइक अम्ल होंगे। कोशिका की कार्यविधि में सभी जीवों के लिए इस्तेमाल की जाने वाली क्रियाओं अथवा उन्हीं क्रियाओं के क्रम को हम चयापचय के तरीके या मार्ग कहते हैं। इनका उपयोग रसायन विभव को उपलब्ध कराना तथा उसका संचय करना, कोशिका के घटकों का जैविक संश्लेषण करना आदि के लिए किया जाता है। यह एक निश्चित सत्य है कि चयापचय के इस केंद्रीय विषय के अनेक पहलू हैं जिनमें से प्रत्येक किसी न किसी कार्य के लिए चुना जाता है। परंतु सार्वत्रिक चयापचय के क्रम में कुछ परिवर्तन होने से उत्पन्न हुए हैं। उदाहरणार्थ, पक्षी तथा स्तनधारी नाइट्रोजन का उत्सर्जन भिन्न प्रकार से करते हैं। पक्षी यूरिक अम्ल के रूप में, तो स्तनधारी यूरिया के रूप में। परंतु जिस पद्धति से पक्षियों में यूरिक अम्ल संश्लेषित किया जाता है वह अन्य सभी जीवों में प्यूरीन न्यूक्लिओटाइडों के संश्लेषण के लिए इस्तेमाल की जाने वाली पद्धति से गौण परिवर्तन किये जाने से प्राप्त होती है। ये न्यूक्लिइक अम्लों के घटक होते हैं। इसी प्रकार स्तनधारियों द्वारा यूरिया का संश्लेषण जिस पद्धति से किया जाता है वह भी एक अन्य सार्वजिक चयापचय के मार्ग का गौण परिवर्तन ही है। इसमें एमिनो अम्ल आर्जिनिन का संश्लेषण होता है। यह एमिनो अम्ल सभी प्रोटीनों में उपस्थित रहता है। इस प्रकार के असंख्य उदाहरण मिल सकते हैं।

इस प्रकार के चयापचय के सार्वत्रिक मार्गों का अस्तित्व आकस्मिक घटना नहीं है। ये मार्ग ही कोशिका रसायन का हृदय हैं। इसकी उत्पत्ति सार्वत्रिक घटकों के कारण हुई है — एक ओर न्यूक्लिइक अम्लों के घटक न्यूक्लिओटाइड हैं तो दूसरी ओर प्रोटीनों के घटक एमिनो अम्ल होते हैं। ये भाषा के वर्णाक्षरों जैसे हैं जिनके माध्यम से प्रोटीनों की संरचना तथा उनकी सहचरी क्रियाविधि दर्शायी जाती है। इन्हीं वर्णाक्षरो द्वारा जीवमंडल में उपस्थित सभी पदार्थों की संरचना तथा जीवमंडल की सभी विभिन्न चीजों को प्रदर्शित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कोशिकाओं की हर नयी पीढ़ी में डी.एन.ए. के न्यूक्लिओटाइडों के क्रम में अंतर्निहित मूलपाठ की यथार्थ प्रतिकृति को जाने से ही प्रजनन अभिन्नता बनी रहने की गारंटी प्राप्त होती है।

तथापि यह प्रजनन एकदम परिशुद्ध नहीं होता क्योंकि इसे क्वांटम यांत्रिकी के नियमों के अनुसार चलना पड़ता है। इन नियमों के अनुसार कोई भी सूक्ष्म पदार्थ क्वांटम-क्षेत्र के नियमों के प्रभाव से मुक्त नहीं है। परम शून्य अवस्था ही इसका अपवाद है, परंतु यह अवस्था प्राप्त नहीं की जा सकती। अत: कोई भी सूक्ष्म पिंड उत्पन्न होने वाले क्षोभ से अछूता नहीं रह सकता तथा धीरे-धीरे यह क्षोभ एकत्रित होकर उसकी रचना में मंद गति से परंतु अनिवार्य रूप से परिवर्तन उत्पन्न करेगा। अत: अपनी परिपूर्ण प्रजनन व्यवस्था के बावजूद आनुवंशिक जानकारी का निर्दोष संप्रेषण करने की गारंटी देने वाला जीव भी इस नियम के लिए अपवाद नहीं माना जाता। इस प्रकार उत्पन्न होने वाले क्वांटम-क्षोभ के फलस्वरूप डी.एन.ए. के कुछ

विशिष्ट क्रम में कुछ विविक्त परिवर्तन होते हैं। पुनरावृत्ति में उत्पन्न होने वाले दोषों को उत्परिवर्तन कहते हैं। प्राकृतिक अथवा मानव निर्मित विकिरणों के प्रभाव से भी इस प्रकार के क्षोभ उत्पन्न होते हैं। प्रजनन की निर्दोष क्रियाविधि के कारण वे अगली पीढ़ियों में भी पहुंच जाते हैं। इसका परिणाम क्या होता है इसे हम देख चुके हैं। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण परिणाम उत्परिवर्तन के कारण प्रजनन अभिन्नता पर होने वाला प्रभाव है। यही जैव क्रम विकास की प्रेरणा है जो परिवेश के परिवर्तन के कारण वरण की प्रक्रिया को प्रभावित करता है। अधिकांश याहच्छिक उत्परिवर्तनों का प्रभाव जीवों के लिए हानिकारक ही होता है, परंतु बहुत ही कम अवसरों पर इनकी वजह से ऐसे जीव उत्पन्न होते हैं जो परिवर्तनशील परिवेश में अपने पितरों की अपेक्षा अधिक अनुयोज्य होते हैं। इन्हीं दुर्लभ परंतु लाभदायी उत्परिवर्तनों को ही गुणसूत्रों के समूहों में उत्पन्न होने वाला छिटपुट क्षोभ कहा जाता है। ये उत्परिवर्तन प्राकृतिक वरण के बाद भी बने रहते हैं। इन्हीं की वजह से अचर पदार्थों से उत्पन्न जीव अपने लाखों रूपों में विकसित हुए हैं। प्रारंभ में जो एक जीव से निम्न श्रेणी का स्वत: उत्प्रेरक प्रोटीन का महाअणु था वह मनुष्य में परिवर्तित हो गया। मोनोड के अनुसार – "विकास जीवों का गुण नहीं है क्योंकि उसका मूल उन परंपरागत क्रियाओं (जनन) की अपूर्णता में है। यही जीवों का सबसे बड़ा विशेषाधिकार है। इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि इस अनायास क्षोभ अथवा 'शोर' के कारण जड़ अथवा अचेतन (अर्थात स्वत: को उत्पन्न न करने वाली) व्यवस्था-ढांचा शनै: शनै: टूटने लगता है, परंतु जीवमंडल में यह विकास का जनक है तथा उसकी अनिर्बंध उत्पादन क्षमता के लिए उत्तरदायी है। यह डी.एन.ए. की प्रतिवलित संरचना के कारण होता है। डी.एन.ए. में हर आकस्मिक घटना का दखल हो जाता है। वह एक ऐसी संगीतशाला है जहां सुर सुने नहीं जा सकते तथा संगीत के साथ शोर भी सुरक्षित रखा जाता है।" परंतु मोनोड के इस कथन से लोग गुमराह हो सकते हैं क्योंकि उसने उस भेदकारी कार्यविधि का उल्लेख नहीं किया है जो सभी प्रकार के अवांछित शोर को समाप्त कर देती है तथा उसका एक छोटा हिस्सा सुरक्षित रखा जाता है जो विकास के संगीत से मिलता है (सुरों की दृष्टि से)। अत: यदि डी.एन.ए. जो सभी याहच्छिक उत्परिवर्तनों का संग्रह है तथा जो सुरों की दृष्टि से बहरा है तो प्राकृतिक वरण जो इस संगीत का संचालन करता है, बहरा नहीं है। प्राकृतिक वरण ही यह निर्धारित करता है कि कौन सा उत्परिवर्तन अथवा शोर सुरक्षित रखना है तथा किसे नष्ट करना है। यह निर्णय करते समय इस बात का भी विचार किया जाता है कि कौन सा उत्परिवर्तन उस जीव के आसपास के परिवेश के लिए आवश्यक होगा।

इस प्रकार, विकास का आधुनिक सिद्धांत लैमार्क के अहंकारपूर्ण सिद्धांत के विपरीत है जिसमें विकास को जीवों का एक जन्मजात या प्राकृतिक गुण होने की बात कही गयी है। जीव परिवेशी परिवर्तनों से प्रभावित होते हैं तथा नयी स्थिति के लिए अनुकूल बनकर ये नयी आवश्यकताओं को प्रकट करते हैं। इस प्रकार उत्पन्न हुए परिवर्तन वंशागत होते हैं तथा ऐसे वंशागत अभिलक्षणों को संप्रेषित करने से ही विकास होता है। परंतु ये परिवर्तन दो किस्मों के होते हैं; आंखों का रंग, त्वचा का रंग, रक्त का वर्ग जैसे शारीरिक अभिलक्षणों का एक वर्ग

होता है, तथा बोलना, सीधे चलने की आदत जैसे आचरणमूलक गुणों का दूसरा वर्ग है। जानवरों के शारीरिक अभिलक्षण वंशागत होते हैं, परंतु जन्मोत्तर अर्जित अभिलक्षण संप्रेषित नहीं किये जाते। उनकी आचरण पद्धति पूर्णतः आनुवंशिक है अथवा उस पर नवजात अवस्था के परिवेश का कितना प्रभाव होता है, यह प्रश्न अभी भी हल नहीं हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि मधुमक्खी तथा पक्षियों जैसे विकास की सीढ़ी के निचले पायदानों के प्राणियों का आचरण उनके जन्म के साथ ही निर्धारित किया जाता है। मधुमक्खियों का प्रणय नृत्य तथा पक्षियों की आकाश में उड़ते हुए अपना मार्ग खोज लेने की क्षमता इसी में शामिल है। परंतु उच्चतर प्राणियों का आचरण किस प्रकार का होगा इसका निर्णय करते समय नवजात अनुभवों का बड़ा योगदान रहता है। आक्टोपस जैसे कुछ अकशेरुकी[1] जातियों के प्राणियों में भी ऐसा ही होता है। प्रारंभ में उनके तंत्रिकातंत्र का कार्य जन्मतः प्राप्त किये गये आनुवंशिक गुणों पर पूर्णतः अवलंबित रहता है, फिर भी इन्हें आसानी से प्रशिक्षित किया जा सकता है अथवा अनुकूल बनाया जा सकता है ताकि किसी व्यक्ति की प्रतिक्रिया केवल उसकी आनुवंशिक पैतृकता से ही उत्पन्न न हो। वह उसके अपने जीवन में प्राप्त किये हुए अनुभवों पर भी आधारित हो। ऐसे प्रमाण अब प्राप्त हो चुके हैं कि कीड़ों जैसे निम्न कोटि के जीवों में भी यह गुण होता है। परंतु अधिक विकसित रीढ़धारी प्राणियों में जन्म के बाद के अनुभवों का अधिक प्रभाव होता है तथा इसी से उनके मस्तिष्क का अंतिम रूप क्या होगा, यह तय किया जाता है, विशेष रूप से तंत्रिकाओं के जाल में जो परस्पर संबंधन किये जाते हैं अर्थात केंद्रीय तंत्रिकातंत्र के लिए इनका विशेष महत्व है।

मनुष्य का ही उदाहरण लीजिए। धरती पर विद्यमान सभी प्राणियों में मनुष्य ही ऐसा एकमात्र प्राणी है जिसे अपने मस्तिष्क द्वारा बोली तथा भाषा का उपहार मिला हुआ है। पेनफील्ड, रॉबर्ट्स तथा अन्य तंत्रिकाविज्ञानियों ने यह सिद्ध किया है कि मनुष्य के मस्तिष्क की [illegible], वानर तथा गोरिल्ला जैसे अन्य स्तनधारियों के मस्तिष्क जैसा ही होता है, परंतु उसके अंदर की व्यवस्था अधिक परिष्कृत होने की वजह से मनुष्य में बोलने की क्षमता उत्पन्न होती है। परंतु इस संभाव्य क्षमता को कार्यांवित करने हेतु परिवेश को भी अपना महत्वपूर्ण योगदान देना पड़ता है। मनुष्य की शरीर रचना में इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि नवजात शिशु द्वारा वाक् शक्ति या वाणी प्राप्त करने का जो प्रारंभिक काम किया जाता है उसका संबंध भ्रूणावस्था में होने वाले विकास से होता है। इसका संबंध न्यूरानों की वृद्धि से नहीं होता क्योंकि इनकी संख्या प्रारंभ में 10^{13} होती है तथा वयस्कों में भी वह इतनी ही होती है। परंतु यह विकास प्रांतस्था न्यूरानों में होने वाले परस्पर संबंधन के जाल में होने वाले पर्याप्त प्रवर्द्धन के कारण होता है। प्रथम दो वर्षों में इस प्रक्रिया की गति बहुत तेज रहती है, परंतु बाद में घट जाती है और यौवनारंभ के साथ यह पूर्णतः थम जाती है। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जिस समय प्रांतस्था परस्पर संबंधनों में वृद्धि होती है उसी समय शिशु बोली का प्राकृतिक उपहार प्राप्त करता है। यदि नवजात शिशु को किसी जंगल में पालपोस

1. अकशेरुकी प्राणी – invertebrates

कर बड़ा किया जाये तथा वह मानव की भाषा को सुन न सके तो वह अपनी संपूर्ण आयु में मूक तथा बधिर ही बना रहेगा। इस प्रकार जंगल में छोड़ दिये गये बच्चों के कई प्रमाणित किये हुए वृत्तांत ज्ञात हैं जिनमें इन बच्चों को किसी रीछ अथवा भेड़िये द्वारा अपनाये जाने का उल्लेख किया गया है। इन बच्चों को कई वर्षों के अंतराल के बाद खोजा गया था। उदाहरणार्थ, वनशिशु पीटर 1923 में हैनोवर के निकट पाया गया था। दूसरा विक्टर नामक बालक जिसे 'ऐवेयरान का नरपशु' कहते थे 1799 में दक्षिण फ्रांस में तथा 1920 में मिदनापुर (भारत) में अमला तथा कमला को खोजा गया था। सम्राट अकबर के शासन काल में भी नवजात शिशुओं के एक समूह को एकांतवास में रखकर उन्हें कोई भी भाषा सुनने से वंचित रखा गया। इस प्रयोग द्वारा बादशाह यह जानना चाहता था कि भाषा एक जन्मजात गुण है अथवा उसे अर्जित करना आवश्यक होता है। उनमें से कोई भी भाषा न बोल सका। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए कि भ्रूणावस्था अथवा जनन-विकास (अवस्था) प्रक्रिया के दौरान होने वाले आंतर न्यूरान संबंधन जो भाषिक क्षमता उत्पन्न करते हैं, विकसित होते हैं। यदि विकास के इस नाजुक समय में परिवेश में भाषा सीखने के लिए उपयुक्त अवसर नहीं प्राप्त हों तो वह एक मनुष्य सदृश मूक प्राणी बनकर रह जायेगा।

भाषा की वजह से ही मनुष्य अन्य सभी प्राणियों से भिन्न होता है। मनुष्य ही ऐसा एकमेव जीव है जो शब्दों के माध्यम से भाषा का उपयोग विभिन्न काम करने हेतु करता है तथा चीजों की अनुपस्थिति में उन्हें याद कर सकता है। इन्हीं के आधार पर भाषा का उपयोग अधिकाधिक परिष्कृत कामों के लिए किया जाता है तथा उच्च स्तर पर प्रतीकात्मक तथा अमूर्त विचार प्रकट करना संभव होता है। इसके बिना मनुष्य की अद्वितीय उपलब्धि का अस्तित्व ही नहीं होता। कार्ल पॉप्पर ने इसे वस्तुनिष्ठ ज्ञान की तीसरी दुनिया कहा है। यह दुनिया भौतिक पदार्थों तथा अवस्थाओं की दुनिया से तथा आत्मनिष्ठ ज्ञान और चेतन अवस्था की दुनिया से भी भिन्न है। यह स्पष्ट है कि जीन उस जानकारी के संग्रह हैं जिनसे मनुष्य को मस्तिष्क की अद्वितीय प्रतिभा प्राप्त हुई है। उसका विशिष्ट निष्पादन, भाषा तथा बोली का प्रत्यक्ष अभ्यास तभी हो सकता है जब वह ऐसे परिवेश में पल रहा हो जहां उसके परिवार या जाति के लोग उस भाषा का प्रयोग करते हैं। इसीलिए जन्म के बाद का मनुष्य का विकास उसके जीनों में वृद्धि होने के कारण नहीं हुआ है, परंतु उसे उत्पन्न करने वाले परिवेक्ष के गर्भाशय में हुआ है जो वस्तुनिष्ठ जानकारी की दुनिया है। मनुष्य की प्रमस्तिष्कीय झिल्ली की यथार्थ प्रांतस्या व्यवस्था उसे बोलने की क्षमता प्रदान करती है तथा इस प्रकार तैयार हो जाने के पश्चात उसे वस्तुनिष्ठ ज्ञान की दुनिया से परिचित होने का अवसर देती है। यह व्यवस्था समीचीन नवजात परिवेश पर निर्भर करती है। मनुष्य का मन निर्माण करने में आनुवंशिकी (जीन) तथा परिवेश (प्रकृति) का आनुपातिक योगदान कितना होता है यह प्रश्न आज भी अनुत्तरित है। अरस्तू के समय से ही यह विवाद चल रहा है। अरस्तू के अनुसार मानव मस्तिष्क एक चिकनी लेखन पट्टी है जिस पर अनुभव अंकित होते हैं, जिस प्रकार मोम पर चित्रों का निरूपण किया जाता है अथवा रेत पर कोई चीज लिखी जाती है। लॉक, पोलीनियस और बर्कले जैसे बाद के दार्शनिकों का

विश्वास था कि दुनिया की कल्पना करने के लिए उसे प्रथमतः आंखों (मस्तिष्क) से अनुभव करना चाहिए। प्रकृति को वे महत्वपूर्ण मानते थे। हम लोगों की अभी तक की जानकारी से ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग पर्याप्त रूप से सही थे क्योंकि मनुष्य में आनुवंशिक रूप से बोलने की क्षमता है, परंतु उसमें बोलने की प्राकृतिक प्रवृत्ति नहीं है। बोलने की उसकी जन्मजात क्षमता उचित भाषायी परिवेश के बिना हमेशा के लिए सुप्त रह जाती है।

मनुष्य को विकास के साथ संभाषण करने की क्षमता उपहार स्वरूप प्राप्त हुई है। परंतु जब तक विशेष परिवेश प्राप्त नहीं होता यह क्षमता अपनी सुप्तावस्था से जागकर कार्यरत नहीं होती। यह एक आनुवंशिक क्रमभंग है जो जीवों की उत्पत्ति के समान ही एक युगारंभ ही है। जीवोत्पत्ति तथा मानव के उदय को डोबज़ान्स्की ने सतत रूप से होने वाले जैविक क्रम विकास की परम उत्कृष्ट घटनाएं कहा है। आगे चलकर उसने कहा है कि मनुष्य का मन अणु तथा परमाणुओं के अविकसित मस्तिष्क से उत्पन्न नहीं हुआ है। अपनी प्रारंभिक गुप्त अवस्था से चीजों को अनावृत्त करने की क्रिया को विकास नहीं कहा जाता। वह नवीनता तथा प्राचीन समय की जो चीजें कभी अस्तित्व में ही नहीं थीं उन्हें प्राप्त करने का एक स्रोत है।

प्रथम जीव की उत्पत्ति की क्रिया उसके घटकों में होने वाली सामान्य रासायनिक या भौतिक क्रियाओं से बेहतर थी तथा जीवों में पायी जाने वाली जटिलता किसी भी संश्लेषित अकार्बनिक महाअणु की जटिलता से उच्च कोटि की थी। इनमें इस महाअणु की अपेक्षा बेहतर क्रमितता तथा व्यवस्था दिखाई देती थी अथवा मानव के रूप में जो नया जीव उत्पन्न हुआ है वह अपनी उन्नति प्राप्त की गयी विरासत द्वारा करता है, जो वस्तुनिष्ठ ज्ञान की दुनिया कहलाती है। मानव मस्तिष्क द्वारा प्रमस्तिष्कीय सामर्थ्य उत्पन्न होने के कारण तथा इस अतिरिक्त क्षमता का उपयोग स्वतः की सुरक्षा तथा प्रजनन अभिन्नता को बनाये रखने के लिए नहीं किया जाता। इसलिए मनुष्य ऐसा कर सकता है। गोरिल्ला की प्रमस्तिष्कीय क्षमता 10^{14} बिट होती है तो मानव की 10^{15} बिट। ऐसा मान लीजिए की आत्मरक्षा तथा प्रजनन अभिन्नता तथा गोरिल्ला अथवा मानव जैसे जीव उत्पन्न करने हेतु जो जानकारी आवश्यक है वह 10^{14} बिट है तो गोरिल्ला की अपेक्षा मानव के पास $(10^{15}-10^{14}) = 9x10^{14}$ बिट की अतिरिक्त क्षमता शेष रहेगी। इस सामर्थ्य का उपयोग मानव भाषा, विज्ञान, तकनीकी तथा अन्य सांस्कृतिक गतिविधियों के अभ्यास के लिए कर सकता है। अतः उसकी प्रमस्तिष्कीय सामर्थ्य का केवल 10% भाग ही अपना अस्तित्व बनाये रखने में खर्च होता है तथा शेष 90% की सहायता से वह आज का *होमो सैपियन* अथवा प्रज्ञावान मनुष्य बना हुआ है।

तरग प्रिंटर्स, लक्ष्मी नगर, दिल्ली द्वारा मुद्रित